CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ASHOKA

4864

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

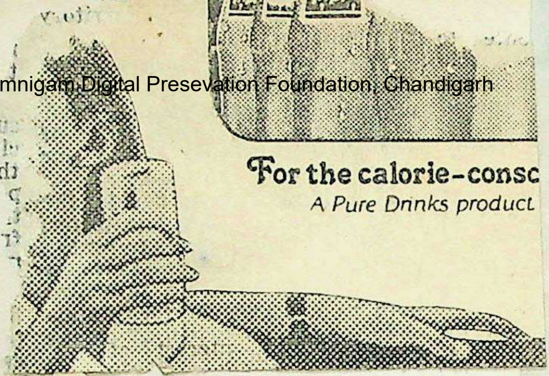

4864

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

4864

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अशोक

लेखक

प्रो० भगवतीप्रसाद पांथरी

काशी विद्यापीठ, वाराणसी

प्रतीक प्रकाशन

नई दिल्ली

@ प्रो० भगवती प्रसाद पांथरी
CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्त्तमान संस्करण : १६७६

4864

मूल्य : दस रुपये

State Museum Library * Lucknow *

मुद्रक :
ज्योति प्रेस, वारारणी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समर्पण

अपने मा-बाप

को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

4864

State Museum Library Lucknow
4864

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देवानां प्रिय—प्रियदर्शी

अशोक

महान् मौर्य सम्राट् अशोक के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में प्राचीन लेखकों से लेकर अर्वाचीन लेखकों तक में बहुत मत-भ्रान्ति देखने को मिलती है। अशोक प्रारम्भ में ब्राह्मण-धर्मी था, लेकिन कलिंग-युद्ध में हुए भीषण रक्त-पात और हिंसा का अशोक के हृदय पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने कलिंग-विजय के बाद हिंसात्मक युद्धों को तिलांजलि दे दी। फलतः 'भेरीघोष' 'धर्मघोष' में बदल दिया गया और दिग्विजय की जगह 'धर्मविजय' अशोक के जीवन का एकमात्र ध्येय और लक्ष्य बन गया। इस प्रकार कलिंग-युद्ध के बाद से अशोक के जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ और भगवान् गौतम के अहिंसा मार्ग को अपनाकर वह बौद्ध-धर्म के प्रचार व प्रसार में जुट गया।

बौद्धों ने अशोक के इस धर्म-परिवर्तन का अनुचित लाभ उठाया और ब्राह्मण और बौद्ध-धर्म का अन्तर प्रकट करने के लिए अशोक के व्यक्तित्व को दो भागों में बाँटकर उपस्थित किया। फलतः बौद्ध गाथाओं में ब्राह्मण-धर्मी अशोक को एक नरक-स्रष्टा और क्रूरकर्मा व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है और बौद्ध-धर्म में प्रविष्ट होने के बाद उसे धर्माशोक नाम से एक महान् धर्म-नृपति दर्शाया गया है, लेकिन अशोक के अभिलेखों से प्रकट है कि बौद्धों ने उस पर ९९ भाइयों के मारने का जो कलंक लगाया है, वह अप्रामाणिक व कल्पनाप्रसूत है और उसका कारण स्पष्टतया बौद्ध-धर्म ग्रहण करने से पूर्व के अशोक को "काला" सिद्ध करना था, क्योंकि बौद्धों को दृष्टि में ब्राह्मण-धर्मी अच्छे हो कैसे सकते थे?

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आज अशोक को हुए लगभग २,२०० वर्ष हो चुके। आज का राजनैतिक वातावरण हिंसा और असत्य की प्रवल प्रवृत्तियों और कूटनीति की षड्यन्त्रपूर्ण चालों से आक्रान्त है। अंतः हिंसा के अस्वाभाविक वातावरण में साँस लेनेवाले आज के कतिपय लेखक उन बौद्धों की तरह जो ब्राह्मणों के अच्छा होने की कल्पना नहीं कर सकते थे, यह विश्वास नहीं कर पाते कि अशोक ने कलिंग-युद्ध के पश्चात् सचमुच भेरीघोष को धर्मघोष और दिग्विजय को धर्म-विजय में बदल दिया था और तदनुसार सर्वकल्याण के लिए पराक्रम करना ही उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य बन गया था।

अतः अशोक के धार्मिक रूप पर आस्था न रखनेवाले लेखक उसकी धर्म-लिपियों के अन्तराल में एक निरंकुश शासक की दमनपूर्ण शक्ति की धारा को प्रवहमान पाते हैं और उसके धर्म-संश्लिष्ट उपाधियों में एक दिग्विजेता की विश्वविजयिनी आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित देखते हैं।

Through all his edicts there runs an undercurrent of force and power of a ruler; there is a strong desire to rule firmly and ably. Behind Asoka's edicts there is a tinge of threat and a shade of dictatorial attitude. Asoka's pompous titles reflect a ruler's desire of glorification, territorial conquessts and self-aggrandizement, though superficially they look religious. The title "Devanam Priya" was meant to uphold the royal position as something extra-political, something divine............

Devanam Priya is an ingenius innovation of Asoka to suggest effectively his greatness and to demand respect from the subject people.........Devanam Priya is a proof of Asoka's statesmanship and shrewd diplomacy. [Dr. L. B. Keny, Indian History Congress Proceedings, 1959. Gauhati].

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आज का विश्व राजनीति और कूटनीति का विश्व है—आज विश्व के नेता कहते कुछ हैं—करते कुछ हैं, दूसरे शब्दों में आज कहने और करने में बहुत अन्तर रहा करता है। अतः इस वातावरण से घिरे होने से हमें प्राचीनों के प्रति भी यह सन्देह हो उठता है कि उनके कहने और करने में भी अवश्य अन्तर रहा होगा। यही कारण है कि अशोक की धर्मलिपियों के अन्तराल में डा० केनी को एक निरंकुश शासक की निरंकुशता और शक्ति की पिपासा छिपी हुई दृष्टिगत हुई है और धर्मलिपियों की सतह पर लहराती अशोक के सर्वकल्याण की साधु-भावना उन्हें प्रपंचमात्र प्रतीत होती है। प्राचीन अथवा अर्वाचीन के प्रति मूल्यांकन का यह प्रकार वस्तुतः "जातीय" अथवा "वैयक्तिक" (Subjective) है, जिसमें दूसरे के भावों को निस्पृह रूप से समझने के बजाय व्यक्ति अपने मनोभावों को ही दूसरे पर लाद देता है। वर्तमान उदाहरणों से भी हम अपने उक्त कथन की पुष्टि कर सकते हैं। निर्विवाद रूप से संसार महात्मा गांधी को अहिंसा का महान् पुजारी मानता है—लेकिन श्री पामदत्त ने अपनी पुस्तक इंडिया टूडे में उनकी अहिंसा को एक ढकोसलामात्र घोषित किया था। हमारे प्रधान मन्त्री नेहरू को सारा संसार शान्ति-प्रेमी और प्रजातन्त्र का महान् सेवक मानता है, लेकिन आक्रान्त चीन और अतिक्रमणकारी पाकिस्तान नेहरू को एक साम्राज्यवादी व्यक्ति कहा करते हैं और उनके पंचशील के सिद्धान्तों को भारत की विस्तारवादी नीति का आवरण समझते हैं, लेकिन प्रत्यक्षतः इन आरोपों के वास्तविक हकदार स्वयं चीन और पाकिस्तान हैं, जिनमें से पहले ने हमारे हिमालय के सीमांतिक १२ हजार वर्गमील भू-भाग पर और दूसरे ने कश्मीर के भू-भाग पर जबरन कब्जा कर रखा है। अतः इस स्थिति में यदि प्रधान मन्त्री या प्रतिरक्षा मन्त्री श्री मेनन अतिक्रमणकारियों को बलपूर्वक हटाने की घोषणा करते हैं, तो क्या इससे यह समझा जाय कि भारत की नीति शान्ति के बजाय विग्रह की है? कदापि नहीं! हमारी नीति "शान्ति" की है, लेकिन इसके अर्थ यह नहीं कि हम अतिक्रमण-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कारियों को अथवा शान्ति-विद्रोही आततायियों को अपनी सीमाएँ लाँघने देंगे और बलपूर्वक उन्हें रोकेंगे नहीं। पाकिस्तान ने जब कबीलेवालों को मिलाकर कश्मीर पर धावा बोला था तो उनका प्रतिरोध करने के लिए भारत ने जो सेना भेजी उसे महात्मा गांधी का आशीर्वाद प्राप्त था।

इसी प्रकार यदि अशोक ने अपने १३वें प्रज्ञापन में विद्रोही अटवियों को सम्बोधित करते हुए धर्ममार्ग ग्रहण न करने पर अपनी महान् शक्ति का परिचय दिया है, तो इसलिए कि वे अपने दुष्ट कर्मों से विलग हों जिससे कि वे मारे या बिनष्ट न कर दिये जायँ। हमें स्मरण रखना चाहिए कि अशोक एक महान् भारतीय-राष्ट्र का अधिपति था—और देश में शांति व व्यवस्था स्थापित रखने के लिए उसे जब-तब बल की आवश्यकता पड़ सकती थी, किन्तु १३वें प्रज्ञापन में अटवियों को दी गई धमकी के अलावा उसकी धर्म-लिपियों में और कहा बल-प्रयोग करने का उल्लेख नहीं है।

यदि अशोक एक महत्वाकांक्षी और विस्तारवादी सम्राट् होता, तो उसके जैसे प्रभूत शक्तिवाले को दक्षिण में स्वतन्त्र अस्तित्वधारी चेरा, चोल, पांड्य, सत्यपुत्र व केरलपुत्र आदि राज्यों और उत्तर में हिन्दूकुश से पार सीरिया आदि के यूनानी राज्यों को हड़पने से कोई नहीं रोक सकता था, किन्तु उसकी नीति तो वास्तव में—जहाँ तक हो सके—अपकार करने वाले को भी क्षमा करना था (अपकरोति क्षन्तव्य—१३वाँ प्र०) और सर्वप्राणियों की कल्याण-कामना ही उसकी अभिलाषा थी (हन्येरन्निच्छति हि देवानां प्रिय सर्वभूतानामक्षतिं संयमं समचर्या मोदवृत्तिम–१३वाँ प्र०)। इस सर्वकल्याण-भावना से प्रेरित होकर ही अशोक ने अपने युग के उत्तर व दक्षिण के अविजित सीमान्त-राज्यों को यह आश्वासन दिया था कि 'अन्तों (सीमान्त के राज्यों) के प्रति मेरी केवल यह इच्छा है कि वे मुझसे भय न खायँ, किन्तु मुझमें विश्वास रक्खें कि वे मेरे द्वारा दुःख के बजाय सुख ही पायेंगे' (गौ० शि० द्वि० जौगुडा)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निःसन्देह अशोक ने जैसा कहा था वैसा ही आचरण भी किया और अपने विजित राज्य के बाहरी राज्यों के साथ सदा मित्रता का व्यवहार कायम रखा और उनके यहाँ समाज सेवार्थ अपनी तरह से मनुष्यों व पशुओं के लिए चिकित्सालय स्थापित कराये एवं अन्य प्रकार के सार्वजनिक हित के कार्यों को कराने की व्यवस्था की (शिलालेख द्वि०) । इन कार्यों द्वारा उसने निःसन्देह उन देशों के हृदयों पर विजय अवश्य प्राप्त की, लेकिन यह विजय शस्त्र की नहीं धर्म की विजय थी (१३वाँ शिलालेख) ।

अतः प्रकट है कि "देवानांप्रिय" की उपाधि से अशोक के प्रति जनता को दबाने और अपने को ऊँचा उठाने की राजनैतिक चाल व सूझ-बूझ का अनुमान करना उसकी आन्तरिक व वैदेशिक नीति के सन्दर्भ में अनर्गल और असङ्गत है । साथ ही अशोक के आठवें शिलालेख से यह भी विदित है कि देवानांप्रिय उपाधि उसकी निजी सूझ नहीं थी क्योंकि उसके पूर्वज भी देवानांप्रिय नाम से प्रख्यात रहे और उसके समकालीन लंका के राजा का नाम भी देवानांप्रिय तिस्स था ।

अशोक के वास्तविक नाम पर भी कुछ विद्वानों ने मत-भेद प्रकट किया है । सोवियत भारतीय-विद्या के पण्डित श्री जी० एम० बोनगार्ड-लेविन (Sh. G. M. Bongard-Levin) ने तक्षशिला में प्राप्त अरमाइक (खरोष्ठी) लिपि में अंकित अभिलेख में उल्लेखित 'प्रिद्र' (Prydr) को प्रियदर्शी का रूप बतलाते हुए मत व्यक्त किया है कि उक्त लेख 'प्रिद्र' अथवा प्रियदर्शी अशोक का है और सम्भवतया उसका वास्तविक नाम प्रियदर्शी ही था (Ind. Hist. Cong. Proceedings, 1957. p. 50-77). श्री वि० स्मिथ और श्री वरूआ के मत में प्रियदर्शी की उपाधि अशोक को बौद्ध संघ ने प्रदान की थी (Asoka and his Inscriptions, pt. II, p. 17) ।

अरमाइक लिपि वाला तक्षशिला लेख किसी प्रिद्र अथवा प्रियदर्शी का है, लेकिन निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि प्रिद्र से अभिप्राय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अशोक से ही है। मुद्राराक्षस अंक ६ में अशोक के दादा चन्द्रगुप्त को भी प्रियदर्शन अथवा प्रियदर्शी कहा गया है। हो सकता है उक्त लेख चन्द्रगुप्त मौर्य का रहा हो, लेकिन श्री सरकार के शब्दों में उक्त लेख में—

"If reference is to be found to the Buddhistic 'ayrio aiiharigiko maggo', the possibility of the record being one of Asoka is greater" (Select inscriptions. p. 81. fu. 7.)

फाह्यान से हमें मालूम होता है कि गान्धार प्रदेश का शासक, जिसकी राजधानी तक्षशिला थी, अशोक का लड़का फा-इ अथवा धर्मवर्द्धन था।

(Travel of Fa-Hsion; by H. A. Giles; P. 12 and Si-yu-ki, vol I., p. XXI).

अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि तक्षशिला का 'प्रिद्र' वाला अभिलेख धर्मवर्द्धन फा-इ का रहा हो। अशोक के पौत्र दशरथ के नागार्जुन गुहा-लेख में उसके लिए देवानांप्रिय उपाधि प्रयुक्त हुई है, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि धर्मवर्द्धन फा-इ की भी शायद एक उपाधि पिता और पितामह की भाँति प्रियदर्शी रही होगी और इसलिए तक्षशिला का आरमइक अभिलेख शायद उससे सम्बन्ध रखता है, लेकिन निश्चित रूप से 'प्रिद्र' को समीकृत करना कठिन है।

इस विवादास्पद स्थिति में श्री राय चौधरी का कहना बहुत सही है कि 'It is not always safe to describe all epigraphs that make mention of Priyadarsan, irrespective of their contents, to Asoka the Great" (PHAI, p. 271)

अशोक प्रियदर्शी को अशोक का वास्तविक नाम समझना और अशोक नाम उसका कलिंग युद्ध के बाद धारण किया कल्पित करना भी संगत नहीं प्रतीत होता, (Indian History Cong. 1957, p. 54) यह सही है कि अशोक के अभिलेखों में सिवाय मास्की अभिलेखों के उसका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाम कहीं नहीं आया है और अभिलेखों में उसे देवानं पियेना पियदसिना या देवानंपिया या देवानां पियसा पियदसिसा लाजिने या देवानंपिये पियदसि लाजा या पियदसि लाजा या देवानं पियषा या देवानं पियस अथवा देवानांपिये आदि नामों से सम्वोधित किया गया है। इसमें यह ध्यान रखने की वात है कि यद्यपि 'देवानं पिय' अथवा 'देवानां प्रिय' विशेषण अकेले सम्वोधन में आया है लेकिन 'पियदसि' अथवा 'प्रियदर्शी' विशेषण लाजा अथवा राजा सहित प्रयुक्त हुआ है। इससे स्पष्ट है कि प्रियदर्शी सम्वोधन को राजा के विशेषण के रूप में ही लिया जाना चाहिए, संज्ञा के रूप में नहीं। हम पहले कह चुके हैं कि अशोक के पूर्व के राजा भी देवानांप्रिय तथा प्रियदर्शी विशेषण प्रयुक्त करते रहे—इसलिए प्रकट है कि देवानांप्रिय अथवा प्रियदर्शी अशोक की उपाधियाँ थीं, नाम नहीं। मास्की अभिलेख से भी इसकी पुष्टि हो जाती है, क्योंकि उसमें उसका नामोल्लेख 'देवानां पियस असोकस' रूप से हुआ है। सम्भवतया अपने युग में वह देवानांप्रिय अथवा देवानांप्रिय प्रियदर्शी के रूप में इतना सर्वप्रिय हो चला था कि साधारणतया उसे अभिलेखों में अपने वास्तविक नाम अशोक के उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई।

मास्की के अतिरिक्त अन्य अभिलेखों में उसके वास्तविक नाम के प्रयुक्त न होने का यही कारण प्रतीत होता है। पुराणों में भी उसका नाम अशोक या अशोकवर्द्धन मिलता है (Dynasties of the Kali Age, p. 28)। दूसरी शती मध्य के महाक्षत्रप रुद्रदामन के जूनागढ़ लेख में उसे 'अशोक मौर्य' (अशोकस्य मौर्यस्य—Ep. Ind., Vol. VIII p. 42. ff) और मध्ययुगीन महारानी कुमार देवी के सारनाथ लेख में उसे 'धर्माशोक' कहा गया है। दीपवंश के अनुसार अशोक ने अभिषिक्त होने पर प्रियदर्शी उपाधि धारण की थी (Dipavanisa, VI. 24.)। अतः अशोक का वास्तविक नाम अशोक या अशोकवर्द्धन ही था, यद्यपि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रतीत होता है कि कलिंग-युद्ध के पश्चात् धार्मिक रूप से प्रसिद्धि प्राप्त करने पर वह अपने निजी नाम की अपेक्षा लोकप्रिय उपाधि—नामों—देवानंप्रिय व प्रियदर्शी से अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर गया था।

काशी विद्यापीठ
वाराणसी–२ — भगवतीप्रसाद पांथरी
२५ जुलाई, १९६१

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सूची

१. अशोक का प्रारम्भिक जीवन और परिवार ... १

२. साम्राज्य की सीमाएँ और विस्तार ३२

३. अशोक की शासन-व्यवस्था ६३

४. सम्राट् का धर्म-परिवर्तन और बौद्ध होना ... १०२

५. बौद्ध-अशोक १३५

६. बौद्ध-धर्म के प्रचारक अशोक १७२

७. सम्राट् अशोक-कालीन भारत की सामाजिक और धार्मिक स्थिति २१८

८. अशोक-कालीन कला और वास्तु-निर्माण कौशल तथा कृतियाँ २४२

९. अशोक का इतिहास में स्थान २६३

१०. सम्राट् अशोक २८८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रथम प्रकरण

अशोक का प्रारम्भिक जीवन और परिवार

परिवर्तनशील संसार न जाने अब तक कितनी करवटें बदल चुका है। भारतीय इतिहास के पन्ने इन्हीं परिवर्तनों की गाथाओं से भरे हैं। वस्तुतः हमारा इतिहास असंख्य उलट-फेरों का एक विचित्र आख्यान है। किन्तु फिर भी इस इतिहास की निजी महत्ता है। वह हमारी बीती स्मृतियों का भंडार है।

इस इतिहास के द्वार से ही प्रवेश कर हम अपने अतीत से मौन संलाप कर सकते हैं। आज यह वही इतिहास है जो चन्द्रगुप्त और सिकन्दर, बिन्दुसार और अशोक से हमारा सान्निध्य कराने का साधन बना है। दो हजार वर्ष से भी बूढ़ा अशोक आज इतिहास ही के कारण हमें "तरुण" प्रतीत होता है और कठोर पाषाणों पर घनीभूत उनके हृदय के उद्गार आज भी नवीनतम हैं, आज भी उन विमल शब्दों की रागिनी युगों के अंतराल को भेदती हुई हमें स्पष्ट सुनाई पड़ती है और आज भी वे भिक्षुसम्राट् अशोक, हमें अपनी धर्मलिपियों को बाँचते हुए समीप ही अनुभूत होते हैं।

अशोक का वंश—जिस प्रगल्भ मौर्य्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने, नन्दवंशीय राजाओं से चिढ़कर, चाणक्य की सहायता से, उन्हें समूल उखाड़ फेंका था; जिसने आततायी यवनों पर अपनी वीरता का सिक्का जमाया—उन्हीं सिल्यूकस नैकेटर के विजेता और दामाद—यूनानी लेखकों के सैण्ड्राकोट्स

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

(Sandrokottos) और एण्ड्राकोट्स (Androkottos) का ही पोता धर्म-विजयी (१३वाँ शिलालेख) अशोक हुआ।[१]

अशोक के पिता का नाम बिन्दुसार था, जिसे स्ट्रैबो (Strabo) अलीट्रोकेड्स के नाम से सम्बोधित करता है[२], दूसरा ग्रीक लेखक बिन्दुसार के लिए अमित्रोकेट्स (Amitrochates) लिखता है। अमित्रोकेट्स का संस्कृत रूप "अमित्रहता" अर्थात् शत्रुओं का संहारक है। यूनानी लेखक हिगसैण्ड्र ने लिखा है—सूखे अंजीर सबको इतने भले लगते थे कि भारतीय सम्राट् अमित्रोकेट्स ने, अण्टीओकस को लिखा कि "मीठी मदिरा, सूखे अंजीर और एक तार्किक (Sophist) खरीदकर भेज देवें।" इस पर अण्टीओकस ने लिख भेजा कि "मीठी मदिरा और सूखे अंजीर भेजने में हमें हर्ष है, किन्तु यूनान में तार्किकों को बेचना न्यायसंगत नहीं माना जाता।"[३] इसी सम्राट् बिन्दुसार के बाद ही अशोक सिंहासनारूढ़ हुआ।

---

[१]सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् यूनानी शासकों का निधन कर, सैण्ड्राकोट्स ने भारत को स्वतन्त्रता प्रदान की। किन्तु विजय करने के अनन्तर उसने स्वतन्त्रता को पुनः गुलामी की जंजीरों से जकड़ दिया। क्योंकि वह, उन्हीं लोगों के साथ, जिन्हें उस (सैण्डाकोट्स) ने स्वतन्त्र किया था, क्रूरता तथा दासत्व का व्यवहार करने लगा।......सैण्ड्राकोट्स भारत पर उस समय शासन करता था जब सिल्यूकस अपने भावी उत्कर्ष के निर्माण में संलग्न था। सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त (सैण्ड्राकोट्स) के साथ सन्धि कर ली......(३०२ ई० पू०) जस्टिनस् Ancient India by Megasthenese and Arian, Mc Crindle, Page 7.

[२]Ancient India & Invasion by Alexander, p. 383, Mc Crindle.

[३]Ancient India and Invasion of Alexander, page 409, Mc Crindle.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इतिहास की उलझन—समय की प्राचीनता एवं दूरता से पंकिल हुए, अनेक ऐतिहासिक महान् व्यक्ति अपने चारों ओर आख्यानों की एक ऐसी ऊँची मीनार खड़ी कर देते हैं, जिसे लाँघ कर उन तक पहुँचने में बड़ी कठिनता का सामना करना पड़ता है। कभी-कभी इन ऐतिहासिक महान् पुरुषों ने मानव-जाति को भ्रमित करनेवाली अपनी उस शक्ति से परिचित होकर, संसार की श्रद्धालुता से अपनी गाथाओं को रचाने के प्रति की हुई मन्त्रणा सी प्रतीत होती है। हम कह सकते हैं कि "कल्हण" के साथ सम्राट् ने भी ऐसी ही मन्त्रणा की। कल्हण लिखता है कि इन्द्रियजीत, यशस्वी सम्राट् अशोक शकुनी का पौत्र था।[१] इसी तरह भ्रमित करनेवाली एवं इतिहास को उलझानेवाली कई गाथाएँ अशोक के बारे में हमें महावंश, दिव्यावदान, दीपवंश, अशोकावदान आदि में मिलती हैं। यद्यपि ये गाथाएँ इतिहास को बहुधा उलझन में डालती हैं, किन्तु कहीं-कहीं पर सहयोग भी अवश्य प्रदान करती हैं। महावंश आदि लोक-गाथाओं का कारण बौद्ध-लेखकों की श्रद्धालुता ही प्रतीत होती है।

अशोक का सिंहासनारोहण—अशोक के चारों ओर लोक-कथाओं एवं गाथाओं की जो कँटीली झाड़ियाँ उग चली हैं, वे किसी को उलझाये बिना नहीं रहतीं। लोक-गाथाओं और कल्पित आख्यानों की ये झाड़ियाँ विशेषतः सिलोन (ताम्रपर्णी) की गरम जलवायु में खूब उगी और पनपी हैं, किन्तु इतिहासज्ञों का सौभाग्य है कि अशोक ने शिलाभिलेखों और स्तंभ-लेखों की स्थापना कर अपने तक पहुँचने का सीधा और सरल मार्ग अङ्कित कर दिया है। अतः किम्वदन्तियों की उलझन अत्यधिक व्यग्रता का कारण नहीं रह गई है। पाषाणों पर लोह-कलम से अभिलिखित अशोक के लेख, जॉब (Job) के शब्दों[२] की पूर्ति करते हुए, इतिहासज्ञों के मार्ग-दर्शक के

---

[१] राजतरङ्गिणी, प्रथम भाग—१०१-१०२।

[२] "My words were written ! That they were graven with iron pen and lead in the rock for ever !"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रूप में आज भी युगों की भयङ्करता का सामना करते हुए अटल होकर अवस्थित हैं।

बहुत-सी बौद्ध-गाथाएँ भी अशोक के विषय में प्रचलित हैं। ये कथाएँ यद्यपि उनके प्रारम्भिक जीवन आदि पर प्रकाश तो डालती हैं, किन्तु अधिकांश में उनकी विश्वस्तता सन्देहात्मक है। बौद्ध-गाथाएँ सम्राट् अशोक को बौद्ध-धर्म ग्रहण करने के अभ्यन्तर, कालाशोक और चाण्डाशोक के नाम से पुकारती हैं, किन्तु बौद्ध-धर्म ग्रहण करने पर ये गाथाएँ उन्हें (अशोक) धर्माशोक कहकर सम्मानित करती हैं; परन्तु यहाँ पर उनकी सत्यशीलता अपेक्षणीय है; मालूम होता है कि वे अधिकतर बौद्ध-धर्म की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए ही रची गयी थीं। उन्हें लोगों को यह जतलाना था कि बौद्ध-धर्म कालाशोक को धर्माशोक में परिवर्तित कर सकता है।

अशोक की निजी आज्ञाओं और अनुशासनों से प्रेषित हुए शिलाभिलेखों और धर्म-स्तम्भ-लेखों की सत्यता प्रश्नातीत है। अपितु जब हम अशोक की धम्म-लिपियों को पढ़ते हैं, तो प्रतीत होता है कि अशोक की वह पावन वाणी हमसे बातें कर रही है और हमें उनके हृदय के आभ्यन्तर कोण में उठते हुए भावों की अनुभूति सी होने लगती है। निःसन्देह अशोक तक पहुँचने का सीधा, सच्चा और सरल मार्ग उनके लेख ही हैं; यद्यपि कहीं-कहीं पर हम गाथाओं की सत्यशीलता की भी उपेक्षा नहीं कर सकते, किन्तु जब ये लोक-गाथाएँ ही परस्पर सहमत नहीं होतीं तो हमें भी उनके प्रति सन्देह हो आता है। लोक-गाथाओं की आपस की यह फूट उनकी असत्यता का परिचायक है।

अशोक के सिंहासनारोहण पर महावंश लिखता है—"ब्राह्मण चाणक्य ने धननन्द को मारकर चन्द्रगुप्त को सारे जम्बूद्वीप का राजा बनाया। यह चन्द्रगुप्त मौर्य्य-वंश का एक प्रतिभाशाली पुरुष था। इसने ३४ वर्ष तक राज्य किया। उसके पुत्र बिन्दुसार ने २८ वर्ष तक शासन किया। बिन्दुसार की सोलह रानियाँ थीं। इन सोलहों रानियों से उसके १०१ पुत्र हुए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इनमें से अशोक अपनी प्रतिभा और ज्ञान द्वारा सर्व-शक्तिशाली हुआ। अशोक ने अपने १०० भाइयों को मार डाला और जम्बूद्वीप का एकच्छत्र अधिपति बन बैठा[१]।"

आगे चलकर महावंश अशोक के राज्यारोहण का इस प्रकार वर्णन देता है—"अशोक अपने पिता द्वारा उज्जैन का शासक निर्वाचित हुआ था। अतः अशोक उज्जैन में रहा करता था। किन्तु जब उसने सुना कि बिन्दुसार मृत्यु-शैया पर है, तो वह उज्जैन छोड़कर पुष्पहपुर (पाटलिपुत्र) को चल दिया। वहाँ पहुँच कर अपने पिता के मरते ही उसने अपने बड़े भाई सुमन को मार डाला और इस प्रकार संपूर्ण राज्य का अधिपति बन बैठा।"[२]

इस प्रकार सिंहल-गाथाएँ, जैसा कि महावंश और दीपवंश में वर्णित हैं, बिन्दुसार की सोलह रानियाँ और १०१ पुत्रों का उल्लेख करती हैं। इन १०१ पुत्रों में से केवल तीन के नाम दिये गये हैं—सुमन (उत्तरी गाथाओं के अनुसार सुशीम) ज्येष्ठ भाई, अशोक और तिष्य (अशोक का सहोदर भाई)। उत्तरी गाथा के अनुसार जैसा कि अशोकावदानमाला से मालूम होता है, अशोक की माता का नाम शुभद्रांगी था। शुभद्रांगी "चम्पा" के एक ब्राह्मण की सुन्दरी कन्या थी। कहा जाता है इस शुभद्रांगी का बिन्दुसार से "वितासोक" नाम का एक और पुत्र भी हुआ। (इस वितासोक को सिंहली गाथाओं में तिष्य लिखा है)। दक्षिणी गाथाओं के अनुसार अशोक की माँ का नाम "धर्मा" था![३] धर्मा प्रमुख रानी (अग्रमहिषी) थी। धर्मा क्षत्रिय मौर्य-वंश की थी, जिनके कुल का आजीविक साधु "जनसेन" आचार्य था। इसी कारण श्री राधाकुमुद मुकर्जी कहते हैं कि

---

[१]महावंश प्रकरण पाँचवाँ।

[२]Si-yu-ki, Volume I, by Beal

[३]महावंश सतिका प्र० ४, पृ० १२५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अशोक आजीविकों के प्रति उदार रहे। किन्तु यह कथन ठीक नहीं प्रतीत होता क्योंकि अगले प्रकरणों से सर्वथा स्पष्ट हो जायगा कि अशोक की उदारता का कारण पक्षपात न था परन्तु सब धर्मों (संप्रदायों या पासंडों) की पूजा करना ही उनका स्वीकृत मत था।[1]

महावंश राज्यारोहण के लिए अशोक और ९८ भाइयों के मध्य युद्ध का होना लिखता है, किन्तु दिव्यावदान में यह युद्ध केवल अशोक और सुशीम अथवा सुमन के मध्य दिखलाया गया है। दिव्यावदान की कथा इस प्रकार है—"चम्पा नगर के एक ब्राह्मण की बड़ी रूपवती कन्या थी। इस लड़की को देखकर भविष्यवक्ताओं ने घोषणा की कि वह रानी होगी और उसके दो पुत्र होंगे, जिनमें से एक चक्रवर्ती सम्राट् होगा और दूसरा संन्यासी बनेगा। जब लड़की के पिता को यह मालूम हुआ तो वह पाटलिपुत्र चला आया। पाटलिपुत्र में उसकी कन्या अन्तःपुर की रानियों की मंत्रणा से राजप्रासाद में नाइन का काम करने लगी। एक दिन भेद खुल गया और राजा ने उस ब्राह्मण-पुत्री को पत्नीरूप में स्वीकार कर लिया। इसी ब्राह्मण-कन्या शुभद्रांगी से अशोक का जन्म हुआ। किन्तु अपने इस पुत्र पर राजा बिन्दुसार का स्नेह न था। एक दिवस बिन्दुसार ने आजीविक साधु पिंगलावत्साजीव से राजकुमारों की परीक्षा लेने को कहा। सब राजकुमारों को एकत्रित कर राजा ने साधु से प्रश्न किया, "परिव्राजक, कहो इनमें से कौन मेरे अनन्तर सम्राट् होगा?" आजीविक साधु भलीभाँति जानते थे कि सब में से अशोक ही सर्व-शक्तिमान है, अतः वही सम्राट् होगा; किन्तु राजा का उस पर स्नेह न जानकर वह इस बात को व्यक्त नहीं करना चाहता था। अतः उसने नाम न लेकर संकेतों से बताना आरम्भ किया। पीछे जब अशोक की माँ ने साधु से पूछा कि "परिव्राजक, कौन सम्राट् होगा?" तो साधु बोला—"अशोक।" अतः स्पष्ट है कि

---

[1]सब पासंडा पि मे पुजिता—स्तंभ-लेख ६वाँ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिव्यावदान का यह उल्लेख अशोक को योग्य उत्तराधिकारी प्रमाणित करता है। इसके अतिरिक्त दिव्यावदान की कथा से हमें यह भी मालूम होता है कि अशोक के पृष्ठ पर सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल का आलम्ब था। कथा लिखती है, "एक दिवस बिन्दुसार का ज्येष्ठ पुत्र सुशीम खेल रहा था कि प्रधानमंत्री खल्लाहक भी उधर से जा निकला। सुशीम ने खेल में, मन्त्री के मस्तक पर खटका गिरा दिया। इस पर प्रधान मन्त्री चिढ़कर सोचने लगा कि आज तो इसने खटका गिराया है, किन्तु जिस दिन राजा होगा उस दिन तो यह शस्त्र ही फेंकने लगेगा। अतः इसका राजा होना उचित नहीं है। यह सोचकर उसने मन्त्रणा की और पाँच सौ मंत्रियों को उसके प्रति भड़का दिया।" इसी दिव्यावदान के अनुसार अशोक एक समय तक्षशिला के राजविद्रोह को शान्त करने के लिए भेजा गया था। इसके पश्चात् तक्षशिला में दूसरी बार विद्रोह हुआ। सुशीम जब इस विद्रोह को शान्त करने के लिए तक्षशिला गया हुआ था कि बिन्दुसार की मृत्यु हो गयी और सिंहासन खाली हो चला। फलतः अशोक ने राधागुप्त की सहायता से सहसा सिंहासन पर अधिकार कर लिया। सिंहासन छीने जाने पर सुशीम ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण करना चाहा, किन्तु अशोक के मन्त्री राधा गुप्त ने सुशीम को खोखे से जलते हुए अंगारों में खड्ड में गिराकर चुपचाप मरवा डाला।[१]

अतः सुप्रकाशित है कि ये गाथायें आपस में ही उलझ रही हैं। दक्षिणी गाथाओं का ध्येय अशोक को भ्रातृघातक प्रमाणित करना मालूम पड़ता है। विदित होता है कि ये कथाएँ ब्राह्मण-धर्मी चाण्डाशोक और बौद्ध-धर्मी धर्माशोक के मध्य का अन्तर दिखलाना चाहती हैं। इसी हेतु बौद्ध-धर्म ग्रहण करने के पूर्व अशोक को एक "नरक" का निर्माणकर्ता भी कहा गया है। इस नरकागार में कई निरपराध व्यक्ति, विभिन्न यातनाओं द्वारा

---

[१] दिव्यावदान, प्रकरण २६वाँ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पीड़ित किये जाते थे।[१] सी-यू-की[२] लिखता है, "पाटलिपुत्र (पात्तली वृक्ष के लकड़ों का नगर) के प्राचीन प्रासाद के उत्तरी भाग में एक कई फीट ऊँचा पत्थर का स्तम्भ है; यह वही स्थान है जहाँ पर अशोक राज (Wu-yen) ने नरक बनवाया था।" परन्तु पीछे उपगुप्त[3] के प्रभाव में आकर वे बौद्ध हो चले। इसके "अशोकावदान" में अशोक अपने कर्मचारियों और स्त्रियों के संहारक के रूप में दिखलाया गया है। उसे ब्राह्मणों को मरवानेवाला भी कहा गया है। अतः स्पष्ट है कि इन गाथाओं का उद्देश्य अशोक को बौद्ध-धर्मी होने से पहले "चाण्डाशोक" प्रमाणित करना है। उनका ध्येय अशोक के पूर्व चरित्र को कलुषित करके अपने धर्म की यह प्रतिभा प्रमाणित करनी थी कि बौद्ध-धर्म ऐसे दुश्चरित्रों को भी पुण्यशील वना देता है।

क्या अशोक क्रूर एवं भ्रातृघातक थे ?—यदि अशोक ने सिंहासन के युद्ध में केवल एक भाई का निधन किया तो इसके प्रति अशोक को "चाण्डाशोक" कहना उपयुक्त नहीं है। दक्षिणी गाथाओं के अनुसार भाइयों के निधन की संख्या अलंकारिक है। यह भो कहा जा सकता है कि ये भ्रातृगण सौतेले भाई थे। महावोधिवंश (पृष्ठ ९९) के अनुरूप ९८ भाइयों ने मिलकर युवराज सुशीम की अध्यक्षता में अशोक के विरुद्ध चढ़ाई की थी। अतः ऐसी अवस्था में अशोक भाइयों के मारे जाने का उत्तरदायी नहीं है। किन्तु इन उपरोक्त कल्पित गाथाओं के भ्रम में पड़कर कोई भी व्यक्ति अशोक पर भ्रातृघातक जैसे निर्मम आक्षेपों के लगाने में नहीं चूक सकते। श्री तारानाथ अशोक को ६ भाइयों का घातक कहते हैं। परन्तु श्री सेनार्ट ने उचित ही प्रमाणित किया है कि गाथाएँ ही अशोक के क्रूर

---

[१] Gibb's Buddhistic Kingdoms, 56-58. Fahien.

[२] Si-ou-Ki, P. 85.

[3] उपगुप्त को विना चिह्नों वाला बुद्ध—अलक्षणा बुद्धः—भी कहते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जीवन के प्रति परस्पर एकमत नहीं हैं।[1] यथार्थ में अशोक प्रारम्भ से ही सात्विक वृत्ति वाले थे। उन्हें हम भातृघातक नहीं कह सकते। यदि हम इन कथाओं को अशोक के निज शिलाभिलेखों के उज्ज्वल प्रकाश में पढ़ें तो विदित हो जायगा कि इन गाथाओं एवं भीषण आक्षेपों की नींव बहुत ही हल्की और कल्पित है।

सम्राट् के लेख-प्रमाण गाथाओं के आक्षेपों का स्वयं प्रतिवाद हैं। गिरनार शिलालेख प्रथम कहता है, "मातृ और पितृ सेवा करना उत्तम है तथा मित्र, परिचितों, बांधवों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति उदार होना श्लाघनीय है।" इसी तरह तृतीय शिलालेख गिरनार भी लिखता है। पाँचवें शिलालेख में अशोक धर्म-महामात्रों की नियुक्ति के प्रति कहते हैं, "ये धर्म-महामात्र, यहाँ (पाटलिपुत्र) तथा बाह्य दूरस्थ नगरों में मेरे तथा भाइयों और बहिनों के अन्तःपुर और मेरे अन्य सम्बन्धियों के यहाँ सर्वत्र नियुक्त हैं।" इसी तरह सम्राट् द्वितीय गौण शिलालेख में कहते हैं कि सम्बन्धियों के प्रति उचित व्यवहार करना चाहिए। चतुर्थ, षष्ठ, नवम और द्वादश शिलालेखों से सम्राट् का अपने भाई-बहिनों एवं सम्बन्धियों के प्रति अत्यधिक स्नेह जान पड़ता है। इसी भाँति ६ठे स्तम्भ-लेख में सम्राट् कहते हैं, "मैं अपने सम्बन्धियों की ही सेवा नहीं कर रहा हूँ, किन्तु अन्य दूरस्थ लोगों की भी सेवा कर रहा हूँ, जिससे मैं लोगों को आनन्द (सुख) पहुँचा सकूँ।" अतः सुप्रकाशित है कि कल्याण और धर्म के पुजारी अशोक अपने भाई-बांधवों एवं सम्पूर्ण प्राणियों के परम हितकारी थे और दूसरे के कल्याण में ही उन्हें सुख की अनुभूति मालूम पड़ती थी। इन शिलालेखों से यह भी मालूम होता है कि सम्राट् का परिवार अत्यन्त विस्तृत था। उनके कई भाई-बहिन तथा अन्य सम्बन्धी थे, जो पाटलिपुत्र एवं बाह्यप्रांतीय

---

[1] Senart—Insemptions. etc, ii 101.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नगरों में बसे हुए थे।[१] इन सबका पालन अशोक स्वयं करते थे तथा सभी प्रकार उनकी चिन्ता तथा सेवा की जाती थी। उनके रक्षण-कार्य के अतिरिक्त सम्राट् उनके परलोक-कार्य में भी बड़े सहायक थे। सातवाँ स्तम्भ लेख कहता है, "धर्म महामात्र तथा अन्य प्रमुख कर्मचारी, यहाँ (पाटलिपुत्र) और बाह्य-नगरों के मेरे अवरोधों में, धर्म-कार्यों के लिए नियत हैं।"[२] पुनः सम्राट् के हृदयोद्गार सुनिये, "सव मुनिसा मि पजा" "सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं।" तथा "जिस प्रकार मैं अपने बच्चों के सुख का अभिलाषी हूँ, उसी भाँति मैं अपनी प्रजा का हित और सुख, इहलोक और परलोक दोनों में चाहता हूँ।"[3] अतः सर्वशः सुप्रकाशित है कि माता का-सा कोमल हृदय रखनेवाला एक व्यक्ति, गाथाओं के अनुरूप क्रूर, पैशाचिक वृत्तियों का कदापि नहीं हो सकता। जो सम्राट् स्नेह की एक प्रतिकृति स्वरूप हैं वे दानव होकर भ्रातृघातक कभी नहीं हो सकते। सम्राट् के सौतेले भाइयों का उनके शासनकाल में विद्यमान रहने का हमारे पास एक और प्रमाण ७वें स्तम्भ-लेख में सुरक्षित रखा है। ७वाँ स्तम्भ-लेख लिखता है, "यहाँ (पाटलिपुत्र) और बाहर के मेरे अवरोधों में, वे महामात्रगण विविध भाँति के कई आनन्द देने वाले कार्यों में लगे हैं। पुण्य कार्यों की बढ़ती के हेतु और धर्मानुष्ठि के लिए मैंने आदेश किया है कि वे रानियों के और मेरे अतिरिक्त, मेरे पुत्रों और अन्य देवी कुमारों के दान-कार्य के लिए नियत किये जायँ।" इस संदर्भ के "देवी-कुमारों" को अशोक की रानियों के पुत्र न समझा जाना चाहिये। ये देवी-कुमार अशोक के पिता की रानियों अथवा देवियों के पुत्र थे। अर्थात् ये कुमार अशोक के सौतेले भाई थे।[४]

---

[१] स्तम्भ-लेख सातवाँ नं० ११।

[२] शिलालेख पंचम और त्रयोदश।

[3] कलिंग-शिलालेख जोगड़ा।

[४] Ep. Indica, ii 276.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अतः सुस्पष्ट है कि अशोक के सहोदर भाई तिष्य (वितासोक) के अतिरिक्त अन्य कई एक सौतेले भाई भी उनके राज्यकाल के समय मौजूद थे। सम्राट् की ओर से उनका पूर्णतया पालन-पोषण होता था एवं उनके परलोक के सुख का भार भी अशोक स्वयं अपने ऊपर लिए थे जैसा कि शिलालेखों से प्रकाशित ही है।

गाथाओं में भी अशोक और उसके सौतेले भाई के मध्य का सम्बन्ध स्नेह और भ्रातृत्व से परिपूर्ण दर्शाया गया है। कथा लिखती है—"महेन्द्र अशोक का सौतेला भाई था। वह बड़े ठाट-बाट तथा राजकीय ढङ्ग से रहा करता था, किन्तु वह संयमहीन, अमर्यादित एवं अतीव क्रूर था। सम्पूर्ण प्रजा उससे पीड़ित थी। अतः मन्त्रियों ने सम्राट् अशोक से महेन्द्र के दुर्विनीत स्वभाव के प्रति निवेदन किया।" अशोक ने अपने भाई को कहला भेजा और अश्रुपूर्ण नेत्रों से बोला—"भाई, मैंने प्रजा की उन्नति और उनकी रक्षा का भार अपने स्कन्ध पर लिया है, किन्तु स्मरण करो, तुम कैसे मेरे स्नेह और प्रेम को विस्मृत कर गये ! शासन के उदयकाल में ही नियमों का अतिक्रमण अथवा उल्लङ्घन असम्भव है, अतः यदि इस समय मैं तुमको दण्ड दूँ तो मुझे पितृकोप का भय होता है और यदि क्षमा करूँ तो मुझे प्रजा के न्याय की अवज्ञा का डर है।" इस पर कथा लिखती है कि महेन्द्र ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया और सात दिन के लिए सम्राट् से क्षमा माँगी। इन सात दिनों में वह एक अँधियारी कोठरी में समाधि लगाकर ध्यान किया करता था। इस समाधि के फलस्वरूप वह अन्त में "अर्हत" हुआ। सम्राट् ने तब महेन्द्र के रहने के लिए पाटलिपुत्र में कुछ गुफाएँ प्रदान कीं[१]। फाहियान के अनुसार अशोक का एक भाई किसी पहाड़ी पर एकान्तवास किया करता था। इस भाई को सम्राट् चाहते थे कि वह आकर राज-प्रासाद में रहा करे, किन्तु उसने स्वीकार न किया। अतः सम्राट् ने पाटलि-

---

[१] Si-yu-ki, volume 11, P. 91.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुत्र के पास ही उसके रहने के लिए एक गुफा बनवा दी[१]। अन्य ग्रन्थों में महेन्द्र की कथा दूसरे ही ढङ्ग पर दी गयी है। पाली ग्रन्थों में उसे तिष्य कहा गया गया है, दिव्यावदान में वितासोक लिखा है और कुछ चीनी ग्रन्थ उसे सुदत्त और सुगाम भी कहते हैं। इन ग्रन्थों के अनुसार इस राजकुमार का अपराध यह था कि उसने एक बौद्ध पर असंयम, मर्यादाहीन आदि दोषों को आरोपित किया था। ये दोष इस विशिष्ट बौद्ध पर असत्यता से लगाये गये थे, अतः इस भाई को सम्राट् उसकी भूल दिखलाना चाहते थे। सम्राट् अशोक ने मन्त्रियों से मन्त्रणा की और उसे सिंहासन पर बिठलाया गया। वह सिंहासन पर बैठा था कि अशोक ने सहसा प्रवेश कर उसे राज्यापहारिन् कह कर प्राणदण्ड की सजा दे दी। यह सजा सातवें दिन दिये जाने की घोषणा की गयी। इन सात दिनों के अनन्तर अशोक ने इस भाई के लिए सर्व प्रकार के ऐश्वर्य और भोग की सामग्रियों को एकत्रित करवाया, किन्तु मृत्यु के भय से भयभीत होने के कारण उसे किसी भी वस्तु में आनन्द न आता था। इसके अनन्तर अशोक भाई के पास आकर बोला—"देखो भाई, कोई भी बौद्ध जिसे मृत्यु और जन्म का भय है, वह सांसारिक भोग और ऐश्वर्यों में नहीं फँस सकता। इसके पश्चात् वितासोक को क्षमा कर छोड़ दिया गया। तब यह भाई सीमान्त-प्रदेश की ओर चला गया। वहाँ जाकर वह अर्हत हुआ और पुनः एक बार पाटलिपुत्र में आकर अशोक से मिला। इसके बाद वह एक अन्य प्रदेश को चला गया, किन्तु वहाँ के राजा ने निर्ग्रन्थ जानकर उसे मरवा दिया।[२] महावंश में भी अशोक के भाई तिष्य का उल्लेख तो आया ही है, किन्तु इसके अतिरिक्त वितासोक के प्रति अन्य ग्रन्थों में और ही प्रकार से उल्लेख दिया गया है। इन ग्रन्थों में तिष्य

---

[१]फाहियान ने इस भाई का नाम नहीं दिया है।

[२]इस प्रदेश का राजा निर्ग्रन्थों के प्रतिकूल था। वह निर्ग्रन्थों के मारने वालों को इनाम दिया करता था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और वितासोक दोनों भिन्न व्यक्तियों के रूप में दर्शाये गये हैं। गाथा कहती है—वितासोक क्षत्रियकुमारों की कला-कौशल में दिन-दिन निपुण होता जाता था। जब वह क्षत्रिय विद्या तथा शिल्प में पूर्ण हो चुका तो उसने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। इस कुमार का गुरु अथवा आचार्य गिरिदत्त था। इन गुरु के पास उसने सुत्त-पिटक और अभिधम्म-पिटक का मनन किया। एक दिन यह कुमार क्षौर-कर्म (मस्सु-कम्म) अथवा मुण्डन कर रहा था कि उसे दर्पण में अपने सफेद बाल दिखाई दिये। सफेद बालों को देखकर वह जीवन की असारता पर विचार करने लगा। अतः उसने आचार्य गिरिदत्त से प्रव्रज्या ग्रहण की और थोड़े ही समय में "अर्हत" पद को पहुँच गया।[1]

इन सब संदर्भों से सर्वथा सुस्पष्ट है कि अशोक अपने भाइयों के प्रति अत्यन्त स्नेहपूर्ण और दयालु थे। भाइयों को किसी भी प्रकार पीड़ित करने में वे पितृकोप से डरते थे। अशोक के कई भाई उनके राज्यकाल में भी विद्यमान थे। इसलिए कहा जा सकता है कि अशोक ने भाइयों का रक्त बहाकर सिंहासन ग्रहण न किया था, अपितु ९९ भाइयों के मारने का आक्षेप, विश्व-प्रेमी और विश्व-रक्षक अशोक पर सर्वथा असत्य प्रतीत होता है। यद्यपि इतना कह सकते हैं कि सम्भवतः अशोक और ज्येष्ठ भाई सुशीम अथवा सुमन के मध्य सिंहासन के लिए कुछ युद्ध हुआ होगा।

कश्मीर का शैव-सम्राट् अशोक—कल्हण की राजतरंगिणी में सम्राट् अशोक को कश्मीर का सम्राट् कहता है, वह लिखता है—"शाकीनर की मृत्यु होने पर उनके चाचा के पुत्र अथवा शकुनी के प्रपौत्र धार्मिक अशोक ने पृथ्वी पर शासन किया। इस सम्राट् ने श्रीनगर को कश्मीर की राजनगरी बनाया। यह सम्राट् भूतेश शिव का उपासक एवं शैव-मतावलम्बी था। उसने विजयेश में शिव के दो मन्दिरों का निर्माण करवाया। ये मन्दिर

[1] [Ibid, p. 295 ff]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अशोकेश्वर[१] के नाम से प्रसिद्ध थे।[२] पीछे ये सम्राट् 'जिन' हो चले और उन्होंने बहुत से स्तूपों का निर्माण करवाया।[३]

धर्मलिपियों पर आशंका—ये धर्मलिपियाँ प्रियदर्शी अथवा प्रियदर्शिन नाम के राजा से लिखवाई गई थीं। किन्तु प्रियदर्शी—प्रियदर्शिन के अतिरिक्त कहीं-कहीं पूर्ण संज्ञा "देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा" का (रूमीनिन्दी तथा निगलिव) प्रयोग किया गया है। सारनाथ स्तम्भ-लेख तथा रूपनाथ, सहसराम, बैराट और तीसरे मैसूर शिलाभिलेख में केवल देवानांप्रिय ही लिखा है। प्रथमतः जब श्री जेम्स प्रिंसेप ने ब्राह्मी लिपि★ का स्पष्टीकरण किया था तो उन्होंने इन शिलालेखों को लंका के राजा तिष्य का बतलाया था; क्योंकि उसके नाम की संज्ञा देवानांप्रिय थी। किन्तु जब मास्की शिलालेख का पता लगा तो यह बात निश्चयात्मक रूप से निर्धारित हो गई कि ये शिलालेख मौर्य्य सम्राट् अशोक द्वारा लिखाये गये थे। मास्की में अशोकस् लिखा है और बैराट शिलालेख में देवानांप्रिय को मगध-सम्राट् लिखा है। इसी तरह पाँचवाँ शिलालेख राजनगरी पाटलिपुत्र का भी उल्लेख करता है। अतः अब सर्वथा निर्धारित हो चुका है कि प्रियदर्शी अथवा देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा और अशोक एक ही हैं। इस प्रकार अशोक प्रियदर्शी, प्रियदर्शिन तथा देवानांप्रिय के नामों से भी प्रख्यात थे।

---

[१] अशोकेन निर्मिता ईश्वर = अशोकेश्वर (मध्यमपदलोभी समास)

[२] कल्हण, राजतरंगिणी—१०१–१०६।

[३] कल्हण, राजतरंगिणी; १०२।

★सामान्यतः माना जाता है कि ब्राह्मी लिपि से ही भारत की सभी भाषाओं के अक्षर प्रसूत हुए। यह भी अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः मोहेंजो दारों में प्राप्त मोहरों पर का चित्रलिपि से ही ब्राह्मी लिपि विकसित हुई है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देवानांप्रिय—अशोक ने अपने पूर्वजों की भाँति ही देवानांप्रिय को अपना उपनाम रक्खा था। आठवाँ शिलालेख कहता है—"विगत काल में देवताओं के प्रियराजा (देवानांप्रिय) विहार-यात्रा को निकला करते थे।" इस वृत्त से प्रकाशित है कि सम्राट् के पूर्वज भी "देवानांप्रिय" कहलाते थे।

मुद्राराक्षस में भी चन्द्रगुप्त को "प्रियदर्शनत्तो" कहा गया है। नागार्जुन-गुहा लेख में दशलथ देवानांप्रिय लिखा है। यह दशलथ अशोक का पौत्र था। अतः प्रकाशित है कि पूर्व प्रचलित मौर्य्य प्रथा के अनुसार ही सम्राट् अशोक ने देवानांप्रिय और प्रियदर्शिन के नामों को अपनाया था। इसी से शिलालेखों में हमें केवल एक जगह अशोक लिखा मिलता है, बाकी लेखों में उपनाम का ही प्रयोग किया गया है। देवानांप्रिय का अर्थ है—"देवताओं का प्यारा", तथा प्रियदर्शिन का अर्थ है—"जो देखने में प्रिय हो।" पाणिनि पर पातंजलि के महाभाष्य के अनुसार देवानांप्रिय का—भवान्, दीर्घायु और आयुष्मन् की भाँति सम्मान तथा प्रसाद के अर्थ में प्रयोग किया जाता था। किन्तु कुछ समय के बाद "देवानांप्रिय" का अर्थ बदलकर 'मूर्ख' हो चला—कात्यायन का एक वार्तिक है—"देवानांप्रिय इति च (मूर्खः) अन्यत्र—देव प्रियः (भट्टोजि दीक्षित—सिद्धान्त कौमुदी पृष्ठ २६५)।"

अशोक का नक्षत्र—पाँचवें स्तम्भ-लेख में सम्राट् ने मैना, सारिका, तोता, हंस, मछली आदि जीवों को मारने का निषेध किया है। यह स्तंभ-लेख कहता है, "देवताओं का प्रिय कहता है कि अभिषिक्त होने के २६वें वर्ष मैंने निम्न पशुओं के वध का निषेध किया—'तोता, मैना, अरुण, हंस, वन-हंस, वक, सारस, जलूका, चमगीदड़, अम्बा, कपालिका, दली, अनधीका-मच्छ, विदर्वी, गंगा-पुपुत्तका, संकुज-मच्छ, प्राणशासू, कछुआ, बारहसिंहा' आदि तथा अन्य चतुष्पद जो न खाये जाते हैं और न काम में आते हैं।"

इस वृत्त से मालूम होता है कि सम्राट् इस स्तंभ-लेख में आये हुए पशु-पक्षियों को पवित्र समझकर उनका मारना अधर्म अथवा पाप के अन्तर्गत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समझते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (श्लोक २२२) में भी कुछ ऐसे ही जीवों—जैसे हंस, मछली आदि के मारने का निषेध किया गया है। ५वें स्तंभ-लेख में कहा गया है—"पुष्य और पुनर्वसु के दिन........ गाय और घोड़ों को दागा न जाय।" इस वृत्त में पुष्य और पुनर्वसु ये दो नक्षत्र आये हैं। यह बात कुछ आश्चर्य की-सी है कि सम्राट् ने क्यों केवल इन्हीं दो नक्षत्रों का नाम लिया ? क्या इन नक्षत्रों से कोई विशेष तात्पर्य है, अर्थात् क्या ये दो नक्षत्र सम्राट् और प्रजा के हैं ? साथ ही इन दोनों नक्षत्रों में 'पुष्य' का नाम पहिले आया है तथा लेखों में भी अधिकतर इसी नक्षत्र अर्थात् पुष्य नक्षत्र का प्रयोग किया गया है। इससे मालूम होता है कि पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्रों में से पुष्य नक्षत्र ज्यादा महत्व का है। पुष्य नक्षत्र की महत्ता से प्रकट होता है कि यह नक्षत्र सम्भवतया सम्राट् का था और पुनर्वसु प्रजा का।

अभिषेक के दिवस पर उत्सव—प्रत्येक शुभ तथा मांगलिक अवसरों जैसे जन्म और अभिषेक पर उत्सव मनाने की प्रथा बहुत प्राचीन है। जन्म और अभिषेक आदि उत्सवों के समय राजा लोग बन्दियों को मुक्त किया करते थे। इसी भाँति पाँचवें स्तंभ-लेख में सम्राट् कहते हैं—"२६वें वर्ष यावत् तिलक होने के, मैंने २५ बार बन्दियों को मुक्त किया है।"

सम्राट् का परिवार—प्रियदर्शी अशोक ने धर्म के प्रचार के हेतु ही अपने लेखों को प्रकाशित करवाया था। सम्राट् ने स्वयं इन लेखों को धम्म-लिपि कहा है, (इयं धम्म-लिपि लेखिता चिलिपित्यकता होतु) किन्तु धम्म-लिपि होते हुए भी इन लेखों में अकस्मात् बहुत कुछ ऐतिहासिक सामग्री आ गई है।

अशोक का सच्चा इतिहास वस्तुतः हमें उनके निजी शिलालेखों से ही उपलब्ध होता है। इन शिलाभिलेखों की सत्यशीलता आशंकारहित है। ये शलालेख क्या हैं ? यहाँ पर प्रथम हम इसी बात का परिचय देंगे। ये

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेखप्रमाण, पाषाणों, स्तंभों एवं गुफाओं पर अभिलिखित शिलाभिलेख हैं। ये पाषाण-लिपि अथवा शिलालेख दो प्रकार के हैं—

(१) **चतुर्दश शिलाभिलेख**—चतुर्दश शिलालेख चौदह विभिन्न शिलालेखों के समूह हैं। इन शिलाभिलेखों को भिन्न-भिन्न स्थलों पर पाया गया है।

(२) **गौण-शिलाभिलेख** - ये दो भिन्न लेखों के रूप में हैं।

(३) **स्तम्भ-लेख**—ये स्तंभ-लेख भी दो प्रकार के हैं। प्रथम—सप्त-स्तंभ-लेख और द्वितीय—गौण-स्तंभ-लेख।

(४) **गुफा अथवा गुहालेख**—ये गुफालेख वे लेख हैं जो बिहार के बराबर पहाड़ी की गुफाओं में खुदे पाये गये हैं।

इन सबको मिलाकर ३३ विभिन्न शिलालेख हैं। इन लेखों से अशोक के इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ता है। विशेषतः इन्हीं शिलालेखों के आधार पर हम इस पुस्तक में अशोक के शासन, धर्म आदि कार्यों का वर्णन करने का प्रयत्न करेंगे। ये शिलालेख सम्राट् के पारिवारिक जीवन पर भी यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। पाचवाँ शिलालेख लिखता है—

"ये (धर्म-महामात्र) यहाँ (अथवा पाटलिपुत्र) तथा बाह्य दूरस्थ नगरों में मेरे तथा भाइयों और बहिनों के अन्तःपुर और मेरे अन्य संबंधियों के यहाँ सर्वत्र नियुक्त हैं।" इस वृत्त से प्रकाशित है कि अशोक के कई भाई, बहिन तथा अन्य सम्बन्धी थे जो राजनगरी पाटलिपुत्र तथा बाहर के नगरों में बसे हुए थे। बहिनों के नाम का हमें कुछ पता नहीं, केवल तीन भाइयों के नाम ज्ञात हैं—तिष्य (वितासोक)—सहोदर भाई, महेन्द्र तथा सुशीम (सुमन) ज्येष्ठ भाई।

सम्राट् अशोक का अवरोध—सम्राट् की कितनी रानियाँ थीं इसका ठीक निश्चय करना कठिन है। पाँचवें शिलालेख से इतना पता चलता है कि सम्राट् की कई रानियाँ थीं, क्योंकि इस लेख में सम्राट् ने अपने कई अवरोधों (ओलोधनेसु = अन्तःपुर) का उल्लेख किया है। इन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अवरोधों में से कुछ तो पाटलिपुत्र में थे और कुछ बाहरी नगरों में स्थित थे, [हिद (पाटलिपुत्र-गिरनार) च बाहिलेसु च नगलेसु सवेसु सवेसु ओलोधनेसु (अवरोधनेषु) संस्कृत में···] यहाँ पर यह सवाल पैदा होता है कि सम्राट् के अवरोध-राजनगरी के अलावा बाहरी नगरों में क्यों थे ? यदि हम यह कहें कि ये अवरोध सम्राट् के बाहरी नगरों में रहनेवाले भाइयों के ही हैं, तो यह भी ठीक नहीं हो सकता; क्योंकि स्पष्टतः सम्राट् इन अवरोधों को अपने अवरोध में (ओलोधनेसु) कहते हैं। अतः निःसन्देह ये अवरोध सम्राट् के वाह्य नगरों में रहनेवाली रानियों के थे। महावंश से भी मालूम होता है कि सम्राट् की एक रानी उज्जैन के पास चैत्यगिरि में रहा करती थी। महेन्द्र तथा सङ्घमित्रा इसी रानी देवी की संतान (महावंश) थीं। अतः स्पष्ट है कि सम्राट् अशोक का एक अवरोध अथवा अन्तःपुर चैत्यनगर में था। महावंश से ही हमें यह भी मालूम होता है कि असन्धिमित्रा अशोक की प्रधान रानी थी।[१] गौण-स्तंभ-लेख चतुर्थ से हमें अशोक की एक और रानी का पता चलता है। इस लेख में सम्राट् लिखते हैं—"देवानांप्रिय के अनुशासन से सर्वत्र महामात्रों को यह कहा जाय कि यहाँ जो कुछ भी दान द्वितीय रानी ने किये हों—चाहे आम्रकुंज, चाहे धर्मशाला, चाहे अन्य कुछ, सबकी गणना रानी के नाम से की जाय। यह द्वितीय रानी कारुवाकी, तिवाला की माता की विनय है।" अतः प्रकट है कि सम्राट् की दूसरी रानी का नाम कारुवाकी था। इस रानी से सम्राट् का तिवाला अथवा तिवारा नाम का पुत्र हुआ था। दिव्यावदान[२] तिष्यरक्षिता को भी सम्राट् की रानी कहता है।

गाथाओं के अनुसार पद्मावती भी सम्राट् की रानी थी। इस रानी से अशोक का कुणाल नाम का पुत्र हुआ था। पहले कुणाल का नाम धर्मविवर्धन

---

[१](महावंश २०वाँ अध्याय)

[२](पृष्ठ ३९७-३९८)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। फाहियान ने इस धर्मविवर्धन को गांधार का शासक लिखा है।[1] इसी धर्मविवर्धन अथवा कुणाल का पुत्र सम्राट् सम्प्रति हुआ।

सम्राट् के पुत्र—रानियों का उल्लेख करते हुए हमें मालूम हो चुका है कि सम्राट् अशोक के, उज्जैनो, महिन्दो (अथवा महेन्द्र) और तिवारा अथवा (तिवाला) नाम के तीन पुत्र थे, किन्तु कल्हण के अनुसार अशोक का एक चौथा लड़का जालुका अथवा (जालौका) भी था। कल्हण लिखता है कि भूतेश शिव के वरदान से अशोक को यह प्राप्त हुआ था।[2] जालौका की रानी ईशान देवी थी।[3] पुत्रों के अलावा जैसा कि गाथाओं से पता चलता है कि सम्राट् अशोक की दो कन्यायें भी थीं। अपने, भाइयों, बहिनों, पुत्रों तथा पुत्रियों के अलावा अशोक के अन्य और भी कई सम्बन्धी थे, जैसा कि पाँचवें शिलालेख से मालूम होता है। समासतः अशोक का परिवार बहुत भारी था। गाथाओं और शिलालेखों से हमको सम्राट् अशोक के निम्नलिखित सम्बन्धों का परिचय मिलता है—

पिता—बिन्दुसार।

माता—शुभद्रांगी (उत्तरी गाथा), धर्मा (दक्षिणी गाथा)।

भाई—सुमन (सुशीम)—ज्येष्ठ तथा सौतेला भाई। वितासोक—(तिष्य) सहोदर भाई। महेन्द्र—सौतेला भाई।

रानियाँ—असन्धिमित्रा, कारुवाकी, देवी अथवा विदिसा, महादेवी शाक्य कुमारी, पद्मावती, तिष्यरक्षिता।

पुत्र—महेन्द्र, उज्जैनो, तिवारा (तिवाला), कुणाल। (धर्मविवर्धन), जालौका।

पुत्री—संघमित्रा, चारुमती।

---

[1] (लेगस्, प्रकरण १०, पृष्ठ ३१)

[2] (कल्हण-राजतरङ्गिणी १–१०७-१२२)

[3] (कल्हण-राजतरङ्गिणी १–१०७-१२२)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दामाद—अग्निब्रह्मा (संघमित्रा का पति, महावंश ५)। देवपाल(चारुमति का पति)।

पौत्र—दशरथ (दशलथ देवानांप्रिय—नागार्जुन-गुफा-लेख)। सम्प्रति, सुमन (संघमित्रा का पुत्र, महावंश १३वाँ प्रकरण)।

अशोक का निभृत जीवन—सम्राट् के निभृत जीवन का ठीक-ठीक पता लगाना बहुत कठिन है। राज्य के कार्यों से निवृत्त होने पर सम्राट् क्या किया करते थे—कहाँ समय विताया करते थे—इसका हमको बहुत कम अपितु कुछ भी ज्ञान नहीं है। इस विषय पर शिलालेख भी वस्तुतः मौन है। केवल ६वें शिलालेख गिरनार से सम्राट् के निभृत जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इस शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "विगत काल में सब समय पर राजकार्य और प्रजा का राजा से आवेदन न हुआ करता था। सो मैंने ऐसा प्रबन्ध किया है कि सब समय में जब मैं खा रहा हूँ, या हरम में होऊँ, या अपने अन्तःपुर में होऊँ, चाहे व्रज में, चाहे धार्मिक शिक्षालयों में, चाहे बाटिका में, सब जगह प्रतिवेदक को आदेश दिया गया है कि वे प्रजा के कार्य की (मुझको) सूचना दें।" शिलालेख के इस उल्लेख से प्रकट है कि राजकार्य से निवृत्त होने पर सम्राट्—भोजनालय हरम अथवा अन्तःपुर, प्रमोदवन, व्रज आदि स्थानों में—अपना बाकी समय बिताया करते थे।

सम्राट् का आहार—मेगस्थनीज के वर्णन से मालूम होता है कि मौर्य्य-राजाओं का भोजन साधारणतया चावल, दाल आदि भारतीय भोजन ही हुआ करता था। इसके अलावा अशोक के शिलालेख से यह भी विदित होता है कि मांस अथवा शोरवा भी राजकीय भोजन का मुख्य अंग था। दूसरा शिलालेख कहता है—"पहले राजकीय रसोई-घर में या रसवती में शोरवे के लिए सहस्रों प्राणी मारे जाते थे, किन्तु पीछे केवल दो मोर और कभी-कभी एक हिरण मारा जाने लगा।" यद्यपि पीछे इन तीनों का मारना भी निःसन्देह बन्द कर दिया गया होगा (दूसरा शिलालेख)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्पष्ट है कि सम्राट् को पहले मांसाहार अति प्रिय था और इसलिए बौद्ध होने पर भी सहसा वे 'शोरवा' न छोड़ सके। कुछ समय तक तीन पशु (दो मोर या मयूर और एक हिरन) रसोई के लिए मारे ही जाते रहे। यद्यपि उक्त शिलालेख में सम्राट् ने भविष्य में इन तीन जीवों को न मारने की प्रतिज्ञा की है। यह निश्चय ही सत्य हो सकता है कि पीछे चलकर सम्राट् ने इन शेष जीवों का भी निषेध करा दिया होगा, किन्तु उससे पहले यदि कहें कि सम्राट् मांसाहारी थे तथा मोर का मांस उन्हें सबसे अधिक प्रिय था, तो यह धारणा असत्य नहीं हो सकती। मोर या मयूरों का नियमपूर्वक मारा जाना और हिरण का कभी-कभी मारा जाना इस बात को प्रमाणित करता है कि सम्राट् मोर का शोरवा विशेष पसन्द करते थे। बुद्धघोष ने भी लिखा है कि मध्यप्रदेश तक मगध प्रान्त के लोगों को मयूर का मांस अधिक प्रिय लगता है।

1864

अशोक की महत्ता आज भी सर्वोपरि है। वे सच्चे त्यागी और पूर्ण धार्मिक थे और जैसा कि कल्हण कहता है वे इन्द्रियजीत थे। उनमें संयम था और इन्द्रियाँ उनके शासन में थीं। उन्होंने अपने मन को वशीभूत कर सारे प्रलोभनों को तिलांजलि दे अहिंसा के व्रत को अपनाया और उसी को अपना 'जयघोष' घोषित किया। आज भी असहाय दुर्बलों का हाथ सँभालती हुई हिंसा पर सत्याग्रह द्वारा अहिंसा से विजय प्राप्त करने का आदेश करती हुई सम्राट् की वह पावनी अहिंसात्मक वाणी युगों के अन्तराल से सरकती हुई हमारे हृदयों में गूँज उठती है। एक और शिलाभिलेख द्वारा सम्राट् हमें अपने निभृत जीवन का कुछ और आभास कराते हैं। आठवाँ शिलालेख शाहवाज-गढ़ी लिखता है—"विगत समय में राजा लोग मनोरंजन के हेतु अथवा विनोदार्थ विहार-यात्रा के लिए निकला करते थे। किन्तु वर्तमान देवानांप्रिय प्रियदर्शी सम्राट् ने अभिषिक्त होने के दशवें वर्ष में सम्यक्-ज्ञान की प्राप्ति की या बुद्ध-गया की यात्रा की, तब से यह धर्म-यात्रा प्रारम्भ हुई, इस धर्म-यात्रा में निम्न बातें हुआ करती हैं—"श्रमणों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और ब्राह्मणों का दर्शन तथा उन्हें दान देना, वृद्धजनों का दर्शन और सोने का वितरण, जनपद के लोगों से मिलना और उन्हें सदाचार तथा धर्म पर शिक्षा देना तथा यदि उचित समझा जाय तो उनके साथ धर्म-विषय की जिज्ञासा करना।" इस शिलाभिलेख का निरीक्षण करने से मालूम होता है कि अशोक से पूर्ववर्ती राजाओं की विहार-यात्रा (आखेट के लिए जाना) मनबहलाव का प्रमुख साधन थी। इस प्रथा का अशोक ने भी अनुसरण किया और न्यूनतः अपने अभिषेक के दशवें वर्ष तक इसी प्रथा के अनुगामी बने रहे। सम्राट् अपने शिलालेख में स्वयं स्वीकार करते हैं कि १०वें वर्ष (अभिषिक्त होने के) ही उन्होंने विहार-यात्रा को धर्मयात्रा में बदला था। तब से सम्राट् अपना अवकाश का समय धर्म-सम्बन्धी विषयों तथा धार्मिक स्थानों की यात्रा करने में व्यतीत करने लगे। इसी समय उन्होंने सम्बोधी, बुद्ध-गया, लुम्बिनी-वन आदि तीर्थ-स्थानों की यात्रा की। किन्तु अभिषिक्त होने के १० वर्ष पहले वे अपना समय अन्य प्राचीन राजाओं की भाँति कई प्रकार के मनोरंजनों एवं विहार-यात्रा आदि में व्यय किया करते थे। इन सब मनोरंजनों में 'आखेट' प्रमुख मनोरंजन समझा जाता था। ये विहार-यात्राएँ कैसी होती थीं, इसका निश्चय करना कठिन है। इस विषय में सम्राट् के शिलालेखों से हमें बहुत कम आभास मिलता है, किन्तु चूँकि सम्राट् शिलालेखों में बहुधा आखेट का ही उल्लेख करते हैं, इसलिए अनुमान किया जा सकता है कि आखेट ही विहार-यात्रा का मुख्यतः विलास था। प्राचीन राजागण अधिकतया शिकार के प्रेमी हुआ करते थे। आखेट ही उनकी सर्वप्रिय क्रीड़ा की वस्तु थी। प्राचीन राजाओं की इस प्रथा को कई पुरातन राजनीतिज्ञों ने दोषपूर्ण बताया है। पिशुन कहता है—"आखेट निकृष्टतम व्यसन है; क्योंकि इसके निम्न दुर्विकार हैं—डाकुओं से लूटा जाना, बैरी के कब्जे में आ जाना, हाथी के पंजे में फँसना, दावाग्नि, भय, दिमाग को भूल जाना, भूख-प्यास तथा जीवन के नष्ट होने का डर।" किन्तु आचार्य कौटिल्य इसका विरोध करते हुए लिखते हैं—"आखेट सर्व-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुन्दर व्यायाम है। आखेट द्वारा व्यायाम करने से अत्यधिक चर्बी, पसीना और पित्त की शान्ति होती है। आखेट खेलने से चलती-फिरती तथा स्थिर वस्तुओं पर लक्ष्य करना आता है तथा क्रोधित पशुओं के स्वभाव का ज्ञान होता है आदि।"[१]

चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन मेगस्थनीज ने आखेट का इस प्रकार वर्णन दिया है—"सम्राट् युद्ध के समय ही प्रासाद के बाहर नहीं निकला करते, अपितु न्यायाधिकरण (शासन), यज्ञ (होम) तथा आखेट के लिए भी महल से बाहर जाना पड़ता है। आखेट में सम्राट् बकैनँलियन (Bucchanalian) तरीके पर जाया करते हैं। स्त्रियों की काफी बड़ी भीड़ सम्राट् को घेरे होती है। स्त्रियों के घेरे के बाद भाले वाले सैनिक होते हैं। राज-मार्ग रस्सी से घिरा रहता है। इस रस्सी को कोई लाँघ नहीं सकता तथा यदि कोई स्त्री अथवा पुरुष उसे लाँघ जाय तो मृत्यु-दण्ड दिया जाता है। जुलूस के आगे बाजे वाले होते हैं। प्रविष्टि स्थान से आखेट खेलते हुए सम्राट् मंच पर से तीर चलाते हैं, किन्तु खुले स्थान से शिकार खेलते समय सम्राट् हाथी के पीछे होकर तीर फेंका करते हैं। आखेट में जाने-वाली स्त्रियाँ रथ, घोड़े तथा हाथियों पर सवार होती हैं। ये स्त्रियाँ शस्त्र-अस्त्र से इस प्रकार सजी होती हैं, मानों युद्ध को जा रही हों।[२] मौर्य-सम्राटों के आखेट करने का ढङ्ग अथवा तरीका क्या था यह उपरोक्त विवरण से सर्वथा स्पष्ट है। अतः कह सकते हैं कि अभिषेक के १० वर्ष पूर्व तक सम्राट् अशोक भी इसी ढङ्ग पर आखेट खेलने को जाया करते थे।

बौद्ध-धर्म ग्रहण करने से पहले सम्राट् अशोक—बौद्ध होने से पूर्व सम्राट् का जीवन कैसा था—इसका ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता।

---

[१]कौटिल्य अर्थशास्त्र श्लोक ३२९।

[२]Mc Crindle, Ancient India by Megasthenese and Arian, p. 71

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किन्तु शिलालेखों से जितना हम मालूम कर सकते हैं उसे यहाँ पर लिखने का प्रयत्न करेंगे। पहला शिलालेख कहता है—"इयम् धम्मलिपि देवानाम् पियेना, पियदस्सिना लेखिता हिदा, ना किट्टि जिवे आलयितु पजो हितवियेनो पि चा समाजे कटविये, बहुव हि दोषा समाजसा देवानांपिये पियदसी लाजा दखति अभिवि चा एकतिया समाज साधुमता देवानां पियसा पियदस्सिसा लाजिने पुले महानससि देवानां पिय पियदस्सिसा लाजिने अनुदिवसं बहुनि पान सहसानि आलभियिसु—कालसी।" अर्थात्, "यह धर्म्मलिपि प्रियदर्शी राजा द्वारा अभिलिखित की गई। यहाँ न कोई जीव मारा जावे और न उसकी बलि दी जावे। न कोई समाज किया जाय, क्योंकि देवताओं का प्रिय ऐसे समाजों में कई दूषण देखता है। किन्तु कुछ समाज ऐसे भी हैं जिन्हें सम्राट् स्तुत्य समझते हैं। पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा की पाकशाला में प्रति दिवस कई सौ हजार जीव शोरबे के लिए मारे जाते थे।" इस उपरोक्त शिलालेख को पढ़कर आश्चर्य होता है कि सम्राट् की राजकीय पाकशाला में क्योंकर कई सौ सहस्र जीव शोरबे के लिए मारे जाते थे। क्या ये सब जानवर सम्राट् के निज पारिवारिक लोगों के खाने के हेतु मारे जाते थे? किन्तु यह भी असम्भव-सा प्रतीत होता है। यदि साधारणतया हिसाब लगाया जाय तो एक पशु तथा हिरन ६ स्त्री-पुरुषों के लिए काफी है। अतः इस हिसाब के अनुसार सौ सहस्र अर्थात् एक लाख पशुओं को १,००,००० × ६ = ६,००,००० लाख स्त्री तथा पुरुष खा सकेंगे। किन्तु चूँकि शिलालेख बहुवचन का प्रयोग करता है, इसलिए २,००,००० पशुओं को १,२०,००० आदमी खाने को चाहिए। यदि यह भी माना जाय कि इन जीवों में आधी संख्या पक्षियों की भी है तो भी ६,००,००० आदमी अनिवार्य हैं। तब क्या यह सम्भव है कि सम्राट् के अपने परिवार में नौकरों तथा सेवकों समेत ६,००,००० स्त्री-पुरुष थे? ऐसा होना तो असम्भव है, अतः यह कहा जा सकता है कि सारी राजनगरी की प्रजा को जिमाने के लिए ही सम्राट् इतने जीवों को मरवाया करते थे। यह बात

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अत्यधिक आश्चर्य की नहीं समझनी चाहिए। महाभारत में भी रन्तिदेव नाम के एक ऐसे राजा का उल्लेख आया है, जो अपनी प्रजा को जिमाने के लिए रोज कई सहस्र जीवों का शोरबा बनवाया करता था।[1] महावंश के अनुसार सम्राट् अशोक भी बौद्ध-धर्म ग्रहण करने से पहले ६०,००० ब्राह्मणों को जिमाया करते थे, (महावंश प्रकरण ५)। अतः स्पष्ट है कि कई सौ-सहस्र प्राणियों का वध प्रजा को जिमाने के लिए ही किया जाता था। इन वृत्तों के आधार पर यह भी कहा जा सकता है बहुत से प्राचीन राजाओं में प्रजा को जिमाने की प्रथा प्रचलित थी। साथ ही जिस परिस्थिति में चन्द्रगुप्त मौर्य ने मगध के राजसिंहासन पर अधिकार प्राप्त किया था, उस कारण, सम्भवतया अभी भी बहुत से लोग मगध में ऐसे थे, जो मौर्य के शासन को स्वीकार नहीं करना चाहते थे, अतः इन लोगों के असन्तोष के कारण अशोक को भी राज्य के खो जाने का भय बना हुआ था। इसलिए अशोक सम्भवतया लोगों को अपनी ओर लाने के लिए भी, उन्हें भोज दिया करते थे। इस बात पर हमें आश्चर्य न करना चाहिए, क्योंकि हमें मालूम है कि अलाउद्दीन खिलजी ने जब जलालुद्दीन खिलजी को मार कर शासन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, तो प्रजा के असन्तोष के भय से उसने लोगों को अपना पक्ष ग्रहण करवाने के लिए खूब रुपया बाँटा था जिससे लोग पहले वाले राजा को भूल जायँ और उसकी ही उदारता की सराहना करने लगें।

समाज—शासनकाल के प्रारम्भिक भाग में सम्राट् अशोक "समाज" द्वारा प्रजा का मनोरंजन किया करते थे। ये "समाज" क्या हुआ करते थे, यह हमको मालूम करना है। सेनार्ट "समाज" को उत्सव (Festivals) कहता है।[2] बूलॅर (Buhler) समाज को 'मेला' बतलाता

---

[1] वनपर्व–आठवाँ अध्याय, पृष्ठ ११३९, हिन्दी महाभारत इं० प्रे०।

[2] (Festius Senart, P. 50)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है[१], खाराभेल-लेख में भी समाज को उत्सव कहा गया है। महाभारत में धनुर्युद्ध के लिये समाज कहा गया है।[२] "हरिवंश" मल्ल-युद्ध करने को समाज कहता है। मेगस्थनीज के विवरण से भी मालूम होता है कि चन्द्रगुप्त के समय में घोड़े और बैल-गाड़ियों की दौड़ तथा हाथी, बारहसिंहा, साँड़, मेढ़ा आदि की लड़ाई मनोविनोद के लिए हुआ करती थी। इन सब विवरणों के आधार पर कह सकते हैं कि समाज वे उत्सव थे, जिनमें धनुर्युद्ध, मल्ल-युद्ध, घोड़े-गाड़ी और बैल-गाड़ियों की दौड़ तथा जानवरों की लड़ाई हुआ करती थी। बुलेर के अनुसार समाज में खानपान गोष्ठी भी हुआ करती थी—अतः इस अवसर पर लोग मांस तथा मदिरा का खूब व्यवहार करते थे। यही कारण है कि सम्राट् ने बौद्ध-धर्म को ग्रहण करने के उपरांत इन समाजों को बुरा कहकर बन्द करवा दिया। निःसन्देह ये समाज हिंसात्मक तथा अमर्यादित होने के कारण धर्म को आघात पहुँचाने वाले थे। बुलेर की सम्मति में ये समाज राजविद्रोहात्मक भी हुआ करते थे। अतः सम्राट् का इन समाजों को बन्द करवाना अनिवार्य एवं नीतियुक्त था। इसके अतिरिक्त एक और प्रकार का समाज भी हुआ करता था—इस समाज को सम्राट् ने अच्छा कहा है। यह समाज क्यों अच्छा था—इसका स्पष्टीकरण चतुर्थ शिलालेख कर देता है। चतुर्थ शिलालेख में सम्राट् कहते हैं—"अज देवेन प्रियस प्रियद्रशिनेर ने ध्रमचरणेन भेरिघोषे, अहो ध्रमघोषे विमन द्रशन, अगिकन्धानि अंजनि च, दिविन रुपनि—द्रशेति जनस (मानसेरा)।" अर्थात् "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण के फलस्वरूप भेरीनाद (वीरघोष) धर्मघोष हुआ तथा लोगों को विमान के दर्शन, हस्तियों के दर्शन, अग्निस्कंध आदि अन्य दिव्य रूपों के दर्शन कराये गये।" इस वृत्त से प्रकाशित होता है कि इस दूसरे प्रकार के समाज में

[१] Meta Buhler ZDMG X X-VII, PP. 93-4—Meta order Meta.

[२] J. R. A. S. PP. 93.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विमान के दर्शन, हस्तियों के दर्शन, अग्निस्कंध आदि धार्मिक दिव्य रूपों के दर्शन कराये जाते थे और इसी कारण यह समाज अच्छा माना जाता था।

कलिंग-विजय और सम्राट् का धर्म-परिवर्तन--अशोक के जीवन की एक बहुत महत्त्वपूर्ण घटना है—कलिंग का युद्ध। कलिंग-युद्ध सम्राट् अशोक के जीवन का परिवर्तन-काल माना जा सकता है, अपितु यह युद्ध सम्राट् के जीवन को—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध—दो भागों में बाँट देता है ! पूर्वार्द्ध जीवन जन्म से प्रारम्भ होकर कलिंग-युद्ध में समाप्त हो जाता है। इसके बाद अशोक के उत्तरार्द्ध-जीवन का दूसरा भाग आरम्भ होता है। इस भाग में सम्राट् अपने नवीन रूप में धर्मघोष करते हुए प्रकट होते हैं और अन्त तक धर्म-पराक्रम करते हुए चले जाते हैं।

इतिहास के चरित्राख्यानों में हम कोई भी चरित्र ऐसा नहीं पाते जिसका हृदय बच्चों जैसा कोमल, फूलों के समान सुन्दर भावनाओं से सुरभित, कवि-सा भावुक और राजा होते हुये भी मानवीय गुणों से परिपूर्ण रहा हो। किन्तु ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत के इतिहास में एक ऐसे ही चरित्र का प्रादुर्भाव हुआ था, जो विश्व के इतिहास में भिक्षु सम्राट् अशोक के नाम से प्रख्यात हुआ।

सम्राट् अशोक मुख्यतः मानव थे। एक समय राजकीय भावावेश में आकर अशोक ने युद्ध में परास्त कर कलिंग को विजय किया, किन्तु विजय करने के उपरान्त सम्राट् को भलीभाँति मालूम हो गया कि 'विजय' और 'युद्ध' का अर्थ कितना भयानक और भीषण है। युद्ध के दानवी परिणामों को देखकर सम्राट् का कोमल हृदय विचलित हो उठा और यह युद्ध अन्त तक सम्राट् के जीवन-मार्ग का 'पाषाण' (Mile Stone) बनकर रहा। यह कलिंग-युद्ध सम्राट् अशोक का प्रथम और अन्तिम युद्ध था। इस भयंकर युद्ध का वर्णन करने से पहले पाठकों को अशोक के समकालीन कलिंग देश की एक झाँकी दिखला देना आवश्यक है। इससे पढ़नेवालों को विदित हो जायगा कि विजित होने से पहले कलिंग की क्या अवस्था थी ?

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कलिंग प्रांत का वर्णन करते हुए चीनी यात्री ह्वेनसांग लिखता है—"इस कलिंग प्रदेश की परिधि २०० ली है। इसकी राजनगरी २० ली है। यह प्रांत खूब उपजाऊ है। यहाँ खेती का कार्य विधिवत् किया जाता है। यह प्रदेश फल और फूलों के वृक्षों से गुलजार है। इस प्रदेश में सैकड़ों ली तक विस्तृत फैले हुए मनोरम वन्य और अटवी (जंगल) हैं। यहाँ बड़े-बड़े भूरे हाथी पाये जाते हैं। इन हाथियों की पड़ोसी देशों में बड़ी माँगों है। जलवायु सूर्योत्पल और तापपूर्ण है। यद्यपि यहाँ के लोग अधिकतर रूक्ष और असभ्य हैं, किन्तु वे सत्यवादी तथा विश्वसनीय हैं।" कलिंग देश का यह वर्णन उस समय का है जब ह्वेनसांग ने भारत पर्य्यटन किया था। आगे चलकर ह्वेनसांग फिर लिखता है—"प्राचीन काल में कलिंग का राष्ट्र बहुत ही घना बसा हुआ था। यहाँ की जनसंख्या अगण्य थी। यहाँ के लोगों के कंधे (स्कंध) एक दूसरे से रगड़ खाते, वहाँ के लोगों के रथ, के पहिये (धुरियाँ) आपस में टकराते थे; अपितु जब वे अपने हाथों की आस्तीनों को ऊपर उठाते थे तो एक सम्पन्न उपकारिका या खेमा तैयार हो जाता था। वहाँ एक पाँच आध्यात्मिक शक्तियोंवाला ऋषि उच्चस्थान पर समाधि लिए पवित्र मन्त्रों को जपा करता था। अपनी शक्ति के क्षीण होने पर कलिंग के लोगों ने उसका तिरस्कार किया। इस तिरस्कार से क्रुद्ध हो ऋषि ने शाप दिया कि कलिंग की सभी जनता वृद्ध, बाल, युवा—सब विनष्ट हो जायँ। इस दुर्वृत्त शाप के फलस्वरूप ज्ञानी, भोले, सरल निरपराध, तरुणी, युवा, बच्चे सबकी एक ही गति हुई। इस प्रकार कलिंग की सम्पूर्ण जनता तिरोधान हो चली।"[1]

यह वृत्त सम्राट् के शिलालेख में दिये हुए भयानक हत्याकांड का साक्षी है, अपितु उसी हत्याकांड का उल्लेख करता हुआ-सा मालूम पड़ता है। इन विवरणों से ज्ञात होता है कि कलिंग एक सुसम्पन्न और समृद्धिशाली प्रांत था। इस देश की जनसंख्या अगण्य थी। यह प्रांत काफी उपजाऊ था और

[1] Si-yu-ki, S. Beal, V. II, pp. 207-8.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लोग हर्षोत्पल थे। वहाँ के हाथी हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ हुआ करते थे। ये हाथी बहुमूल्य थे क्योंकि प्राचीन काल में हाथी-सेना ही प्रधान शक्ति समझी जाती थी। इन्हीं हाथियों को देखकर सिकन्दर महान् भी भयार्त्त हो उठा था। ऐसे समृद्धिशाली देश, विशाल जनसंख्या और हस्तियों के प्रदेश का राजा कैसा शक्तिवान् होगा, इसका अनुमान मेगस्थनीज के वर्णन से किया जा सकता है। वह लिखता है—"कलिंग राज के शरीर-रक्षकों में ६०,००० पैदल, १०,००० अश्वारोही और ७०० हाथी थे।"[1]

सम्राट् के शिलालेख से भी हमको कलिंग की अपार सेना का उल्लेख मिलता है। १३वाँ शिलालेख लिखता है—"अभिषिक्त होने के आठवें वर्ष, देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिंग विजय किया। यहाँ से डेढ़ लाख मनुष्य बाहर ले जाये गये, एक लाख आहत हुए और उससे कई अधिक मरे।"

इस शिलालेख से साफ मालूम होता है कि कलिंग की सैन्य की संख्या बहुत भारी थी—यहाँ से डेढ़ लाख आदमी कैद कर बाहर ले जाये गये, एक लाख आहत हुए और जो मरे यदि उनकी संख्या आहत होने वालों से तिगुनी ली जाय अर्थात् उनकी संख्या तीन लाख हो तो कुल सैन्य की संख्या होगी = $१\frac{१}{२} + १ + ३ = ५\frac{१}{२}$ लाख। अतः स्पष्ट है कि कलिंग जैसे छोटे प्रदेश के वीर सैनिकों की संख्या, जिसने सबल राष्ट्र के अनुचित आक्रमण के विरुद्ध स्वतन्त्रता की वेदी पर सहर्ष अपने प्राणों की आहुति दी, निःसंदेह साढ़े पाँच लाख के लगभग थी।

प्रकट है कि कलिंग राज की विशाल वीर वाहिनी एक प्रबल राष्ट्र की सेना से किसी भी प्रकार कम न थी। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि अशोक ने कलिंग राष्ट्र को विजय करने की क्यों ठानी? तथा सम्भवतः इसका कारण क्या हो सकता है? इस प्रश्न को श्री भंडारकर इस प्रकार हल करते हैं। "कलिंग सम्राट् अशोक की अन्तर राजनीति (body-politic),

---

[1] [Fragsn. I. VI.]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में कंटक स्वरूप था। १३वें शिलालेख से ज्ञात है कि आंध्र और परिन्दा के प्रांत अशोक के साम्राज्य के अन्तर्भूत थे। सामान्यतः आन्ध्र, कृष्णा और कावेरी-मण्डल (जिले) का प्रदेश था। क्योंकि सम्राट् की राजनगरी पाटलिपुत्र थी, अस्तु यह अनुमान करना असंगत नहीं कि वर्तमान बंगाल का गुरुतर भाग साम्राज्य के अन्तर्गत था। इससे ज्ञात होता है कि (यदि मेरा अनुमान सत्य हो) "परिंदा" सम्भवतः साम्राज्य की पूर्वी सीमा पर, कहीं बंगाल में था। इस तरह कलिंग अन्तर-राजनीति में एक कील की तरह गढ़ा था, जो कभी भी दक्षिण के चोल-राज्य से गुप्त-मन्त्रणा कर सकता था। अतः राष्ट्र की कुशलता और एकीकरण के लिए कलिंग विजय करना परम आवश्यक था और यही सम्राट् ने किया भी।"

उपरोक्त कारण के अतिरक्त हम इस युद्ध के कुछ और कारणों का अनुमान भी कर सकते हैं। खाराभेल-लेख से मालूम होता है कि कलिंग नन्दवंशीय राजाओं के अधिकार में था; किन्तु जिस समय मौर्य चन्द्रगुप्त ने विद्रोह किया, सम्भवतया उसी समय कलिंग भी मगध राष्ट्र से स्वतन्त्र हो चला था। अतः कलिंग नन्दवंशीय राजाओं के समय से ही मगध-साम्राज्य का एक अंग था। इसलिए मगध-राष्ट्र के खोये हुए प्रान्त को फिर से उपलब्ध करने की अभिलाषा से भी प्रेरित होकर अशोक ने कलिंग पर चढ़ाई की थी। अतः स्पष्ट है कि मगध-साम्राज्य कलिंग पर अपना स्वत्व समझता था, जिस हेतु उसको असंख्य प्राणियों का रक्त बहाना पड़ा। दूसरा सम्भव कारण कलिंग की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शक्ति थी। कलिंग एक समृद्धशाली एवं वीर प्रदेश था। उसकी सेना असंख्य थी तथा वह सर्व प्रकार उन्नति पर था। अतः मौर्य-साम्राज्य के लिए उसकी प्रबलता घातक बन रही थी। कलिंग के कारण मौर्य-राष्ट्र का एकीकरण होना भी असम्भव था, अपितु कलिंग की प्रबलता एक दिन मौर्य-साम्राज्य के लिए घातक भी हो सकती थी।

अतः इन्हीं सब कारणों से कलिंग विजय करना आवश्यक था। किन्तु इस विजय का परिणाम क्या हुआ—यह "धर्म" के अगले प्रकरणों से मालूम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होगा। वस्तुतः यह युद्ध कलिंग विजय समेत "आध्यात्मिक" विजय का भी कारण हुआ। इस युद्ध के समय से ही सम्राट् का धार्मिक जीवन प्रारम्भ हुआ और अब सम्राट् की विजय शस्त्र के अलावा धर्म से चरितार्थ की जाने लगी। कलिंग-युद्ध के अनन्तर सम्राट् ने कहा था—"भेरीघोष अब धर्मघोष में परिवर्तित कर दिया गया है।"

कलिंग-युद्ध के सिवा शिलालेखों से हमें किसी अन्य युद्ध का उल्लेख नहीं मिलता है, अतः प्रतिज्ञानुसार कलिंग-विजय के बाद सम्राट् ने शस्त्रों से विजय करना छोड़ दिया। कश्मीरी गाथाओं के अनुसार अशोक ने कश्मीर को भी विजय किया था, किन्तु कश्मीर की विजय निःसन्देह कलिङ्ग से पहले की है तथा संभवतया कश्मीर को चन्द्रगुप्त मौर्य ने ही पहले विजय कर लिया था।

कलिङ्ग-युद्ध के पश्चात् सम्राट् का उत्तरार्द्ध जीवन आरम्भ होता है—यह जीवन सम्राट् के धर्म-पराक्रम, धर्म-विजय तथा धर्म-प्रचार का जीवन है। इसका वर्णन अगले प्रकरणों में किया जायगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दूसरा प्रकरण

साम्राज्य की सीमाएँ और विस्तार

इतिहास की धुँधली गोधूलि में खड़े होकर हमें अशोक के साम्राज्य का पता लगाने में तथा उसकी नियमित सीमाओं को निर्धारित करने में पुनः शिलालेख आदि के धीमे प्रकाश को ही हाथ में लेकर चलना पड़ता है। बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित हो आती है यदि सम्राट् अशोक उस दूरस्थ विगत-काल से शिलालेखों के माध्यम द्वारा अपनी उस पावन वाणी में हमसे बातें न करता—वह वाणी जो अभी भी पाषाणों में जीवित है और हमें द्रवीभूत करती है।

अशोक प्रतापी मौर्य चन्द्रगुप्त का पोता था, जिसने, जैसा कि पहले कह चुके हैं, जनरल सेल्यूकस के, सिकन्दर की विजयों को पुनर्जीवित करने का उपक्रम विनष्ट कर उत्तरी भारत पर एकच्छत्र शासन स्थापित किया था। इस भाँति मौर्य राज्य एक सुदृढ़ राष्ट्र था जिसका अधिपति धार्मिक अशोक हुआ। उन्हें इसके विस्तार तथा रक्षा के लिए खड्ग की शरण न लेनी पड़ी। अशोक ने करीब २६१ ई० पू० में केवल कलिङ्ग विजय किया था। इस कलिङ्ग युद्ध के पश्चात् सम्राट् का नवीन जन्म हुआ। इस युद्ध की भीषणता से सम्राट् दुखित हो चले। तत्पश्चात् उन्होंने बुद्ध के कल्याण-मार्ग का अनुसरण किया और शस्त्रों की विजय त्याग कर धर्म-विजय आरम्भ की। उस धर्मविजयी सम्राट् का साम्राज्य कहाँ तक निश्चित रूप से फैला हुआ था, इसी विषय की हम इस प्रकरण में यथासम्भव पूर्णरूप से विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे।

प्रथम, अशोक के राज्य का विस्तार हम शिलाभिलेखों तथा स्तम्भों के भौगोलिक विभाजन से मालूम करते हैं। ये शिलाभिलेख समस्त भारतवर्ष

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में मिलते हैं। शिलाभिलेखों द्वारा हमें दो तरह से राज्य की सीमाओं का ज्ञान होता है। एक तो जिन जगहों पर वे पाये जाते हैं, (अर्थात् शिलालेखों और स्तम्भों के भौगोलिक विभाजन से ही) तथा जो उनमें लिखा है उससे, (अर्थात् शिला और स्तम्भों की लेखमाला से)। इन दो आधारों पर ही हम उनके साम्राज्य का विस्तार मालूम कर सकते हैं।

शिलालेखों आदि के भौगोलिक बँटवारे का निदर्शन करने के लिए प्रथम उत्तर से ही चलिये। उत्तर की ओर चतुर्दश शिलालेखों की तीसरी प्रति हमें कालसी नामक एक गाँव में उपलब्ध होती है। कालसी देहरादून जिले के अन्तर्भूत है। यह गाँव चकरौता के रास्ते में पड़ता है। यह प्रति उसी जगह पर पायी गयी है, जहाँ पर से यमुना अपने जन्मदाता हिमालय की गोद से विदा लेती है।

पश्चिम की ओर चलते हुए हमें चौथी और पाँचवीं दो प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। इनमें से एक प्रति 'मानसेरा' में पायी गयी है। यह मानसेरा, ऐबटाबाद से १५ मील की दूरी पर उत्तर की ओर हजारा जिले में है। दूसरी 'प्रति' पेशावर जिले के शाहबाज़गढ़ी नाम के स्थान पर पायी गयो है। शाहबाज़गढ़ी पेशावर के उत्तर-पूर्व में चालीस मील की दूरी पर है। यहाँ से दक्षिण की ओर मुड़ते हुए, पश्चिमी किनारे पर पहुँच कर, हमें एक और 'प्रति' गिरनार या जूनागढ़ के समीप सौराष्ट्र (काठियावाड़) में मिलती है। ये लेख सुरम्य झील के ऊपर एक पाषाण पर खुदे हैं। यह झील 'सुदर्शना' झील के नाम से प्रख्यात है। रुद्रदमन के लेख से (१५० ई०) विदित है कि यह मनोहारी झील जूनागढ़ के समीप रैवा तक और ऊरायत पहाड़ियों पर पालासिनी तथा अन्य नदियों के पानी को रोक कर, मौर्य्य-राजाओं द्वारा निर्मित की गयी थी।

दूसरी प्रति सोपारा, थाना जिले में मिली है। सोपारा वम्बई से ३७ मील उत्तर की ओर है। चतुर्दश शिलालेखों की एक दूसरी 'प्रति' हाल ही में, मद्रास प्रान्त में कुरनूल जिले के, एरागुढ़ी (Yerragudi)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नामक स्थान पर उपलब्ध हुई हैं। दूसरा शिलालेख हमें धौली में प्राप्त हुआ है। धौली पुरी जिले में भुवनेश्वर के पास स्थित है। एक अन्य प्रति जौगुडा में मिली है। जौगुडा गंजाम जिले में ऋषिकुल नदी के ऊपर स्थित है। इसके अलावा गौण शिलाभिलेखों की प्रतियाँ उत्तर मैसूर के चिन्नल-दुर्ग जिले में, निम्न स्थानों पर पायी गयी हैं—सिद्धपुर, जतिंग, रामेश्वर और ब्रह्मगिरि। जबलपुर के पास रूपनाथ नामक एक तीर्थ-यात्रा का स्थान है। यहाँ पर भी गौण-शिलाभिलेख की एक प्रति उपलब्ध हुई है। बिहार प्रान्त के सहसराम नामक स्थान पर भी गौण-शिलाभिलेख की प्रति मिली है। बैराट, जयपुर-राजपूताना में भी गौण-शिलालेख उपलब्ध हुआ है। बैराट की एक दूसरी पहाड़ी पर आबरू में भी गौण-शिलालेख की प्रति प्राप्त हुई है। इसके अलावा निज़ाम के राज्य में मास्की नामक स्थान पर भी गौण-शिला-लेख उपलब्ध हुआ है। इन शिलाभिलेखों के स्थानों का निदर्शन कर अब स्तम्भलेखों के स्थान का निर्णय किया जायगा।

स्तम्भलेख निम्नलिखित स्थानों पर स्थापित किये गये थे—(१) अम्बाला के पास तोपारा में, (२) मेरठ में—कहा जाता है कि इन दोनों स्तम्भों को देहली का सुल्तान फ़ीरोज़शाह तुगलक बड़ी कठिनाई एवं प्रयत्न के साथ देहली ले गया था। इन स्तम्भों के ले जाने के हेतु ४२ पहियों की गाड़ी बनायी गयी थी। प्रत्येक पहिये पर रस्सी बँधी थी और प्रत्येक पहिये को खींचने के लिए दो सौ आदमी तैनात थे। (३) तीसरा स्तम्भ 'कौसाम्बी' में खड़ा किया गया था। इस स्तम्भ को सम्भवतया अकबर कौसाम्बी से हटाकर इलाहाबाद ले गया था। (४) चौथा स्तम्भ लौरिया अराराज (चम्पारन जिले के राधिया नामक स्थान पर)। (५) लौरिया नन्दनगढ़ (चम्पारन जिले में ही)। (६) रामपुरवा (चम्पारन जिले में)।

गौण-स्तम्भलेखों के स्थान जहाँ वे पाये गये हैं :—

(१) बनारस के पास सारनाथ में,
(२) नेपाल के रुमिनिन्दी नामक स्थान में,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

(३) निगलिवा (नैपाल की तराई में)।

शिलालेखों, गौण-शिलाभिलेखों, स्तम्भों और गौण-स्तम्भों के इस विस्तृत भौगोलिक विभाजन से स्पष्ट है कि अशोक का साम्राज्य अत्यन्त विशाल था। उसके शासन-सूर्य की प्रखर स्वर्णिम किरणें हिमालय के श्वेत मस्तक का आलिंगन करती हुई समुद्र के अधरों का चुम्बन करती थीं। इसी से चतुर्दश शिलालेख में सम्राट् गौरव के साथ कहते हैं, "मेरा साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत है और पृथ्वी (सम्पूर्ण विश्व) मेरे अधीनस्थ है।" सम्राट् का यह कथन निःसंशय अक्षरशः सत्य है।

शिलाभिलेखों और स्तम्भलेखों के अतिरिक्त सम्राट् के स्तूपों से भी साम्राज्य का विस्तार मालूम होता है।

एक समय सम्राट् ने आचार्य मोगालिपुत्त तिस्स से पूछा—"भगवान् के क्या सिद्धान्त हैं?" इस पर मोगाली के पुत्र तिस्सो ने उत्तर दिया। जब राजा को मालूम हुआ कि धर्म के ८४,००० मत या अभिप्राय हैं—वह चिल्लाया, "मैं प्रत्येक के लिए एक विहार समर्पित करूँगा।" चौरासी हजार विहारों के लिए नब्बे हजार (९०,००० घोड़े) कोटि खजाना वितरण करते हुए अशोक ने स्थानीय राजाओं द्वारा जम्बूद्वीप के चौरासी हजार नगरों में विहार बनवाये और पाटलिपुत्र (पुष्पहपुर) के 'अशोकराम' विहार का कार्य अपने आप लिया।[1] इसी गाथा को फाहियान ने दूसरे ही शब्दों में लिखा है, इस वर्णन के अनुसार "अशोक आठ स्तूपों (तोप) को नष्ट कर उनकी जगह चौरासी हजार (८४,०००) तोप अथवा स्तूप बनाना चाहता था।"[2] गाथाएँ जो कुछ भी कहें, किन्तु अशोक से निर्मित कुछ स्तूपों का अवश्य पता लगा है। कश्मीर और नैपाल में अशोक के स्तूपों का पाया जाना इस विषय के प्रमाण हैं कि ये दोनों देश साम्राज्य के अन्तर्गत थे। कल्हण की राजतरंगिणी (ग्रंथ १, १०१, १०७)

---

[1] महावंश, प्रकरण ५

[2] Legge's—p. 69

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के अनुसारा जैसा कि पहले कह आये हैं अशोक कश्मीर का सम्राट् था। कश्मीर की राजनगरी श्रीनगर का निर्माण अशोक ने ही करवाया था। नैपाल में भी अशोक ने एक और नगर बनवाया था।

ह्वेनसांग को काफिस (काफिरस्तान) में भी अशोक के स्तूप मिले थे। जलालाबाद (उत्तर-पश्चिम में) और उदयन में भो ह्वेनसांग ने अशोक के स्तूपों को देखा था। ताम्रलिप्ति में भी सम्राट् का स्तूप था, इससे सिद्ध होता है कि बंगाल भी साम्राज्य के अन्तर्गत था। ताम्रलिप्ति (बंगाल) प्राचीन काल में एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। दक्षिण के यात्री बहुधा इसी बन्दरगाह से सामुद्रिक यात्रा किया करते थे। ह्वेनसांग को एक और स्तूप समाताता (ब्रह्मपुत्र का डेल्टा) की राजनगरी में भी मिला था। इनके अलावा कई अन्य स्तूप निम्नलिखित स्थानों पर मिले थे :—

(१) पुण्यवर्धन (उत्तरी बंगाल)।
(२) कर्नसुर्वन (वर्तमान वर्दवान)।
(३) वीरभूमि।
(४) मुर्शिदाबाद (जिले में)।
(५) चोड़ (प्रांत)। ह्वेनसांग को यहाँ एक स्तूप मिला था।
(६) द्रविड़—यहाँ भी ह्वेनसांग ने (अशोक का) स्तूप देखा था।

इन स्तूपों से भी साम्राज्य के विस्तार पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। महावंश के अनुसार तथा राजशास्त्र के अनुसार भी, जहाँ कहीं स्तूप पाये जाते हैं, उन सबका अधीनस्थ होना अनिवार्य है। राजा अपने अधीनस्थ प्रदेशों में ही स्तूप का निर्माण करवा सकते थे।

साम्राज्य के विस्तार अथवा राज्य की सीमाओं को निर्धारित करने के लिए शिलाभिलेखों की अन्तरङ्ग साक्षी भी बड़े काम की वस्तु है। इन शिलालेखों में अशोक ने अपने समकालीन राजाओं का उल्लेख किया है। इन लेखों को ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से साम्राज्य का विस्तारपूर्ण रूप से निर्धा-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रित हो सकता है। सीमाओं का निर्णय करने के लिए द्वितीय, पंचम और त्रयोदश शिलालेख प्रमुख अर्थ के हैं।

द्वितीय शिलालेख गिरनार लिखता है—"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने अपने विजित राज्य में तथा अन्य सीमान्त प्रदेशों में जैसे—चोड़, पाण्डच, सत्यपुत्र (या सत्यपुत) केरलपुत्र (पुत) और ताम्रपर्णी के प्रदेशों में तथा यवनराज एंटीओकस और अन्य राजा जो उस एंटीओकस के पड़ोसी राजा हैं (वहाँ) (और) प्रत्येक जगह दो प्रकार की चिकित्साओं—(मनुष्यों की चिकित्सा और पशुओं की चिकित्सा) का प्रबन्ध करवाया है।"

पंचम शिलालेख मानसेरा में महामात्रों का उल्लेख करते हुए सम्राट् कहते हैं—"विगतकाल में धर्ममहामात्र न नियत किये जाते थे (न थे)। किन्तु अभिषिक्त होने के तेरहवें वर्ष मैंने धर्ममहामात्रों को नियत किया। वे सब सम्प्रदायों (धर्मों) में धर्म की स्थापना और उन्नति के लिए नियत हैं। वे धर्मगामी लोगों के सुख और भलाई के लिए नियत हैं। वे यवन, कम्बोज, गांधार, राष्ट्रिकों, पैठानिकों तथा पश्चिमी सीमा-प्रान्त (के लोगों) या (अपरन्ता) के अन्य लोगों के लिए नियत हैं। वे भट और दास वेतनभोगी नौकरों, ब्राह्मण, साधु और गृहस्थों, असहायों और जीर्ण (बुड्ढों) की भलाई और सुख के लिए नियत हैं तथा धर्मानुगामी लोगों की रक्षा के लिए नियुक्त हैं।"

त्रयोदश शिलालेख शाहबाजगढ़ी लिखता है :—

"ऐसा कोई जनपद नहीं है जहाँ ये वर्ण (जातियाँ) न पाये जाते हों। सिवाय यवन जनपद के ऐसा कोई जनपद नहीं है जहाँ के मनुष्यों की किसी न किसी धर्म में प्रीति न हो। कलिङ्ग-युद्ध में जितने लोग आहत हुए, निधन किये गये और बन्दी बनाये गये, यदि उनका सौंवाँ या हजारवाँ भाग भी आहत किया जाता, निधन किया जाता या बन्दी बनाया जाता तो आज यह देवताओं के प्रिय को असीम दुःखदायक होता। देवताओं के प्रिय का मत है कि जो बुराई करे उसे भी यदि हो सके तो क्षमा किया जाय। जो वन-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निवासी देवताओं के प्रिय के विजित राज्य में हैं, उनको भी वह मानता है और धर्म-मार्ग पर लाना चाहता है कि जिससे देवताओं के प्रिय को पछतावा न हो। उन्हें यह बता दिया गया है कि देवताओं के प्रिय के पछतावे में भी कितनी शक्ति है। जिससे वे अपने दोषों पर लज्जित हों और नष्ट न हों (मारे न जायँ)। देवताओं का प्रिय सर्वजीवों की अक्षति, संयम, समता (अपक्षपात) और आनन्द का अभिलाषी है। जो धर्म-विजय है (वही) उसे ही देवताओं का प्रिय अच्छा समझता है। यह विजय (धर्म-विजय) देवताओं के प्रिय को यहाँ (अपने विजित राज्य में) तथा सब सीमांत प्रदेशों में छः सौ योजन तक जहाँ यवन-राज अंतियोकस तथा अन्य चार राजा टालिमी (तुरमय), अन्तिगोनस (अन्तिकिन), मग तथा अलिकसुन्दर (के राज्य) हैं तथा नीचे (दक्षिण की ओर) (जहाँ) चोड़, पांड्य तथा ताम्रपर्णी हैं (यह धर्म-विजय) प्राप्त हुई है।''

उक्त शिलालेखों से हमें दो प्रकार के राज्यों अथवा राजाओं का पता लगता है। इन दो प्रकार के राज्यों में से कुछ राज्य (राजा) साम्राज्य की सीमाओं पर थे। ये राज्य बहुधा स्वतन्त्र वा अर्द्ध-स्वतन्त्र थे। अन्य राज्य वे थे जो विजित होने से साम्राज्य में सम्मिलित थे। शिलाभिलेखों में अशोक के समकालीन इन राजाओं का नाम दिया गया है–(१) तुरमय (टालिमी), अन्तिगोनस (अन्तिकिन), मग, अलिकसुन्दर। ये राजा स्वतन्त्र थे; इन्हें अशोक के अधीनस्थ न लेना चाहिए।

साम्राज्य की दक्षिणी सीमा पर ये राज्य थे—(१) चोड़, (२) पांड्य, (३) सत्यपुत्र (सत्यपुत), (४) केरलपुत्र (केरलपुत) और (५) ताम्रपर्णी के राज्य। अशोक ने स्वयं इन राज्यों को सीमांत कहा है, अतः ये राज्य भी साम्राज्य से अलग स्वतन्त्र थे (१३वाँ प्रज्ञापन)।

१३वें शिलालेख शाहबाजगढ़ी में निम्न राज्य—यवन, कम्बोज, भोज, पितनिक, आंध्र और पुलिंद[1]—साम्राज्य के अन्तर्भूत दिये गये हैं। किन्तु

[1]इन राज्यों का महाभारत में भी उल्लेख आया है—महाभारत शांति-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पंचम शिलालेख में इन्हीं को (राज्यों को) पश्चिमी सीमा पर अवस्थित बतलाया गया है।

साम्राज्य के विस्तार को व्यवस्थित रूप से निर्धारित करने के लिए इन उपरोक्त यवन (वैदेशिक) राज्यों के निर्दिष्ट स्थान का ठीक-ठीक निश्चय करना आवश्यक है। प्रथम यवन-राज्यों को ही लीजिए। ये यवन कौन थे तथा उनके राज्य कहाँ-कहाँ पर थे। यवन, यूनानी (यूनान के Greeks) थे यह तो निश्चय ही है, परन्तु उनके राज्य किन-किन स्थानों पर थे, यही हमको देखना है। **एक बात कम से कम सम्राट् के १२वें शिलालेख से स्पष्ट ही है कि वे साम्राज्य में सम्मिलित थे। अतः साम्राज्य के किस भाग पर स्थित थे? क्योंकि निःसन्देह साम्राज्य के अन्तर्गत होने से, यह सत्य ही है कि वे ग्रीक या सीरिया के यवन न होंगे।** इन यवनों के विषय में श्री आर० के० मुकर्जी लिखते हैं—"ये यवन निश्चय ही यूनानी होंगे। आयोनियन्स (Ionians) जो अशोक के साम्राज्य के अपरन्ता प्रांत में बस गये थे। उनके निर्दिष्ट स्थान का अनुमान कम्बोजों के समीपस्थ किया जा सकता है, जिनके साथ शिलालेख में उनका समागम किया गया है। मनु भी यवन और कम्बोजों का साहचर्य प्रकट करता है। कम्बोज काबुल नदी पर अबस्थित थे तथा यवन भी। यह यूनानी उपनिवेश जैसवाल द्वारा नीसा की सिटी-स्टेट (City State of Nysa) के तुलीकृत (मिलाया गया) किया गया है। सिकन्दर और उसकी सेना को, हैलेनिक रीति-रिवाजों को देखकर, नीसा में घर की अनुभूति मालूम हुई थी। नीसा के अधीश का नाम अकौभी (Akoubhi) था, इस नाम की उत्पत्ति काबुल नदी के वैदिक नाम कुभा से है। लैसन (Lassen) ने इसको इंडस (Indus) के किसी पश्चिमी प्रांत

पर्व ६५ अध्याय, १७ श्लोक—यवना··गांधारा··ह्यवाश्चान्ध्र भद्रकाः (आन्ध्र) पुलिन्दा, काम्वोजा····· ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से मिलाया है, जिसे सिल्यूकस ने (सन्धि में) अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त को प्रदान किया था। एक बात का और ध्यान रखना चाहिए कि यवन-रथा (Yona-rattha—यवनों का प्रदेश) उन प्रदेशों में से एक था, जहाँ महावंश के अनुसार अशोक के नेतृत्व में की गई तीसरी बौद्ध सभा द्वारा बौद्ध-धर्म-प्रचारक भेजे गये थे। साइरस (Cyrus), डेरियस् (Darius) और ज़रक्सीज़ (Xerxes) के समय में ही तथा जब पर्शिया के साम्राज्य और हेलास के मध्य युद्ध हुआ था तभी यवन, आयोनियन्स या ग्रीक लोग अपने देश को छोड़कर इधर चले आये थे। भारत की सीमा के बाहर इनका प्रथम उल्लेख पाणिनि के यवनानी-लिपि (IV-i-49) और मज्झिम निकाय (Majjihima Nikaya) के उद्धरण से मिलता है।"[1]

"यवन—उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त पर जो यवन (ग्रीक) बस गये थे। कुछ लोग इनमें गुजरात में बसे हुए शक आदि को भी शामिल करते हैं। किन्तु गान्धार और कम्बोज के सान्निध्य से तथा उस बात से कि गुजरात साम्राज्य का अंग था—यह ठीक नहीं जान पड़ता।"[2]

१३वें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं—"कोई ऐसा प्रदेश नहीं है जहाँ ब्राह्मण और श्रमण आदि सम्प्रदाय न हों, सिवाय यवनों (यवन-जनपद) के।" इस उद्धरण से मालूम होता है कि इन यवन-प्रान्तों पर आर्य-सभ्यता और संस्कृति का अधिक प्रभाव न था तथा ये लोग हैलेनिक-सभ्यता अर्थात् यूनानी सभ्यता के ही पोषक और उपासक थे।

पाँचवाँ शिलालेख मानसेरा लिखता है-"वे (महामात्र) यवनों, कम्बोजों, गान्धारों, राष्ट्रिकों, पैठानिकों तथा पश्चिमी सीमा-प्रान्त में रहनेवाले लोगों या अपरन्ता के अन्य लोगों के लिए नियत हैं।" इस पद से सर्वशः सुस्पष्ट

---

[1] R. K. Mookerjee, Ashoka—pp. 168

[2] अशोक की धर्म-लिपियाँ—काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है कि शिलालेख में वर्णित यवन-जनपद अथवा राज्यों से अभिप्राय यूनान या सीरिया के यवन-राज्यों से नहीं है, अपितु ये राज्य भारत की सीमा पर, यूनानियों से बसाये गये उपनिवेश थे। यूनानियों से उपनिवेशों का बसाया जाना बहुधा पाया जाता है। हैलेनिक सभ्यता को विकीर्ण अथवा प्रस्फुटित करने के उद्देश्य से जगह-जगह प्राचीन यवनों द्वारा उपनिवेश बसाये गये थे। इस रूप में मिस्र का उपनिवेश अग्रगण्य था—यहाँ पर यूनानी सभ्यता को यथेष्ट रूप से उत्कर्ष मिला था। प्रसिद्ध भूमितज्ञ अथवा रेखागणितज्ञ यूक्लिड यहीं पर हुआ था।

आश्वलायन से उच्चारित बुद्ध भगवान् के निम्न वाक्य—"क्या तुमने सुना है कि यवन, कम्बोज और दूसरे सीमा-प्रान्तों में केवल दो वर्ण अथवा सामाजिक वर्ग हैं, आर्य (विशिष्ट-वर्ग) और दास (नौकर) और आर्य दास हो सकता है तथा आर्य दास बन सकता है।" इस विवरण से स्पष्ट है कि बुद्ध और आश्वलायन के आद्य काल से ही तथा सिकन्दर के आक्रमण से कई वर्ष पूर्व यवन, कम्बोज आदि लोग उपनिवेश बनाकर भारतीय सीमाओं पर आ बसे थे। ये लोग भारतीय संस्कृति से अछूते रहे। भारतीय सभ्यता का उन पर कोई प्रभाव न पड़ा। इस उद्धरण से यह भी मालूम होता है कि यवन और कम्बोज दोनों समीपवर्ती प्रान्त थे। दोनों का साथ-साथ प्रयुक्त होने से यवन और कम्बोजों का साहचर्य स्पष्ट है। श्री भण्डारकर इस बात को अङ्गीकार करते हैं कि सिकन्दर के आने से पहले ही यवन लोग कोकिन और इण्ड्स नदी के मध्य उपनिवेश स्थापित कर रहने लगे थे।

यवन शब्द की उत्पत्ति—यवन शब्द का मूल आयोनियन है। आयोनियन जाति ही सर्वप्रथम व्यापारियों के रूप में बाहर निकली थी। पर्शियन लोग इन्हें यवन कहकर पुकारते थे तथा पीछे जो ग्रीक लोग आये उन्हें भी ये लोग यवन ही कहने लगे। यदि यवन लोग कोफन और इण्डस के मध्य में रहा करते थे, तो वह प्राचीन जगह—जिसके अवशेष शाहबाजगढ़ी के निकट, जहाँ पर अशोक का एक शिलालेख मिला है तथा जिसे ह्वेनसाङ्ग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पो-लु-शा लिखता है अशोक के बाहरी प्रांतों का प्रमुख स्थान था। अतः यवन साम्राज्य उत्तर-पश्चिम भाग में, कोफन और इण्डस के मध्य कम्बोज और गान्धार के समीपस्थ था।

कंबोज और गांधार—कंबोजों का प्रदेश यवनों के पास ही स्थित था। यह हम मालूम कर ही चुके हैं। महाभारत, बुद्ध के वार्तालाप तथा शिलालेख आदि में–सभी जगह यवनों, कम्बोजों और गान्धारों का साथ ही उल्लेख किया गया है। इन विवरणों से तीनों का सान्निध्य और साहचर्य स्पष्ट विदित होता है। जर्मन विद्वान हुल्स–कम्बोजों और गान्धारों को—यूनानी, काबुली तथा उत्तर-पश्चिमी पञ्जाबी कहता है। इस वृत्त से भी यवनों और कम्बोजों का सान्निध्य प्रकट होता है।

काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा से प्रकाशित अशोक की धर्मलिपियाँ प्रथम खंड, पृष्ठ ५१ नोट—६, गान्धार और कम्बोजों के प्रति इस तरह लिखता है, "गान्धार, कम्बोज—पूर्वी अफगानिस्तान से सिधु नदी तक के पश्चिमी हिमालय और पश्चिमोत्तर पंजाब के वासी जिनकी भाषा कहीं-कहीं ईरानी-सी थी—वर्तमान कंदहारी और काबुली।"

कम्बोजों के बारे में श्री भंडारकर लिखते हैं :—

"द्रोणपर्व में कम्बोजों की राजनगरी राजपुर का नाम आया है। यदि यह राजपुर ह्वेनसांग द्वारा वर्णित "हो-लो-शी-पू-लो" है, जिसको कनिंघम ने कश्मीर के दक्षिणी भाग पर अवस्थित राजौरी ठीक ही स्वीकृत किया है, तो कम्बोजों का प्रान्त ठीक तौर पर निश्चित किया जा सकता है। अतः कम्बोजों का प्रान्त राजौरी के ही आस-पास था तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त का हजारा जिला भी इसी में मिला हुआ था। इसके अलावा 'मानसेरा' भी, जहाँ पर अशोक के चतुर्दश शिलालेख की एक प्रति प्राप्त हुई है, इसी कम्बोज-प्रदेश के अन्तर्गत रहा होगा।" इन सब विवरणों से सर्वथा स्पष्ट है कि कम्बोज यवनों के पास ही अवस्थित थे। इनका प्रदेश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्तर-पश्चिमी सीमा पर था; तथा सम्भवतया ये लोग काबुली, गान्धारी और उत्तर-पश्चिमी पंजाबी तथा कश्मीरी थे।

नाभक, नाभपन्ति या नाभाक के नाभपन्दि, इनके प्रति बुलेर वैवर्त-पुराण से एक उद्धरण देता है। इस पद में नाभकपुर नाम के एक नगर का उल्लेख आया है। यह नगर उत्तरा-कुरुओं के अधीन था। इस विवरण से अनुमान किया जा सकता है कि नाभपन्ति या नाभक लोक उत्तर-पश्चिम में बसी हुई, हिमालय की कोई जाति थी। ये लोग कम्बोजों के पड़ोसी थे। पाँचवें शिलाभिलेख मानसेरा में नाभक की जगह गान्धार आया है, किन्तु तेरहवें शिलाभिलेख में नाभाक—कम्बोज और पितनिक के मध्य आया है। अतः श्री भंडारकर का कहना है कि "इसी हेतु हमें नाभपंतियों को एक ओर यवन और कम्बोजों के मध्य और दूसरी ओर भोज तथा पितनिकों के मध्य स्थित करना चाहिए।" फलतः नाभकों का प्रदेश उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रदेश और भारत के पश्चिमी तट के मध्य कहीं पर था।

राष्ट्रिक-पैठानिकों के बारे में श्री भंडारकर लिखते हैं :—

"अगन्तुर निकाय में राष्ट्रिक-पैठानिकों को गौण शासक के रूप में दिया गया है। इस शब्द का अर्थ—'वंशक्रमानुगत या मौरूसी अथवा जो निज सत्व का अधिकारी है'—से किया गया है। अतः शिलालेख के राष्ट्रिक-यवनिकों को सम्मिलित रूप में ही लेना चाहिए। राष्ट्रिक और पैठानिक अलग-अलग दो शब्द नहीं हैं। राष्ट्रिक-पैठानिक का अर्थ है—वह जो किसी राष्ट्र या प्रान्त का वंशक्रमानुगत (पितृक्रमागत) उत्तराधिकारी अथवा शासक है। हो सकता है कि आद्यकाल में उसका पूर्वज किसी सम्राट् द्वारा शासक (अधिपति) नियुक्त किया गया हो। भारतवर्ष में ऐसे शासकों की कमी न थी। दक्षिण के लेखों सेमालूम होता है कि वहाँ पर ऐसे कई सामन्त या शासक थे। इन्हीं को महारठि भी कहा गया है। बम्बई के थाना और कोलाबा जिलों तथा पूना के आस-पास के स्थानों पर वे सामंत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और महारठि शासन करते थे। तेरहवें शिलालेख के भोजपितनिक और पाँचवें शिलालेख के राष्ट्रिक भी इसी प्रकार के शासक थे।"

हुल्स लिखता है कि राठि, राष्ट्रि से अभिप्राय काठियावाड़ के लोगों से है; क्योंकि रुद्रदमन के जूनागढ़-लेख में उसके शासक (गवर्नर) का नाम राष्ट्रीय दिया गया है।

श्री भंडारकर के मतानुसार पितनिक किसी राष्ट्र विशेष से अभिप्राय नहीं रखता। अपितु उसका अर्थ वंशक्रमानुयायी (उत्तराधिकारी) से है जो भोज और राष्ट्रिकों के आगे विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है; किन्तु यह धारणा कुछ कमजोर-सी मालूम होती है, क्योंकि हमें विभिन्न प्रकार के पितनिकों का संदर्भ, जैसे—राठिक-पितिनिकान और राठिकानाम-पितिनिकानं तथा तेरहवें शिलाभिलेख में संयुक्त भोज-पितनिकेसु और पितनिकेसु मिलता है। बुलेर ने "विदर्भ" को भोजों का प्रदेश कहा है। हुल्स उनके प्रदेश को कहीं पश्चिम की ओर स्थित कहता है। भोजों का एक सम्राट् कश्मीर के राजा का समकालीन था, जैसा कि कल्हण लिखता है। संभव है कि कोशल और महा कोशल की तरह राष्ट्र और महाराष्ट्र भी रहे हों। यद्यपि राष्ट्र अब केवल शिलालेख में ही अवशिष्ट है। अलवर का एक हिस्सा अभी तक राठ कहलाता है। काठियावाड़ और मालवा का मध्य भाग भी राठ कहलाता है। सीमा-प्रान्त में तथा उत्तर गढ़वाल में भी राठ, आरट्ट जाति पायी जाती है, किन्तु इनसे यहाँ पर कोई तात्पर्य नहीं है। पैठानिक से अभिप्राय गोदावरी के तट पर स्थित प्रतिष्ठानपुर से है (बुलेर)। अतः ये नाम उन जातियों के हैं। संभवतया ये जातियाँ महाराष्ट्र (दक्षिण) के पड़ोसी प्रदेशों में रहती थीं। ये लोग अशोक के शासन में पूर्ण रूप से सम्मिलित न थे।[१]

---

[१]दक्षिण में आंध्र और सातवाहनकाल के लेखों में महा-रथी और महा-भोज सामन्तों के रूप में उल्लिखित हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपरन्ता—संस्कृत साहित्य में, पश्चिमी भारत के लिए प्रयुक्त हुआ मालूम पड़ता है। पुराण में भारतवर्ष के निम्न पाँच भाग किये गये हैं—(१) मध्यदेश या मध्यभारत, (२) उदीची (उत्तर), (३) प्राच्य (पूरब), (४) दक्षिणापथ (दक्षिण), और अपरन्ता (पश्चिम)। इन पाँच विभागों को काव्यमीमांसा इस प्रकार देती है—

(१) पूर्वदेश—वाराणसी से पूर्ववर्त्ती प्रदेश।

(२) दक्षिणापथ—माहिष्मती से दक्षिण की ओर विस्तृत प्रदेश।

(३) उत्तरापथ—पृथुदका के उत्तर ओर या थानेश्वर के पश्चिम का प्रदेश।

(४) अन्तर्वेदि—मध्यदेश, विनासेन और प्रयाग, गंगा और यमुना के मध्य का प्रदेश।

(५) पश्चिम देश—पश्चिमी प्रदेश, जिसे पुराणों में अपरन्ता कहा गया है, के अन्तर्भूत निम्न प्रदेश दिये गये हैं—देवसभा, सौराष्ट्र, दासरका (मालवा), भावन, भृगुकच्छ, कच्छछीया, आनर्त्त (गुजरात), अरबुदा (आबू पहाड़ के पास), यवन आदि। इस यवन आदि से मालूम होता है कि सम्राट् के शिलालेख में आये हुए—यवन, कम्बोज, गांधार, राष्ट्रिक, पितनिक सभी अपरन्ता के अन्तर्गत थे। पाँचवाँ शिलालेख मानसेरा इस पक्ष की पुष्टि करता है। यह शिलालेख लिखता है, "वे (धर्ममहामात्र) सब धर्मों (सम्प्रदायों) के लिए नियुक्त हैं। वे धर्म की स्थापना और वृद्धि के लिए हैं तथा धर्मगामिन लोगों के सुख और हित के लिए हैं। वे यवनों, कम्बोजों, गांधारों, राष्ट्रिकों, पैठानिकों और जो कोई भी पश्चिमी सीमा-प्रान्त या अपरन्ता के लोग हैं उनके (हित और सुख के लिए) लिए नियत हैं।" अतः यवन, कम्बोज आदि लोगों का प्रदेश पाश्चात्य प्रदेश अथवा अपरन्ता के नाम से विख्यात था। महावंश के अनुसार इस अपरन्ता को, तीसरी बौद्ध महासभा द्वारा, एक धर्म-मिशनरी (बौद्ध-धर्म-प्रचारक-संघ) भेजी गयी थी। पाली साहित्य के अनुसार अपरन्ता की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजनगरी शुरपराका, वर्तमान थाना जिले का सोपारा, जहाँ पर चतुर्दश शिलाभिलेखों की एक प्रति मिली है, थी। श्री जायसवाल ने अपरन्ता और अन्ता दो विरोधी शब्द लिए हैं—उनके अर्थानुसार "अन्ता" साम्राज्य के अन्तर्भूत लोग थे और "अपरन्ता" वे लोग थे जो साम्राज्य के बाहर बसे थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र शाम शास्त्री प्रकरण दो २,५०, "पश्चिमी प्रदेशों के हाथी अथवा अपरन्ता के हाथी, मध्यम प्रकार के होते हैं।" अतः कौटिल्य पश्चिम भारत के लिए अपरन्ता का प्रयोग करता है। इसी ग्रंथ भाग २ के २४वें प्रकरण में वारिष का उल्लेख करते हुए कहा गया है, "जंगल-प्रदेश में वर्षा का नाप १६ द्रोण है, जलार्द्र प्रदेशों (अनुपानं) में इससे आधा अधिक, और जो मुल्क (प्रदेश) खेती के योग्य हैं वहाँ २४ द्रोण, असम के प्रदेश में १३½ द्रोण, अवन्ती में २३ द्रोण और पश्चिमी प्रदेशों (अपरन्ता) में बहुत ज्यादा पानी बरसता है।" शाम शास्त्री ने अपरन्ता को "कोंकण" प्रदेश से मिलाया है।

अपरन्ता को पश्चिमी सीमांत प्रदेश के रूप में लेना चाहिए। गिरनार शिलालेख में यह पद दिया गया है, "इध राज विसयम्हि यो" अर्थात् "जो राज्य (राजा) साम्राज्य के अन्तर्गत हैं, किन्तु पूर्ण शासन में नहीं।" दूसरे शिलालेख में इन (अपरन्ता) के लिए 'विजितसि' आया है—"सवता विजितसि देवानां पियसा पियदसिसा लाजिने।" अतः संभवतया 'अपरंता' पश्चिमी सीमांत प्रदेश के यवन ग्रीक आदि थे, ये सम्राट् अशोक के पड़ोसी राज्य थे, जिन्हें तेरहवाँ शिलालेख साम्राज्य के अन्तर्गत कहता है, किन्तु जो पाँचवें शिलालेख के अनुसार स्वतन्त्र सीमांत प्रदेश कहे गये हैं। इसी अपरंता का एक यूनानी तुहसाष्प सम्राट् अशोक के गिरनार प्रांत का शासक[1] था। मालूम पड़ता है कि अपरन्ता के लोग सम्राट् के प्रभुत्व का आदर करते थे, स्वतन्त्र रहते हुए भी वे अशोक का लोहा मानते थे तथा उनकी भव्य शक्ति को देखकर भयभीत थे। ये लोग हमेशा सम्राट् के स्नेहा-

---

[1] Rudradaman's inscription—Ep. Ind. VIII, pp. 46-7.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भिलाषी थे और उनकी अधीनता मानते[1] थे। किन्तु सम्राट् से उनको पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। अशोक उनकी अन्तर-राजनीति आदि में हस्तक्षेप न करते थे; फलतः विजित होते हुए भी स्वतन्त्र सीमान्त पड़ोसी प्रान्त थे। देखिए कलिंग शिलालेख द्वितीय "सीमान्त प्रदेशों के प्रति मेरी यही इच्छा है कि वे समझें कि सम्राट् की अभिलाषा है कि वे मुझसे भय न खायें, किन्तु मुझ पर विश्वास रखें कि उन्हें मेरे द्वारा सुख ही मिलेगा, दुःख नहीं। वे यह भी समझ लें कि जितना वह उन्हें क्षमा कर सकता है वह क्षमा करेगा, कि वे मेरे द्वारा धर्म पर चलने के लिए प्रोत्साहित किये जायँगे, जिससे वे इस लोक और परलोक दोनों का सुख लाभ कर सकें।" इस वृत्त से सम्राट् की सीमान्त-नीति पर भी प्रत्यक्ष प्रकाश पड़ता है।

आन्ध्र, कृष्णा और गोदावरी नदी का मध्यवर्ती प्रदेश—वर्तमान आंध्र, आन्ध्रों का निवास-स्थान (प्रान्त) था। किन्तु आन्ध्रोंका यही मूल स्थान था, इसका निर्णय करना कठिन है। मौर्य राजाओं के समय में उनका कौन-सा प्रान्त था, इसका निर्णय निश्चयात्मक रूप से नहीं किया जा सकता। बुद्ध-जातक के अनुसार तेलवाहा नदी पर स्थित आन्ध्रपुरा, आंध्र की राजनगरी थी। श्री भंडारकर ने इस तेलवाहा नदी को तेल या तेलगिरी नदी से मिलाया है। ये नदियाँ मद्रास और मध्यप्रदेश की सह-सीमाओं पर बहती हैं। "फलतः प्राचीन आंध्रप्रान्त में—जैपुर, मद्रास-प्रेसीडेन्सी, विजिगापट्टम के जिले तथा मध्यप्रदेश के निकटवर्ती जिले (प्रान्त) सम्मिलित थे। संभवतया आन्ध्र के अन्तर्गत निजाम के राज्य का दक्षिणी हिस्सा और वर्तमान तेलंगाना तथा कृष्णा और गोदावरी के जिले भी शामिल थे।"

डाक्टर भण्डारकर की इस धारणा का मैं पूर्ण रूप से अनुमोदन करता हूँ। डाक्टर भंडारकर ने यथार्थ ही आंध्र का इतना विस्तृत विस्तार

---

[1] विजित, तेरहवाँ शिलालेख।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सूचित किया है। मेगस्थनीज ने अपने वर्णन में लिखा है कि "मौर्यकाल में आन्ध्र मामूली शक्तियों में से न था। विशाल राष्ट्रों में आन्ध्र का भी प्रमुख स्थान था। आन्ध्र का राष्ट्र यदि मौर्य राष्ट्र से अधिक न था, तो कम भी न था। विजयी मौर्य चन्द्रगुप्त की विश्वविजयिनी सेना का स्थान यदि प्रथम था, तो द्वितीय स्थान आन्ध्र की सेना का था।" अतः निश्चय हो आन्ध्र एक अति विशाल और शक्तिशाली प्रदेश था, जिसका विस्तार कृष्णा नदी के मुहाने तक था। मौर्य-साम्राज्य का सूर्य अस्त होने पर, सम्राट् अशोक की मृत्यु के पश्चात्, इन आन्ध्रों ने, एक शक्तिपूर्ण वैभव-शाली राज्य की स्थापना की थी। इस आन्ध्र साम्राज्य ने ४०० वर्ष की दीर्घ आयु तक शासन किया।

पुलिद—हुल्स इन्हें पूर्वीय कहता है। वायु-पुराण में पुलिदों का उल्लेख "विन्ध्यमुलीया" (विन्ध्याचल के नीचे रहनेवाली जाति) के साथ आया है। महाभारत में इन्हीं का स्थान "चेदि" के समीपस्थ दर्शाया गया है। आन्ध्र और पुलिदों का शिलालेख में साहचर्य है, दोनों प्रान्तों का साथ ही उल्लेख आया है। इससे मालूम होता है कि आन्ध्रों की भाँति पुलिद भी अवश्य पूर्वीय लोग थे—जैसा कि हुल्स का मत है। ये लोग अशोक के साम्राज्य के दक्षिणी-पूर्वी या पूर्वीय भाग पर रहते थे। अतः प्रकाशित होता है कि रूपनाथ भी मध्य-प्रदेश के जबलपुर जिले में—जहाँ पर अशोक के गौण शिलाभिलेखों की एक प्रति उपलब्ध हुई है, साम्राज्य के अन्तर्गत रहा होगा।

ये पूर्व निर्दिष्ट राज्य अशोक के पूर्णतया शासनाधीन न थे, अपितु उन्हें पूर्ण आन्तरिक स्वातन्त्र्य प्राप्त था। इनमें से कोई राज्य पूर्णरूप से स्वाधीन थे तथा किसी को अर्द्ध-स्वतन्त्रता प्राप्त थी। उनकी स्वतन्त्रता संयमित थी, सम्राट् ने स्वयं इन सीमांत राज्यों के प्रति कहा है, "जहाँ तक वह उन्हें क्षमा कर सकता है, क्षमा करेगा।" (कलिंग शिलालेख द्वितीय)। अर्थात् जब तक ये धर्म-पथ पर चलेंगे, स्वतन्त्र रहेगे। इन सीमावर्ती

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राज्यों के मौर्य-राजागण भली प्रकार ध्यान रखते थे। सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय इन सीमान्त प्रदेशों को देख-भाल के लिए अन्तपाल नियुक्त थे। कौटिल्य लिखता है, "साम्राज्य की सीमा पर गढ़-निर्माण करवाना चाहिये। ये गढ़ अन्तपाल के रक्षण में होंगे। उनका कार्य साम्राज्य के द्वार की रक्षा करनी होगी।"[१]

समासत: अशोक के साम्राज्य में समस्त उत्तरापथ तथा पश्चिमोत्तर भाग शामिल था। साम्राज्य के उत्तर-पश्चिम की यह सीमा थी।

अब हमें दक्षिणी साम्राज्य का विस्तार कहाँ तक था, यह निर्धारित करना है। अशोक के शिलालेखों में एक विचित्रता पाई जाती है। वह यह कि चतुर्दश शिलालेख जब कि बाह्य-प्रान्तों के राजनगर में मिले हैं, गौण-शिलालेख साम्राज्य की सीमाओं पर, जो सम्राट् के निज-साम्राज्य से स्वतन्त्र तथा अर्द्ध-स्वतन्त्र राज्यों को पृथक् करते हैं—पाये गये है। चतुर्दश शिलाभिलेखों की दो प्रति (धौली और जौगुडा) दूरस्थ प्रान्त की राजनगरी तोसाली में उपलब्ध हुई हैं। शिलालेखों की तीसरी प्रति सौराष्ट्र की राजनगरी जूनागढ़, प्राचीन गिरनार में पायी गयी है। चौथी प्रति बम्बई के पास सोपारा में मिली है, किन्तु गौण-शिलाभिलेख, राज-नगरियों में नहीं, अपितु सीमान्त पर पाये जाते हैं। बहुत-से ऐसे घने जंगलों में मिले हैं, जहाँ पर कोई प्राचीन अवशेष तक नहीं पाया जाता। ये गौण-शिलालेख अशोक तथा बाह्य राजाओं के राज्य की सीमाओं को दो भागों में विभाजित करते हुए मालूम होते हैं। इन सीमान्त प्रान्तों के शासक "अंता" कहलाते थे। अंता संस्कृत शब्द है[२]। अंता दो तरह के थे, प्रथम वे जिनके राज्य भारत के भीतर ही कहीं पर स्थित थे और दूसरे वे जो भारत के (बाह्य) बाहर थे। देखिए द्वितीय प्रज्ञापन कालसी—

---

[१]Kautilya Arthashastra—R. Shama Shastry—Book II, Ch. I, 46.

[२]अन्ता = प्रत्यन्तेषु, अंत = प्रत्यन्त, सीमांत = प्रदेश (प्रदेशों)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"सवता विजितसि देवानं पियसा पियदसिसा लाजिने, ये च अंता अथा चोडा, पंडिया, सतिपुत्तो, केललपुत्तो, तंबपंनि।"

प्रथम श्रेणी के अंतों (अंता = शासक) में निम्न राज दिये हैं— "चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी।" यहाँ पर ध्यान रखिए कि सत्यपुत्र और केरलपुत्र द्वितीय प्रज्ञापन (कालसी) में एकवचन में, तथा चोड़ और पांड्य बहुवचन में प्रयुक्त हुए हैं। इस बहुवचन से सम्राट् का अभिप्राय क्या चोड़ और पांड्य जातियों से है ? किन्तु ऐसा होना संभव नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इसी प्रज्ञापन में सत्यपुत्र और केरलपुत्र का एक-वचन में प्रयुक्त किया जाना इस बात को लक्षित करता है कि सम्राट् का अभिप्राय यहाँ पर जातियों (मनुष्यों) से नहीं, अपितु राज्यों (शासकों— अंता) से है। फलतः अशोक के समय दो चोड़ और पांड्य राज्य थे। टॉलिमी ने भी दो चोड़ राज्यों का उल्लेख किया है। प्रथम चोड़ राज्य शोरटाई (Soretai) था। इस राज्य की राजधानी ओरथरा थी। वह "शोरा" तामिल "चोरा" से समीकृत किया जा सकता है। शोरटाई के लिए शोरनागा भी लिखा है (टॉलिमी)। अतः यह शोर-नागा, चोर-नागा भी हो सकता है, अस्तु वह राजा जिसकी राजनगरी ओरथरा थी, नागकुल का होगा; और चूँकि उसका प्रदेश, चोड़ (प्रदेश) था अतः वह चोर = चोड़-नाग हुआ। कनिंघम ने ओरथरा को त्रिचनापल्ली के समीपस्थ उदयपुर से मिलाया है। अतः यही दक्षिणी चोड़-राज्य था।

उत्तरी चोड़राज्य, वेटीगा और ऐडिस्थरौस पहाड़ियों के बीच के प्रदेश में यायावर शोराई (Sorai Nomads) रहा करते थे। आर-केटौस उनकी राजनगरी थी। इस आरकेटौस को आर्कट के साथ मिलाया गया है। शोराई लोग यायावर (Nomadtribe) थे। अपितु वह एक आदिम जाति थी, जिन्हें आर्य लोग घृणा से—शोर अथवा चोर, (लुटेरे या डाकू) कहा करते थे ! अतः निर्धारित है कि चोड़ साम्राज्य दो थे— (१) दक्षिणी चोड़-राज्य और (२) उत्तरी चोड़-राज्य। दक्षिणी चोड़ की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजधानी ओरथरा (उदयपुर) थी और उत्तरी चोड़ की राजनगरी आरकेटौस अथवा आर्कट के नाम से प्रख्यात थी।

पांड्य—टॉलिमी ने इनके लिए पाण्डिनोई लिखा है। पाण्डिनोई की राजधानी का नाम मोदोरा, वर्तमान मदुरा (मद्रास राज्य) था। टॉलिमी के अनुसार पांड्यों का प्रदेश, दक्षिण में त्रिनीवेली और उत्तर में कोयम्बटूर के समीपस्थ पर्वतीय भूमि तक विस्तृत था। टॉलिमी ने एक ही पांड्य-राज्य का उल्लेख किया है। किन्तु "पांड्य" शिलालेख द्वितीय (कलिंग) बहुवचनांत है। क्या तब अशोक के समय दो पांड्य राज्य थे? वराह-मिहिर इस बात को प्रकाशित करता है कि द्वितीय शताब्दी में उत्तर-पांड्य अलग राज्य था। इससे लक्षित होता है कि पांड्यों का दूसरा राज्य दक्षिण पांड्य था। अतः सम्भवतया अशोक के समय में पांड्यों के भी दो राज्य रहे होंगे।

सत्यपुत या सत्यपुत्र—वि० स्मिथ ने 'सत्यपुत्र' के प्रदेश को, कोयम्ब-टूर जिले के सत्यमंगलम् तथा पश्चिमी घाट मैसूर का सीमांत (देश) मालाबार, कोयम्बटूर और कुर्ग के प्रदेशों से मिलाया है। मैसूर के गैजलहाटी-दर्रे पर, पहले इसी नाम का एक नगर अवस्थित था। यह नगर उस समय युद्ध-कौशल का एक प्रमुख महत्व का नगर माना जाता था। यह प्रदेश साम्राज्य के अन्तर्गत न था।

चन्द्रगुप्त के समय भद्रबाहु से महादेशान्तर गमन द्वारा, यह प्रदेश अधिवासित हुआ था। दुर्भिक्ष की आशंका से ही भद्रबाहु और उसके शिष्य १२ वर्ष के लिए—यह दुर्भिक्ष १२ वर्ष का पड़ा था—दक्षिण में सत्य-मंगल-प्रदेश को गये थे। भद्रबाहु चरित्र में दुर्भिक्ष का उल्लेख इस प्रकार आया है—

"अथैकस्मिन् दिने भद्रौ भद्रबाहुः समाययौ।
श्रेष्ठिनौ तिदास्यास्य कायस्थित्यै निकेतने।
तत्र शून्ये गृहे चैयो विद्यते केवलं शिशुः।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

झोलिकान्तर्गत षष्ठि दिवस प्रमितस्तदा ।
गच्छ-गच्छ वचोऽवादीत तच्छ्रुत्वा, मुनिन द्रुतम् ।
निमितज्ञा ननोऽज्ञासीन्मुनिरुत्पातमद्रुतम् ।
शरद्द्वादशपर्य्यन्तं दुर्भिक्षं मध्य मण्डले ॥"

इस १२ साल के दुर्भिक्ष के फलस्वरूप (वृहत्चारनं) ही महत् देशांतरगमन हुआ था।[१] J. R. A. S. 1618, p 541, लिखता है, "सत्यपुत का प्रदेश वर्तमान काँचीपुर था।" ह्वेनसांग लिखता है कि यहाँ अशोक के स्तूप विद्यमान थे। इस प्रदेश का दूसरा नाम सत्यव्रत भी था। J.R.A S.—412 इस प्रदेश का नाम सत्यभूमि कहता है। यह प्रदेश केरल के उत्तर में था, जैसा कि तमिल साहित्य में मिलता है। श्री राधा-कुमुद मुकर्जी लिखते हैं कि "अन्य अक्षर, पुत्र (पुत) भूमि (प्रदेश) या जन्मभूमि के पुत्र के द्योतक हैं।"[२] यदि इसे सत्य समझा जाय तो निश्चय ही अनुमान किया जा सकता है कि मूल रूप में केरल और सत्य नाम की जातियाँ उत्तरी भारत में रहा करती थीं। अतः उत्तर भारत से ही ये जातियाँ दक्षिण पहुंचीं और वहाँ उपनिवेश बनाकर रहने लगीं। इस प्रकार प्राचीन काल में ये केरलपुत्र और सत्यपुत्र के नाम से प्रख्यात हुई। जातियों के नाम पर प्रदेश का नाम पड़ना आश्चर्य का विषय नहीं है, प्राचीन काल में बहुधा ऐसा हुआ करता था। अस्तु, कह सकते हैं कि सत्यपुत्र में निम्न प्रदेश शामिल थे—कोयम्बटूर, मलाबार, पश्चिमी घाट और मैसूर की सीमाएँ (कांचीवरम के आस-पास का प्रदेश) तथा कुर्ग।

केरल-चेरा या मालाबार, अतः मालाबार, समुद्रःतट का प्रदेश 'केरलपुत्र' का था। पेरिप्लस के लेखक के समय मोज़िरिस (Mouziris) वर्तमान कारांगनौर (Kranganur) केरलपुत्र राज्य की राजधानी थी।

---

[१] J. R. A. S. 1919, P. 564 n.

[२] R. K. Mookerji's, Asoka, p. 132.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

टॉलिमी ने इसकी राजनगरी को करोरा के भीतरी भाग में स्थित कहा है। कारुर (Karur) वर्तमान कोयम्बटूर जिले में अमरावती पर अवस्थित है।

इन विचित्र विवरणों के कारण केरलपुत्र-राज्य को निश्चयात्मक रूप से सीमा निर्धारित करना कठिन है। किंतु संभवतया पूर्व निर्दिष्ट स्थान पर ही ये लोग रहा करते थे। परन्तु इतना स्पष्ट ही है कि इन दक्षिण-राज्यों (चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र और केरलपुत्र) की सीमाएँ आपस में मिली हुई थीं और दक्षिण का वह भाग जो अशोक के साम्राज्य में सम्मिलित न था इन्हीं चार राज्यों में परस्पर बँटा हुआ था।

इसी अनुषंग में एक बात और ध्यान देने की है, कि सम्राट् ने अपने शिलालेख में एक और प्रदेश अटवी या आटव्य का उल्लेख किया है। १३वें शिलाभिलेख में सम्राट् कहते हैं—

"गुरुमतं यो देवनं प्रियस यो पि च
अपकरेयति छमितवियमते वो देवनं प्रियस य
शको छमनये य पि च देवनं प्रियस
विजिते योति न पि अनुनेती
अनुनिझपेति अनुतपे पि च प्रभवे देवनं प्रियस
वचुति तेष किति अवम पेयु
न च अंयसु इदति हि देवनं प्रियो ॥"

(शाहबाज़गढ़ी)

"देवताओं के प्रिय का मत है कि जो अपकार करता है, वह भी क्षमा के योग्य है, यदि वह क्षमा किया जा सके। जो जंगली जातियाँ (अटवी) सम्राट् के साम्राज्य के अन्तर हैं; उनको भी वह मानता और धर्म-मार्ग पर लाना चाहता है। वह उन्हें इस बात का ध्यान करवाता है; कि सम्राट् के पछतावे (अनुतपे) में भी कितनी शक्ति (प्रभवे=प्रभाव) है। जिससे वे लज्जित हों और नष्ट न होने पावें।"

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस निर्देश से प्रकट है कि यह जंगली जाति (अटवी) पूर्णतया सम्राट् के शासनाधीन न थी, यद्यपि उन्हें विजित किया जा चुका था। इससे मालूम होता है कि आटव्य राज्य अर्द्ध-स्वतन्त्र था, या ये लोग विद्रोही बनकर शासन को भंग करने का प्रयत्न किया करते थे। शायद इसी शासन-उल्लंघन करने को सम्राट् ने अपकार करना कहा है। यही कारण है कि सम्राट् सहृदयता के साथ उन्हें बिना किसी रक्तपात के शांति-पथ पर लाना चाहते हैं। लेकिन जब वे हर तरह से समझाने पर भी अनुशासन भंग करते ही गये, सम्राट् को अन्ततः उन्हें वाग्दण्ड देना पड़ा, और अटवी जाति की भर्त्सना करते हुए कहना पड़ा—"सम्राट् उन्हें धर्म-पथ पर लाना चाहते हैं, (ध्यान रहे) सम्राट् के पछतावे में पूर्ण शक्ति है, अर्थात् यदि अटवी जाति भली प्रकार आचरण करेगी, तो उनके साथ अच्छा बर्ताव किया जायेगा, उनके पूर्व दोष क्षमा कर दिये जायँगे, नहीं तो सम्राट् की प्रभापूर्ण शक्ति उन्हें दबायेगी।" इस प्रभापूर्ण शक्ति का अन्वय सम्राट् कलिंग हत्याकांड से कराते हैं, जिससे सम्राट् की महान् शक्ति का पूर्व परिचय मिल जाता है। इस भाँति जंगली जाति पर आक्रोश करते हुए सम्राट् अपने दण्ड देने की शक्ति का परिचय देकर उन्हें लज्जित करते हैं कि उनके कल्याण के ही हेतु और उन्हें नष्ट न करने के अभिप्राय से ही उनके अपकारों को शक्ति भर क्षमा किया गया है, किन्तु यदि उत्तरोत्तर यही क्रम रहा तो उन्हें भली तरह दण्ड दिया जायेगा।

अटवी राज्य का अधिपति अटाविका कहलाता था।[१] कौटिल्य के समय अटवी का शासन, विशेष अधिकारी अटवीपाल के अधीन था। कौटिल्य ने दो प्रकार की विजयों का उल्लेख किया है—(१) प्रथम अटवी-विजय अथवा जंगली जातियों को विजित करना और (२) द्वितीय ग्रामादि-विजय अथवा निश्चित प्रदेश गाँव आदि को विजय करना।[२]

---

[१]कौटिल्य अर्थशास्त्र—प्रकरण १६, १, (शाम-शास्त्री)

[२]कौटिल्य अर्थशास्त्र, प्रकरण ५, ग्रंथ-भाग १६वाँ (शाम-शास्त्री)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पुराण में इस जंगली जाति आटव्य का पुलिंदो, विंध्यमूलीय और वैदर्भों के साथ उल्लेख किया गया है।

एक ताम्र-पत्र में, परिव्राजक राजा हस्तिन को, दाभाल राज्य के सहित अट्ठारह (१८) जंगली राज्यों (अटवी-राज्य) का अधिपति लिखा गया है। दाभाल दहाला का रूपान्तर विदित होता है। दहाला से अभिप्राय बुन्देलखण्ड से है।

गुप्तकाल में भी प्रतापी सम्राट् समुद्रगुप्त ने अट्ठारह छोटे-छोटे अटवी राज्यों का विजय किया था। मालूम होता है कि अटवी-राज्य बघेलखण्ड से लेकर ठीक उड़ीसा के समुद्र-तट तक विस्तृत था। यही कारण है कि गौणशिलाभिलेखों की दो प्रतियाँ रूपनाथ, मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में और सहसराम बिहार के शाहाबाद जिले में पाई गई हैं। रूपनाथ और सहसराम अटवी प्रदेश के पूर्वी और पश्चिमी सरहद या सीमा पर अवस्थित थे। धौली और जौगुडा, शिलालेखों में सम्राट् अपने कर्मचारियों को, सीमाप्रान्त के राज्यों के साथ क्षमा, प्रेम और सहानुभूति की नीति से काम लेने का आदेश देते हैं। उड़ीसा के पास स्वतन्त्र या अर्द्ध-स्वतन्त्र अटवी राज्य के सिवाय, मौर्य-साम्राज्य से समीपस्थ और कोई राज्य न था।

सारांश में समस्त भारतवर्ष केवल दक्षिण के उस थोड़े से भाग को छोड़कर जो चोड़, पांडच, सत्यपुत्र, केरलपुत्र के पास रहा, अशोक के शासनाधीन था।

सम्राट् अशोक ने शिलालेखों में बहुत से अपने समकालीन राजा अथवा राजाओं का उल्लेख करते हुए उनके नाम भी दिये हैं। तेरहवाँ शिलाभिलेख शाहबाज़गढ़ी लिखता है—

"अतेषु अषषु पि योजन शतेषु यत्र अंतियोको
नम योन राज परं च तेन अंतियोकेन
चतुरे रजनि तुरमये नम अंतकिनि
नम मक नम अलिकमुदरे नम निचं ॥"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अतः निम्न राजा अशोक के समकालीन थे—(१) अंतियोक (यवन-राज), (२) तुरमय, (३) अंतकिन, (४) मग और पाँचवाँ अलिकसुन्दर या अलिकसुदर।

अंतियोक—अंतियोक सिकन्दर महान् के प्रगल्भ जनरल सिल्यूकस का पोता (पौत्र) था। सीरिया, बैक्ट्रिया और पश्चिमी एशियाई प्रदेशों का यवन-अधिपति यही अंतियोक था। यह साम्राज्य मौर्य-राष्ट्र का पड़ोसी साम्राज्य या राष्ट्र था। उसने २६१ से २६४ ई० पू० तक राज्य किया। शिलालेख द्वितीय में भी उसका उल्लेख आया है।

तुरमय—यह मिश्र का अधिपति द्वितीय टॉलमी फिलाडेलफस (Ptolemy II Philadelphos) था। सम्भवतः इसने २८५ ई० पू० से लेकर २४७ ई० पू० तक शासन किया। यह मौर्य-साम्राज्य यथेष्ट दूरी का राज्य था।

अन्तिकिनि या अन्तकिन—बुलेर ने इसे यूनानी नाम अन्तिनिनेस से मिलाया है। पर चूँकि इस नाम का कोई राजा नहीं मिलता। अतः अंतकिन को विद्वानों ने सफलता के साथ अन्तिगोन्स गोनाटस से मिलाया है। यह अन्तिगोन्स मैसिडोनिया (अमक़दूनिया) का राजा था। इसका राज्य-काल २७८-२७६ ई० पू० से २३९ ई० पू० के लगभग पड़ता है।

मग या मक—मग मिस्र के राजा टॉलिमी फ़िलाडेलफ़स का भाई था। वह कैरीन का अधिपति था। कैरीन मिस्र के पश्चिम में है। इसका राज्य-काल ३०० ई० पू० से लेकर २५२ ई० पू० के लगभग पड़ता है।

अलिकसुन्दर या अलिकसुदर—इस राजा के प्रति विद्वानों में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान् अलिकसुंदर को एपिरस का राजा सिकंदर बतलाते हैं (२७२-२५८ ई० पू०) और कोई उसे कोरिन्थ का राजा अलेकज़ेण्डर कहता है, जिसका समय लगभग २५२ से २४६-४४ ई० पू० तक माना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाता है।[१] इन राजाओं की तिथि Cambridge History of India, Vol. I, p. 502 से ली गई है।

अंतियोक, शिलाभिलेख के कथनानुसार अशोक के साम्राज्य का निकटवर्ती राज्य था। शेष अन्य चार राजा, अन्तियोकस के समीपस्थ और अशोक के राज्य से दूरस्थ थे। प्रमाण के लिए कालसी प्रज्ञापन को देखिए—

"...नाम योन पल चा चेना अन्तियोगेन, चतालि लजोन, तुलमदे नाम अन्तिकिने।" प्रथम अन्तियोग (अन्तियोकस) कहा गया है और उसके परे जो अन्य चार राजा हैं उनका उल्लेख हुआ है, जिससे स्पष्ट है कि और राज्यों से, अंतियोकस का राज्य साम्राज्य के निकटवर्ती था।

क्या इन वाह्य वैदेशिक राजाओं के साथ सम्राट् अशोक का कोई संबंध था? हम इस बात को पहले से ही जानते हैं कि सिल्युकेडियन साम्राज्य और मौर्य-साम्राज्य के मध्य परस्पर दूतों का आवागमन आरम्भ हो चुका था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मेगस्थनीज़, सिल्यूकस का दूत बनकर भारत आया था। मेगस्थनीज़ बहुत समय तक मौर्य दरबार में रहा। यहाँ पर रह कर मेगस्थनीज़ ने भारत का जो वर्णन लिखा, वह इतिहास के सामने अमूल्य निधि की वस्तु है।

यह भी सुप्रकाशित है कि मौर्य-सम्राट् बिन्दुसार ने एशिया माइनर के अधिपति अन्तिओकस को सूखे अंजीर, अंगूरी मदिरा तथा यूनानी सोफ़िस्ट खरीदकर भेजने के लिए लिखा था।[२] मिस्र के राजा टॉलमी फ़िलाडेलफ़स (२८५-२४७ ई० पू०) ने, जो अशोक का समकालीन था तथा जिसका नाम १३वें शिलालेख में अन्य "मग" आदि चार राजाओं के साथ आया है, बिन्दुसार के समय में अपना एक राजदूत डायोनिसियस मौर्य-दरबार में

---

[१] J. R. A. S. 194, p. 944-45

[२] Ancient India and Invasion of Alexander, p. 409, Mc Crindle.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भेजा था।[1] यह दूत बहुत काल तक बिन्दुसार के दरबार में रहा। मेगस्थनीज़ की भाँति इस राजदूत ने भी भारत का विवरण लिखा था। प्लिनी ने डायोनिसियस के इस विवरण से बहुत कुछ संदर्भ लिए हैं, किन्तु खेद है कि डायोनिसियस का लिखा भारत का विवरण अब प्राप्त नहीं है।

स्ट्रैबो लिखता है कि सिल्युकस ने डिमैकस को राजदूत बनाकर, चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र अमिट्रोकेटस (बिन्दुसार) के राज-दरबार में भेजा था (हुल्स—अशोक के शिलाभिलेख)। अतः स्पष्ट है कि मौर्य-काल में (सम्राट् अशोक के पूर्वजों के समय), वैदेशिक राजदूतों का आदान-प्रदान स्थापित हो चुका था। क्या अशोक का भी इन बाह्य राजाओं के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध था ? यदि था, तो उसका कोई माध्यम अवश्य होना चाहिए। सम्राट् और वैदेशिक राज्यों के बीच की दूरी क्या पारस्परिक संगम में बाधक न थी ? १३वाँ शिलालेख इन दोनों प्रश्नों को हल कर देता है। वह लिखता है—"नम योन राज परं च तेन अंतियोकेन, चतुरे राजनि तुरमये नम अंतिकिनी, नम मक नम अलिकसुन्दरो नम निचं·······································
········देवनां प्रियस ध्रमनुशति अनुवटंति यत्र पि················
········देवनां प्रियस दुत न व्रचंसि ते························।"
अर्थात् "यवन नाम अंतियोक और उससे परे जो और चार अंतिकिन, मक (मग), तुरमय, अलिकसुन्दर नाम के राजा हैं··· देवताओं के प्रिय के धर्मानुशासन का अनुसरण करते हैं और जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत भी नहीं जा पाते हैं—वहाँ भी धर्मानुशासन पर आचरण किया जाता है।" "देवताओं के प्रिय के दूत" से सिद्ध होता है कि अशोक के समय में भी वैदेशिक राज्यों में दूत भेजने की प्रथा चालू थी। अशोक के दूत यवन राजाओं (अंतिकिन, मक, तुरमय, अलिकसुन्दर) के राज्य में 'धर्म-प्रचार'

---

[1] Pliny.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लिए आते-जाते थे, इसमें सन्देह नहीं। अतः वैदेशिक (यवन) राज्यों के साथ अशोक का सम्बन्ध भी पूर्ववत बना हुआ था। दूतों का काम इन राज्यों में धर्म का प्रचार करना था।[1]

सम्राट् अशोक के राज्यकाल की तिथि—सम्राट् अशोक के राज्यप्राप्ति की तिथि का निर्णय करने के लिए उनके समकालीन (यवन) राजाओं की तिथि का अध्ययन आवश्यक है। इन्हीं यवन राजाओं की तिथि के आधार पर अशोक की तिथि का ठीक से निर्णय किया जा सकता है। इसके लिए पहले हमें यह जानना होगा कि यवन राजाओं का उल्लेख करनेवाले द्वितीय तथा त्रयोदश शिलाभिलेख किस समय लिखे गये। सेनार्ट का मत है कि ये दोनों लेख सम्राट् के राज्याभिषेक के चौदहवें वर्ष अभिलिखित हुए थे। इसका अन्य अंग्रेजी विद्वानों ने भी समर्थन किया है; किन्तु हाल ही में एक बंगाली विद्वान् श्री हरितकृष्ण देव एम० ए० ने यह प्रकाशित किया है कि द्वितीय और त्रयोदश शिलालेख राज्याभिषेक के २७वें वर्ष प्रेषित हुए थे।

यदि यह मानें कि उक्त शिलालेख अभिषिक्त होने के २७वें वर्ष प्रकाशित किये गये थे, तो इस तारीख को उस समय के अनुरूप होना चाहिए जब कि पाँचों यूनानी राजा जीवित थे। यदि १२वें शिलालेख का अलिकसुन्दर, ऐपिरस का राजा अलिकसुन्दर लिया जाय तो इस वर्ष को २७२ ई० पू० से लेकर २५८ ई० पू० के मध्य आना चाहिए। किन्तु यदि हुल्स के मतानुसार वह कोरिन्थ का राजा अलिकसुन्दर है तो इस साल को २५२ से २४४ ई० पू० के मध्य आना चाहिए। चूँकि जिस १३वें शिलालेख में उपरोक्त राजा का वर्णन आया है वह सम्राट् के २७वें वर्ष प्रकाशित हुआ था; अतः अशोक का वह वर्ष जब उन्होंने इन यवनों का उल्लेख किया, २५२ ई० पू० है। फलतः अशोक का राज्याभिषेक २७९ ई० पू० में हुआ होगा।

---

[1] कलिंग शिलालेख द्वितीय (जौगडा)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अब दूसरे प्रकार से लीजिये—कैरीन के राजा मक का समय ३००-२५० ई० पू० है। २५० ई० पू० में इस राजा की मृत्यु हुई थी। इस मग का शिलालेख (त्रयोदश) में उल्लेख आया है, इससे प्रकाशित होता है कि ये यवन-राजा लगभग २५० ई० पू० तक अशोक के समकालीन थे। इस निधन की खबर पाटलिपुत्र तक पहुँचने में, मार्ग की असुविधा अथवा वर्तमान सुविधाओं के अभाव के फलस्वरूप १-२ वर्ष का समय लगा होगा। अतः यह खबर अशोक को २४९ ई० पू० में मिल सकी होगी। किन्तु यह भी निश्चित है कि त्रयोदश शिलालेख के प्रकाशन के समय वह जीवित ही था, क्योंकि शिलालेख ने उसका उल्लेख दिया है। फलतः इस शिलालेख के प्रकाशन का समय २५१-२५२ ई० पू० होना चाहिए और चूँकि त्रयोदश शिलालेख अभिषेक के २७वें वर्ष प्रकाशित हुआ था, इसलिए अशोक के राज्यकाल की तिथि (जब अशोक सिंहासनारूढ़ हुए थे) लगभग २७८-२७९ ई० पू० में पड़नी चाहिए।

तीसरे प्रकार से हम अशोक के राज्याभिषेक की तिथि का निर्णय प्रथम अशोक के दादा प्रगल्भ श्री चन्द्रगुप्त के समय को निर्धारित करके कर सकते हैं। चन्द्रगुप्त की तिथि जानने के लिए हमें निम्न संदर्भों पर ध्यान देना चाहिए—

(सिल्यूकस) ने इण्डस को पार कर भारतीयों के राजा सैन्ड्राकोटस् पर चढ़ाई की। अन्त में उसने उससे मैत्री करके विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया।[१]

स्ट्रेबो के अनुसार सिल्यूकस ने इण्डस के पश्चिमी प्रदेश का कुछ भाग चन्द्रगुप्त को भेंट किया और बदले में पाँच सौ हाथी पाये।

---

[१] Appinus says "(Seleucus) crossed Indus and waged war on Sandrocottios, king of the Indians who dwelt about it, until he made friends and entered into relations of marriage with him."

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"सेण्ड्राकोटस् भारत पर उस समय शासन करता था, जिस समय सिल्यूकस अपने भावी उत्कर्ष के निर्माण में संलग्न था। सिल्यूकस ने सैण्ड्राकोटस् के साथ संधि कर ली और पूरब में अपने कार्यों की व्यवस्था ठीक कर अण्टीगोनस् के विरुद्ध युद्ध में संलग्न हो गया।" (ई० पू० ३०२)[१]

यह सुप्रकाशित ही है कि चन्द्रगुप्त ही सैण्ड्राकोटस् था। सिल्यूकस नैकेटर (३१२-२८० ई० पू०) लगभग ३०२ ई० पू० के, इपिसस की लड़ाई के पूर्ववर्ती साल, कैपोडोकिया में पहुँचा था। यहाँ से भारतवर्ष पहुँचने में कम से कम दो ग्रीष्म व्यय करने पड़े होंगे। अतः सम्राट् चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि का वर्ष ३०४ के ग्रीष्म में और कम से कम शरद (जाड़ों) में पड़ेगा। इस तरह सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त की सन्धि ३०४ ई० पू० में हुई थी, जिस समय सिल्यूकस ने मेगस्थनीज को मौर्य के दरबार में भेजा था।[२]

पुराणों में भी चन्द्रगुप्त का उल्लेख है—

The poseud—prophetic account of the Purana runs thus : "Kautilya or Chanakya will establish King Chandragupta in the Kingdom. Chandragupta will be king 24 years, Bindusara 25 years, Asoka 36 years."[3]

पुराणों के इस उल्लेख का महावंश समर्थन करता है—

"Kalasoko had ten sons : these brothers [conjointly] ruled the Empire righteously, for twenty-two years. Subsequently there were nine : they also according to their Seniority righteously reigned for twenty-two years. Thereafter the Brahman Chanakya in gratification of an implacable hatred born towards the ninth surviving

---

[१] Ancient India by Megasthenese and Arian p. 7-

[२] J. R. A. S. 1914, Ch. XVI, p. 345.

[3] Oxford 1913, p. 28.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

brother, called Dhana-Nando, having put him to death, he installed to the sovereignty over the whole of Jambudipo, a descendant of the dynasty of Moryian sovereigns endowed with illustrious and beneficient attributes surnamed Chandragupto".[१]

पुराणों के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य ने २४ वर्ष तक राज्य किया। अर्थात् ३२३ से २९९ ई० पू० तक के लगभग। चूँकि पुराणों के अनुसार बिन्दुसार ने २५ वर्ष तक शासन किया, इसलिए बिन्दुसार का शासन-काल २९९ ई० पू० से लेकर २७५-२७४ ई० पू० तक रहा। अतः सिद्ध है कि अशोक को २७४ ई० पू० में राज्य हस्तगत हुआ होगा। यहाँ पर महावंश लिखता है—"अशोक अपने धर्म और अद्वितीय प्रतिभा के कारण पूर्ण शक्तिशाली था। अपने निन्यानबे भाइयों का निधन कर वह जम्बूद्वीप का एकच्छत्र अधिपति बना।[२] राज्यारोहण के चार साल बाद, इस अद्वितीय प्रतिभाशाली सम्राट् ने पाटलिपुत्र में अपना अभिषेक-उत्सव किया।"

महावंश के अनुसार अशोक का विधिवत् अभिषेक राज्यारोहण के चार वर्ष बाद हुआ। यदि यह ठीक समझा जाय तो अशोक के अभिषेक की तिथि २६९-२६८ ई० पू० में पड़ेगी, किन्तु शिलालेखों से स्पष्ट है कि विभिन्न प्रकार से हम २७९ ई० पू० पर ही पहुँचते हैं। शिलालेखों की सत्यता अधिक प्रमाणयुक्त होनी चाहिए, इसलिए यदि हम २६९ ई० पू० के बदले २७९ ई० पू० को ही सम्राट् का अभिषेक काल मानें, तो अधिक भूल होने की सम्भावना न रहेगी।

---

[१] (Mahavamsa—George Turnour, Ch V.)

[२] यह गलत सिद्ध हो चुका है (देखिये प्रथम प्रकरण इसी पुस्तक में।)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तीसरा प्रकरण

अशोक की शासन-व्यवस्था

दूसरे प्रकरण में हम मौर्य-राष्ट्र की सीमाओं का उल्लेख कर आये हैं। अतः हमें पूर्णतया मालूम है कि अशोक के समय मौर्य-साम्राज्य एक अत्यन्त विस्तृत साम्राज्य था।

अशोक के शासन-काल के पहले १३ वर्षों के बारे में हमें कुछ मालूम नहीं है। अशोक का यह समय बौद्ध-धर्म ग्रहण करने से पहले का है। इस समय का यदि कुछ उल्लेख मिलता है तो सिंहल की बौद्ध-कथाओं से ही, जो अशोक को तब चांडाल व दुराचारी के घृणित नामों से पुकारते हैं। गाथाएँ कहती हैं, एक दिवस क्रोध में आकर, उसने अपने ही हाथों से तलवार लेकर पाँच सौ (५००) मंत्रियों का वध कर डाला। दूसरे दिन उसने पाँच सौ (५००) स्त्रियों को जीवित ही जलवा डाला, क्योंकि इन स्त्रियों ने प्रासाद के "अशोक" वृक्ष से पत्तियाँ तोड़कर सम्राट् अशोक का परिहास किया था। ये कहानियाँ निरी गप्प हैं।

कहने का आशय यही है कि अशोक के प्रति इस समय का हमें कुछ ज्ञान नहीं। सम्राट् के जीवन का यह काल अप्रकाशित है। अशोक के बारे में हमें जो कुछ मालूम है वह उन्हीं के शिलालेखों से। अन्य शिलालेख हमें इस काल का कोई परिचय नहीं देते। इसलिए निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सम्राट् इस समय किस प्रकार शासन करते रहे होंगे। मेगस्थनीज से हमें मालूम है कि चन्द्रगुप्त के समय राजनगरी की शासन प्रणाली क्या थी, अतः इसी विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि कम से कम अशोक के शासन-काल के प्रथम दिवसों में भी शासन का वही रूप रहा होगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मौर्य शासन का उल्लेख करते हुए मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि बाजार, नगर, सैन्य आदि के शासनार्थ विभिन्न कर्मचारी नियत थे। नदियों की देखरेख तथा भूमि की पैमाइश के लिए भिन्न कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। राजस्व वसूल करने के लिए भी अलग प्रकार के अध्यक्ष हुआ करते थे। कुछ राज-कर्मचारियों का कार्य सड़क बनवाने का था। इन कर्मचारियों को प्रत्येक १० स्टेडिया पर अलग-अलग रास्तों तथा दूरी का निदर्शन करने के हेतु स्तम्भ भी गाड़ने पड़ते थे।

पाटलिपुत्र का शासन ३० सदस्यों की एक सभा द्वारा होता था। यह सभा ६ उप-सभाओं अथवा समितियों में विभाजित थी—प्रत्येक सभा में पाँच सदस्य हुआ करते थे। पहली सभा का कार्य दस्तकारी की देखभाल करना था। दूसरी सभा विदेशियों की आवभगत और देखभाल करने के लिए थी। यदि कोई विदेशी बीमार हो जाय तो इस सभा को उसका इलाज कराना होता था और यदि वह मर जाय तो उसकी मृतक-क्रिया भी करनी पड़ती थी। तीसरी सभा को जन्म और मरण का हिसाब रखना पड़ता था। चौथी सभा तिजारत और व्यापार की देखभाल के लिए थी—यह सभा नाप-तौल की भी जाँच किया करती थी। पाँचवीं सभा को बने हुए माल की बिक्री का प्रबन्ध करना होता था। छठीं सभा का कार्य बिके हुए माल पर चुंगी वसूल करना था—इस चुंगी की दर १० प्रति सैकड़ा थी। चुंगी न देने पर अंगभंग तथा फाँसी तक का दंड भी दिया जा सकता था।

सेना के शासन के लिए भी ३० सदस्यों की एक सभा थी। यह सभा ६ उपसभाओं में बँटी हुई थी—प्रत्येक सभा में ५ सदस्य होते थे। ये ६ सभाएँ या समितियाँ—(१) जल-सेना, (२) बैलगाड़ी, (३) पैदल, (४) अश्वारोही, (५) रथ, (६) हाथी आदि के प्रबन्ध का कार्य करती थीं।[१] मेगस्थनीज़ ने राज-दरबार का वर्णन भी किया है। प्राच्य सम्राटों

[१]Ancient India by Megasthenese and Arian. McCrindle pp. 86-87.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को भाँति ही मौर्य दरबार वैभवपूर्ण था। सम्राट् के अतिरिक्त राज-कर्मचारी भी सोने की पालकी में बैठकर दरबार में आते थे। राजकीय सवारी के साथ सजी-धजी स्त्रियाँ भी हुआ करती थीं। धनुषधारी स्त्रियाँ और दरबारी निरन्तर सम्राट् की परिचर्या में लगे रहते थे। शिकार के समय भी ये स्त्रियाँ साथ रहा करती थीं। इन स्त्रियों का कार्य लोगों को राजकीय मार्ग पर चलने से रोकना था। राजमार्ग पर कोई नहीं चल सकता था और यदि कोई बिना आज्ञा के राजमार्ग पर चला जाय तो उसे फाँसी का दण्ड दिया जाता था। घोड़े, बैल आदि पशुओं की वहुधा लड़ाई हुआ करती थी—सम्राट् इन लड़ाइयों को बहुत पसन्द करते थे। इसी प्रकार की लड़ाई आदि के उत्सव मनाने को अशोक ने अपने शिलालेख में "बुरा समाज" कहा है।

मौर्य शासन-व्यवस्था को समझने के लिए कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी यथेष्ट सहायता की वस्तु है; किन्तु हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि कौटिल्य के विधान के अनुरूप ही मौर्य चन्द्रगुप्त तथा अन्य मौर्य-सम्राटों ने शासन किया होगा। अर्थशास्त्र यद्यपि चन्द्रगुप्त के परम सहायक और मन्त्री कौटिल्य का लिखा है, किन्तु वह सब नृपतियों के मार्ग-दर्शन के लिए है। अतः यह कहना कठिन है कि मौर्य-राजाओं ने दृढ़ता के साथ कौटिल्य की नीति पर ही शासनं-कार्य किया था; किन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि मौर्य-राजाओं की नीति पर अर्थशास्त्र का यथेष्ट प्रभाव रहा और सम्भवतः इसी के आदर्श को लेकर मौर्य-राजाओं ने शासन का विधान किया।

कौटिल्य की शासन-नीति—मौर्य शासन-विधान का कुछ ज्ञान करने के लिए—संक्षेप में यहाँ पर कौटिल्य की नीति उद्धृत की जाती है। चाणक्य ने शासन के निम्न अवयव बतलाये हैं :—

(१) राजा—राजा को प्रजा के हित सब कार्य पराक्रम सहित करना चाहिए (जैसा अशोक ने किया)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) प्रिवी-कौंसिल—सहकारिन्-सभा या परिषद् (अथवा मन्त्रि-परिषद् ।

(३) विभाग—जैसे गुप्तचर-विभाग, राजदूत-विभाग आदि ।

(४) छः सभाएँ—जिन छः सभाओं का मेगस्थनीज़ ने उल्लेख किया है, उनके प्रति कौटिल्य से हमें कुछ परिचय नहीं मिलता ।

(५) चुंगी—बिके हुए माल पर चुंगी एकत्रित करने को अध्यक्ष नियत थे । (मेगस्थनीज ने भी इसका उल्लेख किया है) ।

(६) जन्म और मरण की गणना—इस कार्य के लिए "नागरक" नियत होते थे । इस नागरक को जनगणना का लेखा रखना पड़ता था कि कौन पैदा हुआ और कौन मरा ।

(७) राजशुल्क—विदेशी मदिरा जो कपिसा अथवा अफगानिस्तान से तथा यवन-प्रदेशों से भारत आती थी—उस पर "कर" वसूल करने के लिए कराध्यक्ष हुआ करते थे ।

(८) दण्डय-संहिता या पेनल कोड—दण्ड बहुत कड़ा दिया जाता था । दण्ड-निष्ठुरता इतनी अत्यधिक थी कि यदि कोई सरकारी आदमी आठ पण के मूल्य तक की कोई वस्तु चुरा ले तो उसे फाँसी का दण्ड दिया जाता था । यदि कोई अन्य आदमी—जो राज-कर्मचारी न हो—४० से लेकर ५० पण तक चुरा ले तो उसे भी मृत्यु-दण्ड दिया जाता था ।

(९) सत्य की परख—किसी अभियुक्त से सत्य बुलाने अथवा किसी बात को उससे कबूल कराने के लिए कई प्रकार से कष्ट देना न्याय-संगत माना जाता था—यहाँ तक कि यह विधान स्वच्छन्दतापूर्वक काम में लाया जाता था ।

यहाँ पर निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि अशोक ने भी कौटिल्य-नीति का एकदम पालन किया या उसकी नीति को एकदम छोड़ ही दिया; किन्तु अशोक की शासन-नीति—जैसी कि शिलालेखों से मिलती

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है—बहुत कुछ उलट-फेर के साथ यही थी। वस्तुतः अशोक ने भी अपने दादा और पिता की पूर्वनीति पर ही काम किया, यद्यपि राजनीति के पूर्व-नियमों में कुछ परिवर्तन तथा सुधार-कार्य अवश्य किया गया—जैसा कि शिलालेखों से प्रकट है।

अशोक का शासन—(शिलालेखों के आधार पर)—पूर्व की भाँति मौर्य-साम्राज्य कई प्रान्तों में बँटा हुआ था। अशोक राजकुमार अवस्था में उज्जैन तथा तक्षशिला का प्रान्तीय शासक रह चुका था। इसी नीति का अनुसरण करते हुए सम्राट् अशोक ने भी शासन के सुभीते के लिए मौर्य्य-राष्ट्र को विभिन्न प्रान्तों में बाँट रखा था।

प्रान्तों के शासन के लिए प्रान्तीय शासक अथवा उप-शासक नियुक्त थे। इन प्रान्तों में से कुछ प्रान्त अत्यधिक राजनैतिक महत्व के थे। अतः ऐसे प्रान्तों के लिए राजकीय घराने के कुमार ही नियत किये जाते थे। इन प्रमुख प्रान्तों की संख्या चार थी—

(१) गान्धार—इस प्रान्त की राजनगरी तक्षशिला थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय—जैसा कि ग्रीक इतिहासज्ञों से मालूम होता है, तक्ष-शिला सुस्थित और समृद्धिशाली नगर था। इसी का राजा अम्भीक हुआ, जिसने मेसिडोनिया की प्रभुता को अंगीकार किया था। मध्य एशिया के साथ व्यापार करने का यह प्रमुख वाणिज्य-स्थान अथवा केन्द्र था। तक्ष-शिला आर्य-विद्या का भी प्रमुख स्थान रह चुका था, सम्भवतया सिकन्दर के आगमन से ५० वर्ष पूर्व—अद्वितीय व्याकरणाचार्य—"पाणिनि" यहाँ पढ़ाया करते थे। इस नगर के खण्डहर वर्तमान रावलपिण्डी तहसील के शाहधरी गाँव से मिलते-जुलते हैं। तक्षशिला बौद्ध-धर्म के प्रमुख तीर्थस्थानों में से एक था। कहा जाता है कि इसी नगरी में बुद्ध भगवान ने अपने सिर का दान किया था। इसके पश्चात् तक्षशिला इतिहास से ओझल हो जाता और अन्ततः २०शती में खोदकर फिर उसका पता लगता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यापार का केन्द्र होने तथा सीमांत प्रदेश होने के कारण इसका अशोक के समय यथेष्ट राजनैतिक महत्व था। इसलिए इसका शासक राज-घराने का राजकुमार था।

(२) कलिङ्ग—यह प्रांत सम्राट् अशोक ने ही विजय किया था। अतः यह प्रदेश भी कम राजनैतिक महत्व का न था। नव-विजित प्रदेश होने के कारण उसके लिए एक क्रमणशील तथा विश्वस्त शासक की आवश्यकता थी, जिससे प्रजा में शांति स्थापित रहे और कहीं विद्रोह न होने पावे। अतः इस प्रांत का शासन भी राजकुल के कुमार के पास था।

(३) उज्जैन—यह प्रांत न सीमांत था और न नवीन विजय किया प्रदेश ही, किन्तु व्यापार का यह मुख्य केन्द्र था। अतः यह प्रान्त भी राजकुमार द्वारा नियंत्रित किया जाता था। प्राचीन काल में यह "अवंती" के नाम से विख्यात था। अवन्ती का स्थान आज भी प्रमुख तीर्थ-स्थानों में है। आर्य भौगोलिकों के अनुसार उज्जैन का वही महत्व है जो आधुनिक ग्रीनविच का है।

(४) दक्षिणी प्रांत—अंतिम मुख्य प्रदेश दक्षिण के चोड़ और पांड्य राजाओं की सीमाओं को छूता हुआ दक्षिण का दूरस्थ प्रांत था। स्वतन्त्र राज्यों के पास स्थित होने के कारण यह प्रांत भी राजनैतिक दृष्टि से यथेष्ट महत्व का था। अतः इस प्रांत का शासन भी राजकुल के 'आर्यपुत्र' के अधीन था। इस प्रदेश की राजनगरी स्वर्णगिरि थी।

यहाँ पर एक बात ध्यान देने की है—अशोक के शिलालेखों में पूर्व-निर्दिष्ट तीन प्रांतों के शासकों के लिए 'कुमार' नाम आया है, किन्तु स्वर्ण-गिरि के शासक को ब्रह्मगिरि-लेख (गौण-शिलालेख प्रथम) में आर्यपुत्र कहा गया है। मालूम होता है कि 'आर्यपुत्र' कुमारों के अतिरिक्त पद में बड़ा था। महाभाग में आम्रपाली लिच्छवि राजाओं के लिए 'आर्यपुत्र' शब्द का प्रयोग करती है। इससे मालूम होता है कि आर्यपुत्र कुमारों के अतिरिक्त 'राजाओं' के लिए भी प्रयुक्त किया जाता था। इसी तरह भास अपने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाटक स्वप्न-वासवदत्ता में उदयन को तीन बार 'आर्यपुत्र' से संबोधित करता है। अतः प्रकाशित है कि 'आर्यपुत्र' का पद कुमारों से बढ़कर था, जिससे यह मालूम होता है कि 'आर्यपुत्र' युवराज था।[१]

पूर्वनिर्दिष्ट प्रमुख प्रांतों को छोड़कर और भी प्रांत थे। ये प्रांत अधिक राजनैतिक महत्व के न थे। अतः इन प्रांतों का शासन राजकुमारों के पास न था। इन प्रांतों के शासकों के बारे में शिलालेखों से हमें कुछ भी नहीं मालूम होता। रुद्रदमन के जूनागढ़ लेख से विदित होता है कि सौराष्ट्र का शासक अशोक के समय यवनराज तुहषास्प था तथा उनके दादा के समय पुष्पगुप्त वहाँ का शासक था।[२] सौराष्ट्र प्रदेश का शासक यवन क्यों बनाया गया? इस प्रश्न का निरूपण करते हुए श्री भण्डारकर कहते हैं कि यदि अकबर के समय हिन्दू मानसिंह और बीरबल प्रांतों के शासक हो सकते थे तो फिर अशोक के समय में किसी विदेशी यवन के अधिपति होने में क्या आश्चर्य? हाँ, हो सकता है कि यह सम्राट् की एक राजनीतिक चाल हो जिससे वे अपने देश में बसे हुए यवनों को भी पूरे हक देकर खुश रखना चाहते हों। श्री भण्डारकर के 'मानसिंह' वाले उदाहरण से यदि अनुमान किया जाय तो यह भी कह सकते हैं कि शायद सम्राट् तथा तुहषास्प यवन-राज के मध्य वैवाहिक संबंध भी रहा हो। इसमें आश्चर्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि हम जानते हैं कि यवन सिल्यूकस की पुत्री स्वयं अशोक के प्रतापी पितामह चन्द्रगुप्त को ब्याही थी। तीसरा कारण स्वयं अशोक की विश्व-प्रेम-भावना और अपक्षपात हो सकता है। जग्निमित्रं ही उनका पावन सिद्धांत था। उनके तथा अन्य जीवों, मानवों के मध्य कोई अंतर न था, उन्हें तो शासन के लिए एक योग्य और कुशल व्यक्ति की आवश्यकता थी; चाहे वह किसी भी जाति, रङ्ग और श्रेणी का क्यों न हो। यह विश्व-भावना ही सम्राट् अशोक के अद्वितीय होने का कारण भी है। उनकी महानता कोरा

---

[१] देखिए—श्री भंडारकर, अशोक पृष्ट ५५-५७।

[२] Ep. Indica, VIII pp. 46-47.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आदर्शवादी होने में नहीं, किन्तु मनस्वी आदर्शों तथा मनोगत भावों के प्रत्यक्षीकरण में निहित है। उनका आदर्शवाद अकृत्रिम तथा काल्पनिक न था वरन् उनके सङ्कल्पों में इष्टसिद्धि और सक्रियता थी।

प्रान्तीय कुमारों के अधिकार—प्रान्तीय कुमार उपशासक बहुधा स्वतन्त्र हुआ करते थे। उनकी शक्ति सम्राट् से संकलित न थी। उन्हें यथेष्ट स्वतन्त्रता प्राप्त थी—उज्जयिनी और तक्षशिला के कुमारों को अपने आप महामात्र नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त था। प्रति तीसरे वर्ष शासन की देखभाल और जाँच करने के लिए कुमार-शासकों को इन्हें (महामात्रों) प्रान्तों में दौरा करने को भेजना पड़ता था (पृथक् कलिंग शिलालेख); किन्तु तोषाली प्रान्त के कुमार को यह अधिकार प्राप्त न था, जब कि और प्रान्त के कुमार-उपशासक स्वयं महामात्रों को नियुक्त करते थे, तोषाली के महामात्रों की नियुक्ति स्वयं सम्राट् ही करते थे। इस प्रकार उज्जैनी और तक्षशिला के प्रान्त कुमार-शासकों के पूर्ण अधिकार में थे; लेकिन तोषाली का प्रान्त कुमार तथा महामात्रों के सम्मिलित शासन के आधिपत्य में था; जिसका पूर्ण नियन्त्रण पुनः सम्राट् के हाथों में था। सुवर्णगिरि का शासक—जिसके द्वारा सम्राट् (अशोक) ने कुछ आज्ञाएँ वा अनुशासन इसिला के महामात्रों को भेजे थे—अन्य कुमार उप-शासकों से पद में बढ़कर था। शिलालेखों में सर्वत्र 'कुमार' ही राजघराने के शासकों के लिए प्रयुक्त हुआ है, किन्तु प्रथम और द्वितीय शिलालेख में कुमार की जगह 'आर्यपुत्र' आया है। इससे मालूम होता है कि इन दो शब्दों (कुमार और आर्यपुत्र) में कुछ पद-सूचक भिन्नता है। कलिंग-लेख तोषाली, उज्जयिनी तथा तक्षशिला के उपराजों को कुमार लिखता है, केवल मैसूर के दो गौण शिलालेख सुवर्णगिरि के उप-शासक को 'आर्यपुत्र' लिखते हैं; जिससे मालूम होता है कि 'आर्यपुत्र' 'कुमार' पद से उच्च पद का सूचक है। एक ही पद के लिए दो विभिन्न शब्दों का प्रयुक्त होना कुछ असंगत-सा लगता है। अतः यहाँ पर श्री भंडारकर का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मत ही श्रेयस्कर विदित होता है—उनकी सम्मति के अनुसार 'आर्यपुत्र' युवराज था। सम्राट् के अनन्तर साम्राज्य का अधिकारी भी यही युवराज होता था।

यहाँ पर इतना और कह देना होगा कि तोषाली प्रान्त को छोड़कर अन्य प्रान्तों का पूर्ण भार और शासन कुमारों के ही कन्धों पर था। उनके शासन-कार्य में सम्राट् कुछ भी हस्तक्षेप न करते थे। जब सम्राट् को कुमार-उपशासकों के अधीनस्थ विभाग या उप-विभागों के महामात्रों को कोई अनुशासन भेजना होता था तो ये आज्ञाएँ वा अनुशासन सम्राट् कुमारों के द्वारा ही महामात्रों को भिजवाते थे। 'इसिला' के महामात्रों को 'आर्य-पुत्र' द्वारा ही आज्ञायें प्रेषित की गई थीं।

जो प्रान्त सीधे सम्राट् के अधीनस्थ थे, उनके शासकों तथा महामात्रों को सम्राट् स्वयं आज्ञाएँ भेजते थे—जैसे कौसाम्बी तथा सारनाथ के महामात्रों को सम्राट् ने सीधा सम्बोधन किया है।

राज्य के प्रान्तों के शासन का उत्तरदायित्व कुमार-उपशासक तथा महामात्रों, दोनों पर था, सम्राट् जब कभी प्रान्तों को आज्ञाएँ प्रेषित करते थे तो वे आज्ञाएँ कुमार तथा महामात्र दोनों के संयुक्त नाम पर भेजी जाती थीं। इसी प्रकार कुमार-शासक भी जब कभी अपने अधीनस्थ महामात्रों को आज्ञा भेजते थे तो ये आज्ञाएँ कुमार अपने और महामात्र दोनों के सम्मिलित नामों से प्रेषित करवाते थे। अतः प्रान्तों के शासन का उत्तर-दायित्व कुमार तथा महामात्र दोनों पर था।

राज्य के अन्य कर्मचारी – इतने विशाल राज्य के शासन-कार्य के लिए अन्य कई राजकर्मचारी भी रहे होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु उन सबका ठीक-ठीक पता लगाना कठिन है। हाँ, तीसरे शिलालेख से हमें अवश्य तीन और कर्मचारियों का पता लगता है—(१) प्रादेशिक (प्रादेसिके, पाडेसिके), (२) रज्जुक, (३) युक्ता।[१]

---

[१]मम युता लज्जुके पदिसके—तृतीय शिलालेख (कालसी)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन विभिन्न राजकर्मचारियों को कौन-कौन कार्य करना होता था अब हम यह जानने की कोशिश करेंगे। पहले युक्त को लीजिये।

'युक्त' शब्द कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी प्रयुक्त हुआ है तथा साथ ही कौटिल्य अर्थशास्त्र में 'युक्त' के अधीनस्थ सहायता देने वाला 'उपयुक्त' (राजकर्मचारी) भी आया है। अर्थशास्त्र से प्रमाण देते हुए श्री एफ० डब्लू० थॉमस का कहना है कि ये 'युक्त' राज्य के गौण अथवा अमुख्य कर्मचारी थे।[1] मनुस्मृति में भी युक्त शब्द आया है—

"प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेयुक्तैरधिष्ठितम्।
मांस्तत्र चौरान् गृह्वीयास्तान् राजे भेन घातयेत्॥"

मनुस्मृति ८१३४

"खोया हुआ धन पुनः प्राप्त होने पर 'युक्त' के पास रहना चाहिये। कोई भी व्यक्ति चोरी में सम्मिलित हुआ विदित होने पर राजा को उसे हाथी द्वारा मरवा डालना चाहिये।" इस कथन द्वारा 'युक्त' के कार्य पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। मालूम होता है 'युक्त' लोगों को पुलिस अथवा नगर-रक्षण का कार्य भी करना पड़ता था।

कौटिल्य लिखते हैं—

"मत्स्याः यथान्तस्सलिले चरन्तो ज्ञातुं न शक्या सलिलं पिबन्तः।
युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ताः ज्ञातुं न शक्या धन माददानाः॥"

(कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृष्ठ ७०२९)।

"जिस प्रकार यह ज्ञात करना कठिन है कि पानी के भीतर को मछली पानी पी रही है या नहीं; उसी तरह यह मालूम करना भी कठिन है कि 'युक्त' धन हड़प रहे हैं या नहीं।" इस कथन से मालूम होता है कि युक्त लोग कोषाध्यक्ष थे, उनके पास हिसाब का कार्य था। इन युक्तों को राजस्व संग्रह करना पड़ता था तथा ये ही लोग कोष के अध्यक्ष भी होते थे। ऊपर

---

[1] J. R. A. S. (The Edicts of Asoka ch. XIV).

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कहा है कि श्री थॉमस 'युक्त' को अमुख्य वा गौण कर्मचारी लिखता है, किन्तु कौटिल्य के कथनानुसार ये युक्त राज्य के प्रमुख कर्मचारियों में से थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र २।६७ लिखता है, "राजकोष में ख़यानत होने पर, निधायक (खजान्ची), निवन्धक, प्रतिग्राहक, दायक, मन्त्री, वैवर्त्तकार आदि इन सबकी अलग से परीक्षा होनी चाहिए। अगर इनमें से कोई भी झूठ कहे तो वही दण्ड मिलना चाहिए जो कि प्रमुख कर्मचारी 'युक्त' को—जिसने अपराध किया है—दिया जायेगा।" फलतः ये युक्त लोग राज्य के प्रमुख कर्मचारियों में से थे। अस्तु, कोष की अध्यक्षता तथा कर वसूल करने के साथ-साथ इन युक्तों के पास जिले का शासन भी सुपुर्द था—जैसा कि भण्डारकर तथा थॉमस की सम्मति है। फलतः युक्त राजस्व एकत्र करने वाले, ज़िले के शासक, नगर के रक्षण-कर्त्ता तथा आमदरफ़्त का हिसाब रखने वाले अधिकारी थे। शिलालेख में भी 'युक्त' प्रथम आया है, इससे भी मालूम होता है कि 'युक्त' प्रमुख कर्मचारियों में से रहे होंगे।

राजस्व एकत्र करनेवाले इन 'युक्त' और 'उपयुक्त' कर्मचारियों के बहुत पीछे तक विद्यमान रहने का उल्लेख मिलता है। राष्ट्रकूट महाराज गोविन्द चतुर्थ (९३० ई०) ने अपने शिलालेख में ग्रामकूट, महत्तर आदि राजकर्मचारियों के साथ-साथ युक्त तथा उपयुक्त नाम के कर्मचारियों का भी उल्लेख किया है। गुप्तकाल में भी सम्भवतः इन्हीं युक्त और उपयुक्त कर्मचारियों को 'आयुक्त' और 'विनियुक्त' कहा गया है। जैसा कि सम्राट् समुद्रगुप्त के शिलालेख से मालूम होता है। श्री सेनार्ट और बुलेर के अनुसार 'युक्त' का अर्थ, विश्वसनीय तथा 'कर्तव्य-परायण' से है।[१] किन्तु सेनार्ट तथा बुलेर के इस पक्ष का विद्वानों ने समर्थन नहीं किया है।

प्रादेशिक—थॉमस कहते हैं कि प्रदिशिका का कार्य "कार्यनिर्वाहक कर्मचारी, राजस्व एकत्र करना तथा नगररक्षण था। ये प्रादेशिक अपने

---

[१] [Senart, I. P. 78]. [Buhler Z. D. M. G. XXXVII pp. 106, 8].

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रमुख प्रदेस्तिर (जो राजा के मन्त्रिमण्डल का सदस्य होता था) के अधीनस्थ होते थे।[१] किन्तु कर्न, बुलेर और सेनार्ट का कहना है कि प्रादेशिक संभवतया प्रांतीय शासक थे। बुलेर इनको ठाकुर, रावल, राव आदि का पूर्वज मानता है।"[२]

श्री भण्डारकर कर्न के पक्ष का समर्थन करते हुए कहते हैं कि प्रादेशिक प्रान्तीय शासक होते थे।[3] किन्तु मेरी सम्मति में थॉमस का पक्ष ही प्रबल है और प्रादेशिका का वही अर्थ होना चाहिए जैसा कि थॉमस कहते हैं। प्रादेशिका की व्युत्पत्ति प्रदेश से है जिससे प्रभावित होकर निःसन्देह बहुत से विद्वानों ने उन्हें प्रदेश का शासक करार दिया, परंतु यदि कौटिल्य के अर्थशास्त्र को अच्छी तरह देखा जाय तो विदित होगा कि प्रदेशेना का अर्थ रिपोर्ट या आवेदन भी है।

अर्थशास्त्र लिखता है—"वैदेहकव्यञ्जनो वा सार्थ प्रमाण राज्ञः प्रेषयेत्। तेन प्रदेशेन राजा शुल्काध्यक्षस्य सार्थ प्रमाणमुपादिशेत्।" यहाँ पर तेन प्रदेशेन का अर्थ होता है, उसकी रिपोर्ट पर अथवा आवेदन पर। अतः प्रादेशिका की व्युत्पत्ति इन प्रदेशे (न) से भी प्रमाणित हो जाती है। इससे मालूम होता है कि प्रादेशिका का कार्य रिपोर्ट सुनना तथा रिपोर्ट पर कार्यवाही करना था। फलतः इस प्रादेशिका का कार्य विशेषतः कार्य-निर्वाहक अधिकारी के रूप में लेना चाहिए। इसके अलावा नगररक्षण तथा राजस्व उगाहने का कार्य भी उनके सुपुर्द था। संभवतः अशोक के शिलालेख का 'प्रादेशिका' शब्द कौटिल्य के 'प्रदेशेता' के समरूप है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार प्रदेसिका अथवा 'प्रदेसितर' का कार्य था—"गोप (Village accountant) और स्थानिक (district officer) के कार्य का निरूपण अथवा निरीक्षण करना, गाँव और जिले के अधिकारियों की कार्यवाही की जाँच-

---

[१] J. R. A. S. pp. 384-5, 1914.

[२] Z. D. M. G. XXXVII 106.

[3] Bhandarkar's Ashoka, pp. 59.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पड़ताल करना तथा मुख्यतः धर्म्म-कर 'बलि' को वसूल करना। उन्हें अधिकार था कि वे पिछले अवशिष्ट कर को बलपूर्वक एकत्र कर लें। वे दुष्ट अफसरों को दंड भी दे सकते थे।"[१]

रज्जुक—जातकों में रज्जुक का कार्य नापने तथा सीमा निर्धारित करने का दिया है। जनार्दन भट्ट की राय है कि रज्जुक लिपिकार थे।[२] "अशोक की (धर्मलिपियाँ" काशी नागरी प्रचारिणी सभा) की सम्मति में "रज्जुक राज्य के भूमिकर और प्रबन्ध के प्रधान अधिकारी होते थे। यह नाम या तो भूमि की पैमाइश करने की रज्जु (रस्सी, जरीब) का लक्षण होने से पड़ा है या राज्य की डोर उनके हाथ में रहने के उपचार से पड़ा है। ये प्रादेशिकों से उच्चकोटि के होते थे।" श्री भण्डारकर के अनुसार, "रज्जुक न्यायाधीश और पैमाइश के प्रमुख कर्मचारी थे।" बुलेर भी रज्जुक का सम्बन्ध रज्जु (रस्सी) से मिलाकर उन्हें कर और पैमाइश के अधिकारी कहता है।[3] डा० थॉमस की भी राय है कि रज्जुक स्थानीय शासक के अलावा पैमाइश तथा बन्दोबस्त और सिंचाई के अध्यक्ष भी थे।[४]

"रज्जुक अथवा रज्जु का सम्भवतः "राजा" शब्द से सान्निध्य है। अतः पाली के अनुरूप इस शब्द का अर्थ महामात्य या महामात्र हो सकता है तथा वे अधिकारी जिनके पास जीवन और मृत्यु की शक्ति हो। अथवा जिन्हें दण्डी को फाँसी एवं मुक्त करने दोनों की शक्ति प्राप्त हो।"[५] चाइल्ड्स की यह सम्मति हमारी राय में ठीक जँचती है। महावंश में भी राजा के लिए "राजको" प्रयुक्त हुआ है। यह राजको शब्द रज्जुक से

---

[१]कौटिल्य अर्थशास्त्र, प्रकरण—३५, भाग २, श्लोक—१४२।

[२]जनार्दन भट्ट, अशोक, पृष्ठ १२९।

[3]Ep. Indica Volume II, p. 4664.

[४]J. R. A. S 1914, The Edicts of Asoka.

[५]Childers, R. K. Mukerjee's Asoka, pp. 1334.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिलता है। अतः मालूम होता है कि रज्जुक उच्च पदाधिकारी थे एवं वे उपशासकों के अनुरूप प्रांतीय शासकों में से थे, जैसा कि चतुर्थ-स्तम्भ-लेख से सर्वथा स्पष्ट है। यह लेख इस प्रकार है, "रज्जुक को मैंने सैकड़ों, हजारों प्राणियों के ऊपर शासन के लिए नियत किया है। मैंने रज्जुक को शासन और दण्ड का पूर्ण अधिकार दे दिया है।" इस वृत्त से प्रकट है कि रज्जुक हज़ारों प्राणियों पर शासन करते थे तथा उनकी शक्ति पूर्ण और स्वतन्त्र थी। उन्हें शासन और दण्ड का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। इसके अतिरिक्त जनपद की पूर्णतया देखभाल, सुख और दुःख की चिन्ता एवं जनपद के लोगों के हित इहलोक और परलोक दोनों की सुव्यवस्था करना भी उन्हीं का कार्य था।[1] अतः स्पष्ट है कि प्रांतीय शासक और उपशासक की भाँति ही रज्जुक को कार्य करना पड़ता था, इसलिए उनका स्थान भी उपशासकों के अनुरूप ही था।

रज्जुक के उच्च-पद का विश्लेषण आगे चलकर चतुर्थ-स्तम्भ-लेख स्वयं ही कर देता है। इस लेख में सम्राट् कहते हैं, "जिस तरह कोई आदमी अपने बच्चे को किसी प्रवीण धाय को सौंपकर, यह विचार कर निश्चिन्त हो जाता है कि "प्रवीण धाय मेरे बच्चे का अच्छी प्रकार पालन करेगी"—इसी भाँति मैंने रज्जुकों को प्रजा के पालन, सुख एवं हित के लिए नियुक्त किया है।" इस कथन की उपमा से रज्जुक के कार्य तथा उच्च-पद पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। अशोक का रज्जुक पर पूर्ण भरोसा था और इसीलिए रज्जुक पूर्णतया शासन करने या दण्ड के व्यवहार करने में स्वतन्त्र थे। धाय को अपना बच्चा सौंपकर जैसे कोई पिता निश्चिन्त हो जाता है, उसी तरह रज्जुक को प्रजा का शासन देकर सम्राट् निश्चिन्त हो जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि रज्जुकों का स्थान उप-शासकों के सन्निकट था और वे प्रान्त के स्वतन्त्र शासक थे।

---

[1] ४ स्तम्भ-लेख।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चतुर्थ स्तम्भ-लेख लेख में रज्जुकों के स्वतन्त्र अस्तित्व का उल्लेख करते हुए सम्राट् कहते हैं—"मैंने रज्जुकों को स्वतन्त्रता प्रदान की है। क्यों? इसीलिए कि वे भय-रहित, सन्देह-रहित और भ्रांति-रहित हो अपने कार्य में लगें अथवा न्याय और शासन-कार्य करें।" पाँचवें शिलालेख के अनुसार न्याय-विधान और शासन की त्रुटियों को सुधारने के कार्य अथवा अधिकार धर्म-महामात्र को दिये गये थे। किन्तु चतुर्थ स्तम्भ-लेख से प्रकट होता है कि धर्म-महामात्रों का वह कार्य अब रज्जुकों को भी दे दिया गया। अतः स्पष्ट है कि रज्जुकों को धीरे-धीरे उच्च अधिकार प्राप्त होते गये और वे स्वतन्त्र प्रान्तीय शासक बना दिये गये।

यहाँ पर यह ध्यान रखना होगा कि चतुर्थ-स्तम्भ-लेख का अनुशासन अभिषिक्त होने के २६वें वर्ष का है, जब कि प्रथमतः "रज्जुक"—तृतीय शिलालेख में अन्य दो कर्मचारियों अर्थात् युक्त तथा प्रादेशिक के साथ आया है; किन्तु उस समय रज्जुकों को चतुर्थ स्तम्भ-लेख के अधिकार प्राप्त न थे। तृतीय स्तम्भ-लेख अभिषेक के १२वें वर्ष प्रकाशित हुआ था, अतः चतुर्थ स्तंभ-लेख के अधिकार रज्जुक को तृतीय शिलालेख के १३वें वर्ष के पश्चात् प्राप्त हुए थे। उससे प्रथम वे केवल साधारण राजकर्मचारी ही रहे होंगे, क्योंकि यदि पहले से ही उनको न्याय एवं दण्ड की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती तो फिर से चतुर्थ स्तम्भ-लेख में उनके अधिकारों का उल्लेख करने की आवश्यकता न थी। अतः कह सकते हैं कि पूर्वनिर्दिष्ट विद्वानों ने रज्जुक का जो अर्थ लगाया, उस समय उन्होंने चतुर्थ स्तम्भ-लेख पर ध्यान न दिया। यदि चतुर्थ स्तम्भ-लेख की अवहेलना न की जाती तो प्रकट था कि रज्जुक प्रांत के उत्तरदायी एवं स्वतन्त्र शासक थे जिनका पद उप-शासक कुमारों के बाद स्थिर किया जाना चाहिए।

हम ऊपर लिख आये हैं कि पाँचवें शिलालेख में जो अधिकार आदि धर्म-महामात्रों को प्राप्त थे, वे अब रज्जुक को भी दे दिये गये। अतः ध्यान रहे, कि रज्जुक (युक्त और प्रादेशिक) कार्य केवल शासन-सम्बन्धी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अथवा ऐहिक सुख की लोगों के हित व्यवस्था करना ही न था, अपितु जैसा स्तम्भ-लेख से स्पष्ट है, उन्हें लोगों के पारलौकिक हित तथा सुख की व्यवस्था भी करनी पड़ती थी। इसे हम अशोक का सुधार-कार्य कह सकते हैं, क्योंकि उनसे पहले धर्म के निमित्त किसी ने कोई कार्य न किया और न करवाया ! यही कारण है कि सम्राट् के तृतीय-शिलालेख में रज्जुक आदि को शासन-कार्य के अतिरिक्त धर्मानुशासन के लिए दौरा करने का आदेश देते हैं। सम्राट् का ध्येय ही प्रजा को हर प्रकार से सुख पहुँचाना था। उनका आदर्श था, "नास्ति हि क्रमतर सव्रलोक हितेन" सर्व लोकहित से बढ़कर और कोई कार्य अथवा कर्म नहीं है। उनकी पावन वाणी थी, "इ अ च प सुखयमि परत्र च स्वग्रं अरथेतु ति।" "कुछ प्राणियों को इहलोक में सुख पहुँचा सकूँ जिससे वे दूसरे लोक में स्वर्ग प्राप्त कर सकें।" अतः है कि सम्राट् के राजकर्मचारियों को स्वर्ग और शासन दोनों के सुख की प्रजा के अर्थ व्यवस्था करनी होती थी।

कलिंग के पृथक् शिलालेख में एक और राजकर्मचारी का नाम आया है। कलिंग-शिलालेख (धौली) लिखता है, "देवानांप्रिय के वचनानुसार (अथवा आदेश के अनुसार) तोषाली के महामात्र और नगर-व्यवहारिकों को ऐसा आदेश दिया जाय (अथवा कहा जाय)।" नगर-व्यवहारिकों के श्री जायसवाल ने दो भाग किये हैं, नगर और व्यवहारिक, इसी पक्ष का समर्थन करते हुए सत्यकेतु विद्यालंकार कहते हैं, "निःसंदेह नागरिकों का कार्य-व्यवहार होने से वे बन्धन करते थे और व्यवहारिकों का कार्य शासन होने से वे दण्ड देते थे।" किन्तु हमें ऐसा कहना कुछ हास्यास्पद ही प्रतीत होता है। इसका क्या अर्थ कि एक बन्धन करे और दूसरा दण्ड दे ? यह हमें उचित नहीं जान पड़ता। नगर-व्यवहारिक, कौटिल्य के पुर-व्यवहारिक महामात्र के समकक्ष है। (कौटिल्य अर्थशास्त्र १, १२)। इस नगर-व्यवहारिक को एक ही शब्द मानना चाहिए। जौगुडा प्रज्ञापन में 'महामाता नगल व्यवहाल' प्रयुक्त हुआ है; इसी भाँति नगर के अधीश के लिए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कौटिल्य ने नागरिक महामात्र शब्द का प्रयोग किया है। (कौटिल्य अर्थ-शास्त्र ४, ५)। इससे ज्ञात होता है कि नगर-व्यवहारिक के लिए महा-मात्र शब्द अथवा उपाधि का प्रयोग किया जाता था। जिस प्रकार समाहर्त्ता जनपद का अधीश था उसी भाँति नगर का अधीश नागरिक (कौटिल्य अर्थशास्त्र ३५,३६) अथवा नगर-व्यवहारिक या महामात्र नगर-व्यवहारिक हुआ करता था। नगर का अर्थ 'पुर' से है और व्यवहार का अर्थ-शासन या 'व्यवस्था' से है। अतः प्रकट है कि नगर-व्यवहारिक से तात्पर्य उस राजकर्मचारी से है जिसके पास नगर के शासन का भार सौंपा गया था, अर्थात् नगर का शासक नगर-व्यवहारिक कहलाता था।[1]

कलिंग-शिलालेख प्रथम—(धौली) में सम्राट् कहते हैं—"जो कुछ भी मैं ठीक या हितकर समझूँ, उसे मेरी कामना है कि किसी प्रकार कार्य रूप में लाऊँ और भली प्रकार पूरा कर सकूँ। इस अर्थ की सिद्धि के लिये मैं मुख्य उपाय शिक्षा देना अथवा अनुष्ठि समझता हूँ। तुम लोग अथवा (नगर-व्यवहारिक) अनेकों सहस्रों प्राणियों के ऊपर नियत हो, क्यों ? इसीलिए कि तुम सब मनुष्यों से प्रेम करो या सब मनुष्यों के प्रेम को पा जाओ। सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं"......आदि। इस लेख में सम्राट् अशोक ने राजा एवं शासक के कर्त्तव्यों को प्रकट किया है; सम्राट् नगर-व्यवहारिक अथवा शासकों को स्मरण कराना चाहते हैं कि वे भी प्रजा अथवा मेरे पुत्रों के साथ स्नेह का बर्ताव करें क्योंकि 'मनु' भी कहता है—

"स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्त्तेत पितृवन्नषु" (सातवाँ अध्याय ८०)

सम्राट् के नगर-व्यवहारिकों को इस भाँति आदेशित एवं अनुशासित करने से मालूम होता है कि उन पर शासन-व्यवस्था का यथेष्ट उत्तरदायित्व

---

[1] व्यवहार-समता तथा दण्ड-समता के भंग करने पर रज्जुक को नगर-व्यवहारिकों के शासन-कार्य की भी देखभाल करनी पड़ती थी जिससे फिर कभी न्याय एवं दण्ड-समता भंग न हो सके।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था और इसी उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से निभाने के हेतु ही सम्राट् उनको इस तरह निर्देश करते हैं। इसके सिवा "बहूसु पान-साहसेसु आयुता"—(धौली-कलिंग शिलालेख) अर्थात् "तुम बहुत से प्राणियों के ऊपर शासन के लिए आयुक्त हो", से भी सर्वथा स्पष्ट है कि इन नगर-व्यवहारिकों का शासन-क्षेत्र एवं अधिकार विस्तृत थे तथा जनपद के शासकों के अनुरूप ही उनका शासन आदि में ऊँचा स्थान था।

१२वें शिलालेख में तीन और राजकर्मचारियों के नाम दिये गये हैं; (१) धर्म-महामात्र, (२) स्त्रीध्यक्षमहामात्र, और (३) व्रजभूमिक।

सम्राट् अशोक बौद्ध हुए थे, उन्होंने शाक्यमुनि के नियोगों को अपनाया था, इसीलिए कि भगवान् गौतम की भाँति वे संसार के सुख-दुःख का कारण समझना चाहते थे, एवं जिससे विश्व-शान्ति स्थापित हो सके, जिससे संसार के प्राणी सुख प्राप्त कर सकें, उसी वस्तु को वे ढूँढ़ना चाहते थे और वे अपने इस अन्वेषण में सफलीभूत भी हुए। उन्हें प्रकाशित हो गया कि सम्पूर्ण सुख और दुःख के मूल में "धर्म और अधर्म" ही है; मनु भगवान् भी कहते हैं—"अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम्। धमार्थप्रभवं चैव सुख संयोगमक्षयम् ॥६४॥ अध्याय—६।" अर्थात् अधर्म से दुःख और धर्म से ब्रह्म का साक्षात्कार होने से अक्षय ब्रह्मसुख मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः इसी "धर्म" के हित सम्राट् ने सर्व प्रकार से पराक्रम तथा उद्योग किया, क्योंकि वे सबके हित एवं सुख के अभिलाषी थे। सम्राट् के अपने प्यारे शब्द थे, "सर्वभूतानां, अछति च, सयमं च, समचेरां च, मादवं च"—अर्थात् "मैं (अशोक) सर्व प्राणियों के हेतु परित्राण, इन्द्रियजय, मनः शान्ति एवं सुख का अभिलाषी हूँ।" अतः इसी अर्थ के लिए चारु शासन व्यवस्था समेत वे प्रजा में "धर्म" का भी प्रचार करने की युक्ति विचारने लगे। प्रथमतः इस सुपथ का आलोक तृतीय शिलालेख में दीख पड़ता है। सम्राट् कहते हैं; "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है कि अभिषिक्त होने के १२वें वर्ष मैंने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रकार आज्ञा दी कि मेरे विजित राज्य में युक्त, रज्जुक और प्रादेशिक प्रति ५वें वर्ष, जिस प्रकार और शासन सम्बन्धी कार्य के लिए दौरा करते हैं, उसी तरह बारी-बारी से धर्म-प्रचार के लिए भी दौरा किया करें।" किन्तु इसके अनन्तर सम्राट् ने "धर्म" की अभिवृद्धि तथा प्रचार के लिए एक नवीन प्रकार के अधिकारी ही नियत कर दिये। सातवाँ स्तम्भ-लेख कहता है--"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि विगत काल में राजाओं की यह इच्छा थी कि किस प्रकार धर्म की प्रजा में उन्नति हो। किन्तु लोग धर्म के अनुरूप न बढ़ सके। इस पर......मुझे यह विचार आया......कैसे लोगों को धर्म पर आचरण कराया जा सकता है? ......किस तरह धर्म के अनुरूप मैं उन्हें (लोगों अथवा प्रजा को) बना सकता हूँ।...इसलिए मैंने विविध धर्मानुशासन प्रेषित किये हैं।... मेरे पुरुष .....धर्म का उपदेश कर प्रचार करेंगे। रज्जुकों को भी जो सैकड़ों हजारों प्राणियों के लिए नियत हैं, मैंने आज्ञा दी है कि धर्मयुक्त लोगों को इस प्रकार (धर्म के प्रति) उत्साहित करो। देवताओं का प्रिय कहता है कि यह ज्ञात करके (धर्म-प्रचार के हेतु), मैंने धर्म-स्तम्भ स्थापित किये, महामात्रों (धर्म-महामात्रों) की नियुक्ति की तथा धर्म-लिपियाँ लिखवाईं।" इस वृत्त से सर्वथा स्पष्ट है कि धर्म-प्रचार के हेतु ही प्रथमतः सम्राट् अशोक ने धर्म-महामात्रों को नियत किया था। पाँचवें शिलालेख में सम्राट् स्वयं धर्म-महामात्रों का वर्णन देते हुए उनके कार्यों का उल्लेख करते हैं। पाँचवाँ शिलालेख कहता है—"विगत काल में धर्म-महामात्र न नियत किये जाते थे (अथवा धर्म-महामात्र न थे), किन्तु अभिषिक्त होने के तेरहवें वर्ष मैंने धर्म-महामात्रों को नियत किया। वे सब सम्प्रदायों (धर्मों) में धर्म की स्थापना और उन्नति के लिए नियत हैं। वे धर्म-महामात्र लोगों के सुख और भलाई के लिए नियत हैं। वे यवन, कम्बोज, गांधार, राष्ट्रिकों, पैठानिकों तथा पश्चिमी सीमा-प्रांत या अपरंता के लोगों के लिए नियत हैं। वे भट, दास, वेतनभोगी, नौकरों, ब्राह्मण, साधु,

६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गृहस्थों, असहायों और जीर्ण वृद्धों की भलाई और सुख के लिए नियत हैं तथा धर्मानुगामिन् लोगों की रक्षा के लिए नियत हैं। वे बन्धन (कैद करने), प्राणदण्ड देने, बाधाओं से रक्षा करने, स्वतन्त्र करने (मुक्त करने) के लिए, जिसके बहुत से बाल-बच्चे हों, जो विपत्तियों से ग्रसित हो या बुड्ढा हो उनके हित के लिए नियत हैं। ये धर्म-महामात्र यहाँ तथा बाह्य दूरस्थ नगरों में मेरे तथा भाइयों और बहिनों के अन्तःपुर और मेरे अन्य सम्बन्धियों के यहाँ सर्वत्र नियत हैं। जो मेरे विजित प्रदेश में धर्म के कार्य में लगे हैं (धर्म युक्तेसु), जो धर्मरत हैं, जो धर्म के अभिलाषी हैं या धर्म में अधिष्ठित हैं या दान के कर्म में रत हैं, (उन सबके हित) धर्म-महामात्र नियत हैं।" सम्राट् के इस अनुशासन से स्पष्ट है कि धर्म-महामात्र उन्होंने ही प्रथम नियत किये थे तथा उनके कार्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत था एवं उनके अधिकार उपशासक तथा सम्राट् के अधिकारों के बराबर थे। उन्हें प्रत्येक मनुष्य, राजकीय परिवार तथा प्रत्येक सम्प्रदाय की देखभाल तथा सबके धर्म-हित की उचित व्यवस्था करनी पड़ती थी। सातवें स्तम्भ-लेख से विदित होता है कि उन्हें सङ्घ का कार्य भी करना पड़ता था तथा ब्राह्मण, आजीविक, निरग्रन्थ और गृहस्थों की भी उन्हें देखभाल करनी होती थी। विदित होता है कि दूसरे शिलालेख में वर्णित सामाजिक-हित के कार्यों का सम्पादन भी इन्हीं महामात्रों को सौंपा गया था। समासतः वे धर्म-प्रचार के लिए नियत किये गये थे, वे शासन की क्रूरता तथा अन्याय एवं अत्याचारों की शान्ति के लिए नियत थे, उन्हें सम्राट् और राजकीय परिवार के दान-कर्म आदि की व्यवस्था करनी पड़ती थी (सातवाँ स्तम्भ-लेख) तथा वे सर्व मनुष्यों एवं सम्प्रदायों के हित के लिए नियत थे।

स्पष्ट है कि प्रजा का धर्म-युक्त एवं एकमात्र धर्म से पालन करना सम्राट् अशोक राजा का मुख्य कर्त्तव्य मानते थे। कह सकते हैं कि सम्राट् का युग सत्ययुग था जब कि "धर्मेणैव प्रजाः सर्वारक्षन्ति परस्परम्" (महा-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारत, राज-धर्मानुशासन पर्व १४, ५९)। धर्म से ही परस्पर प्रजा की रक्षा की जाती थी।

स्त्री-अध्यक्ष-महामात्र—हुल्ज़ (Hultzsch) इन महामात्रों को गणिक-अध्यक्ष-महामात्र कहता है, अर्थात् वे महामात्र जो राजकर्मचारियों के ऊपर अध्यक्ष नियत थे, किन्तु हुल्ज़ के इस मत का समर्थन करने में हम असमर्थ हैं। पाँचवें शिलालेख से सुप्रकाशित है कि राजकीय अन्तःपुर अथवा अवरोध के हित धर्म-महामात्र पहले से ही नियत थे। इन धर्म-महामात्रों को सम्राट् के निज अवरोध एवं भाइयों और बहिनों के अवरोध तथा अन्य सम्बन्धियों के अवरोध में धर्म-कार्य करना होता था (देखिए—पाँचवाँ शिलालेख तथा सातवाँ स्तम्भ-लेख)। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि धर्म-महामात्रों की योजना स्वयं सम्राट् ने ही की थी, अतः अन्तःपुर में अथवा स्त्रियों में धर्म का कार्य सम्पादन करने वालों तथा अन्य सम्प्रदायों, मनुष्यों आदि में धर्म-कार्य करने वाले सभी तरह के महामात्रों को पहले एक ही नाम से संबोधित किया गया, किंतु १२वें शिलालेख में आकर सम्राट् का धर्म-महामात्र का भाव परिपक्व हुआ और उन्होंने अंतःपुर में कार्य करनेवाले एवं अंतःपुर के अर्थ नियत किये जाने वाले महामात्रों का स्त्रीध्यक्ष-महामात्र नाम रखकर, उन्हें धर्म-महामात्रों से भिन्न कर दिया। साथ ही इस नाम से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि अंतःपुर के अलावा सम्राट् प्रजा की समस्त स्त्रियों एवं सङ्घ में रहनेवाली भिक्षुणियों में भी धर्म-प्रचार तथा धर्म-कार्य के लिए अलग से महामात्र नियत करने का विचार कर रहे थे, अतः इसी विचार को कार्यरूप में परिणत कर उन्होंने स्त्रियों के धर्म-कार्य के हित धर्म-महामात्रों का एक अलग विभाग स्थापित किया, जिसका अध्यक्ष स्त्रीध्यक्ष-महामात्र कहलाया।

वचभूमिका या व्रजभूमिका—(शाहबाजगढ़ी, "व्रचम" मानसेरा)—प्रथम विद्वानों ने "व्रच" को वर्च पढ़कर उसका अर्थ "मल" करके यह निष्कर्ष निकाला कि सम्राट् "शौचागार" में भी प्रजा के आवेदन सुना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करते थे।[१] यह धारणा पीछे हास्यजनक प्रतीत हुई। वस्तुतः व्रज का अर्थ चरागाह है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी व्रज शब्द आया है। अर्थशास्त्र के अनुसार व्रज का अर्थ "गाय, भैंस, बकरी, भेंड़, घोड़े, ऊँट आदि के झुंड अथवा पशुशाला से है[२] और भूमिक यहाँ पर "पद" का निर्देशक है। अतः विदित होता है कि व्रज-भूमिका राजकीय चरागाह और पशुओं के अध्यक्ष थे। अनुमानतः पाँचवें शिलालेख में वर्णित गोष्ठ—(सम्राट् जहाँ जाकर कभी-कभी अपने अवकाश का समय व्यतीत किया करते थे)—राजकीय पशुशाला ही थे।[३] कुछ विद्वानों की धारणा है कि व्रजभूमिक व्रजभूमि अर्थात् मथुरा और वृन्दावन के निवासी थे और सम्राट् ने उनको तीर्थयात्रा और धर्म-प्रचार के हेतु नियत किया था, साथ ही उन्हें पशुओं और वनिक-पथ की भी देख-रेख करनी पड़ती थी। व्रज-भूमिक को पशुओं की देख-रेख अथवा देखभाल करनी पड़ती थी, इसमें तो किंचित् सन्देह नहीं है। शिलालेखों के अध्ययन करने से ज्ञात होगा कि सम्राट् का रक्षण तथा पालन-कार्य मनुष्यों तक ही सीमित न था, वे तो सर्वप्राणियों का—चाहे मनुष्य हो चाहे पशु—मंगल चाहते थे।[४] अतः अनुमान किया जा सकता है कि जिस प्रकार धर्म-महामात्र, रज्जुक आदि मनुष्यों के रक्षण-कार्य तथा सुख की व्यवस्था करने के हेतु नियत किये गये थे, उसी प्रकार व्रजभूमिक पशुओं के रक्षण तथा सुख-साधन के लिए नियत थे। संक्षेप में व्रजभूमिक, धर्म-महामात्र और स्त्रीध्यक्ष-महामात्र के अनुरूप ही धर्म के हित पशुओं के अध्यक्ष नियत किये गये थे। १२वें शिलालेख में सम्राट् ने उनके नियत किये

[१] अशोक की धर्म-लिपियाँ, काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा।

[२] कौटिल्य अर्थशास्त्र पृष्ठ ६०।

[३] श्री भण्डारकर, अशोक पृष्ठ ६२।

[४] देखिये—द्वितीय शिलालेख, छठवाँ शिलालेख, सातवाँ स्तम्भ-लेख, दूसरा स्तम्भ-लेख।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाने का कारण धर्म की सारवृद्धि दिया है। सम्राट् के धर्म का अध्ययन करने से विदित हो जायगा कि सम्राट् का धर्म एक प्रछन्न धर्म था और उसका प्रमुख सिद्धान्त था—सर्वलोक हित तथा अक्षति सर्वभूतानां। अतः यदि यह अनुमान करें कि व्रजभूमिक धर्म-महामात्रों आदि की भाँति पशुओं के हित तथा कल्याण के लिए नियत किये गये थे तो अप्रासंगिक न होगा। विदित होता है कि पशुओं के हित के कार्य, जैसे चिकित्सालय खोलना, औषधि का यथोचित प्रबन्ध करना (२रा शिलालेख), पेड़ तथा कुंज लगवाना, पानी पीने के स्थान बनवाना आदि (सातवाँ स्तम्भ-लेख)—इन्हीं व्रजभूमिक को करना पड़ता था और ये ही लोग इन कार्यों के अथवा पशुओं के अध्यक्ष नियत किये गये थे।

महामात्र—सेनार्ट का कहना है कि उच्च पदाधिकारियों के लिए ही "महामात्र" का प्रयोग किया जाता था। सेनार्ट ने महामात्र की व्याख्या की है—"महति मात्रा यस्य" जिसका स्थान ऊँचा हो, वह = महामात्र।[1] ये महामात्र जैसा कि पूर्वनिर्दिष्ट हो चुका है—धर्म-प्रचार के लिए नियत थे। इन महामात्रों में धर्म-महामात्र तथा स्त्रीध्यक्ष-महामात्र का हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं। इनके अतिरिक्त अंता अथवा सीमान्त प्रदेशों मे धर्म-कार्य करने के लिए एक और प्रकार के महामात्र नियत किये गये थे—इनका नाम अंत-महामात्र था। अन्ता का अर्थ अन्त अथवा सीमान्त प्रदेशों से है। अतः अन्त महामात्र वे धर्म-प्रचारक महामात्र थे जो अन्ता अर्थात् सीमान्त प्रदेशों में धर्म-कार्य किया करते थे। किन्तु बुलेर की सम्मति में अन्त-महामात्र सीमान्त-रक्षक थे। बहुत से विद्वान् अन्त-महामात्र को कौटिल्य के अन्त-पाल से मिलाते हैं जिसका अर्थ—(अन्त = सीमा, पाल = रक्षा अर्थात्) सीमा के रक्षकों से लिया जाता है। कौटिल्य के ये अन्त-पाल साम्राज्य के द्वार की रक्षा करने के लिए नियत किये जाते थे। इन लोगों के पास गढ़ अथवा

---

[1] J. R. A. S. pp. 386. 1814.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किले भी हुआ करते थे।[१] किन्तु अशोक के शिलालेखों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अंत-महामात्र, "सीमान्त-रक्षक" न थे और उन्हें कौटिल्य के अन्त-पाल से मिलाना भूल करना है।

अन्त-महामात्रों के स्थान अथवा कार्य का निरूपण करने से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि सम्राट् की सीमान्त-प्रदेशों के प्रति क्या नीति थी। पृथक् कलिंग-शिलालेख, द्वितीय जौगुडा लिखता है—

"अविजित अन्ता (सीमान्त निवासी) प्रश्न कर सकते हैं कि राजा (अथवा सम्राट् अशोक) की हमारे प्रति क्या इच्छा (अथवा भाव) है? अंतों (सीमान्त लोगों या प्रदेशों) के प्रति मेरी केवल यह इच्छा है कि वे मुझसे भय न खायँ, किन्तु मुझमें विश्वास रखें कि वे मेरे द्वारा दुःख के अलावा सुख ही पायेंगे। वे यह भी समझ रखें कि राजा (अथवा अशोक) जो कुछ क्षमा किया जा सकता है, वह क्षमा करेगा। मैं अपने धर्म-नियमों से उन्हें धर्म सिखलाऊँगा (अथवा धर्म-पथ पर आचरण कराने का उद्योग करूँगा) जिससे वे इहलोक और परलोक दोनों को प्राप्त हो सकें।"

इस वृत्त से स्पष्टतः प्रकाशित होता है कि सम्राट् की सीमान्त प्रदेशों के प्रति क्या नीति थी। सम्राट् अशोक निःसन्देह सीमान्त-वासियों के धर्मोत्कर्ष के लिए बहुत उत्सुक थे। सम्राट् सीमान्त-वासियों को आश्वासन देते हैं कि उनकी नीति आक्रामक नहीं है किन्तु मैत्री की है। इस मैत्री के कारण ही सम्राट् चाहते हैं कि वे सीमान्त-वासी दोनों लोकों (अर्थात् इह-लोक और परलोक) में सुख का उपभोग करें। परन्तु यह कैसे हो सकता है—केवल इच्छा भर होने से तो कोई कार्य संसार में हो नहीं सकता, अतः उसके लिए व्यवस्था तथा परिश्रम दोनों की अत्यन्त आवश्यकता है। अब यह सवाल रह जाता है कि अशोक ने इस हेतु क्या उपचार निकाला था? इसका उत्तर सम्राट् के ही शब्दों में 'धर्म पर आचरण' कहा जा

---

[१] देखिये—कौटिल्य अर्थशास्त्र, २—४६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकता है। सम्राट् का कथन है, "मैं अपने धर्म-नियमों से उन्हें धर्म-पथ पर आचरण कराने का उद्योग करूँगा।"

अब हमें यह मालूम (विदित) करना है कि सम्राट् ने किस प्रकार लोगों को धर्माचरण करना सिखलाया। प्रथम स्तम्भ-लेख लिखता है, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है, अभिषिक्त होने के २६वें वर्ष, मैंने यह धर्मलिपि लिखाई। बिना धर्म-कामना, परीक्षा, अनुज्ञा, भय और बिना उत्साह के इहलोक और परलोक (स्वर्गलोक) को पाना कठिन है। किन्तु निःसन्देह मेरे धर्मानुशासन के कारण, धर्माचरण तथा धर्मानुष्ठि में दिन-दिन बढ़ती हुई है और होगी। छोटे-बड़े और मध्यम पद वाले मेरे पुरुष भी धर्मानुशासन पर आचरण करेंगे और लोगों (अर्थात् अपनी प्रजा) से भी उन पर आचरण करवायेंगे। इसी प्रकार मेरे अन्त-महामात्र भी कार्य कर रहे हैं।" इस वृत्त मे अन्त-महामात्रों का उल्लेख आया है, जिससे मालूम होता है कि अन्त-महामात्र, धर्म-कामना तथा धर्म पर आचरण कराने, धर्मानुष्ठि तथा धर्म-प्रचार करने का कार्य कर रहे थे। इस स्तम्भ-लेख से वस्तुतः बिलकुल भी सन्देह नहीं रह जाता कि अन्त-महामात्र, पुरुषों तथा धर्म-महामात्रों के सदृश धर्म के लिए नहीं नियुक्त थे। इस स्तम्भ-लेख में पुरुषों और अन्त महामात्र दोनों का साथ उल्लेख हुआ है— जब कि कार्यरूप में दोनों के कार्य की समानता अथवा सादृश्य भी भली प्रकार प्रकाशित किया गया है। अतः सरलता के साथ कहा जा सकता है कि द्वितीय शिलालेख में उल्लिखित नीति के अनुसार अन्त-महामात्र विजित राज्य से बाहर अर्थात् सीमान्त प्रदेशों में धर्म-प्रचार कार्य आदि के लिए नियत किये गये थे, क्योंकि विजित राज्य में अथवा अशोक के निज साम्राज्य के अन्तर्गत धर्म-प्रचार का कार्य "पुरुष" कर ही रहे थे।

अतः अन्त-पाल और अन्त-महामात्र को अलग-अलग लेना चाहिए। वस्तुतः कह सकते हैं कि अन्त-महामात्र केवल सीमान्त प्रदेशों में धर्म-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रचारक महामात्र थे—जैसा कि प्रथम स्तम्भ-लेख से सर्वशः प्रकाशित होता है।

पुरुष—जैसा कि ऊपर कह चुके हैं "पुरुष" का कार्य विजित राज्य अथवा साम्राज्य के अन्तर्भूत धर्म-प्रचार करना था। ये पुरुष तीन श्रेणियों में विभाजित थे—छोटे, बड़े और मध्यम अथवा (१) उच्च श्रेणीवाले, (२) मध्यम श्रेणीवाले और (३) निचली श्रेणीवाले।

"पुरुष" के प्रति चतुर्थ स्तम्भ-लेख में भी उल्लेख आया है। इस लेख में सम्राट् कहते हैं—"रज्जुकों को मैंने सैकड़ों, हजारों प्राणियों के ऊपर शासन के लिए नियत किया है। क्यों? इसलिएं कि रज्जुक सुनिश्चित और विश्वस्त होकर अपने कार्य में प्रवृत्त हों।............रज्जुक मेरी आज्ञा में तत्पर हैं। जो लोग सम्राट् की इच्छा और अनुशासन को जानते हैं, वे पुरुषों की आज्ञा का पालन करेंगे। वे अर्थात् पुरुष जनपद के लोगों को उत्साह देकर रज्जुकों को धर्म और राजा के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठ होने में उत्साहित करेंगे।" चतुर्थ स्तम्भ-लेख के कथन से स्पष्टतया विदित होता है कि "पुरुष", रज्जुकों के कार्य का निःसन्देह निरीक्षण किया करता था तथा उनके कार्य में शिथिलता पाने पर उन्हें कार्य करने के लिए निर्देश भी करता था। अतः कहा जा सकता है कि पुरुषों का स्थान रज्जुकों से ऊपर था। लेकिन रज्जुकों से उच्च स्थान रखनेवाले पुरुष उच्च श्रेणी के रहे होंगे।

परिषद्—तीसरे शिलालेख में "परिषद्" का उल्लेख आया है। तीसरा शिलालेख कहता है, "माता-पिता की सेवा करना स्तुत्य है, मित्रों के प्रति उदारहस्त होना श्लाघनीय है; परिचित लोगों, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति दानशील होना प्रशंसनीय है। जीवों की हिंसा न करना प्रशंसनीय है, बहुत व्यय न करना और बहुत संचय न करना अच्छा है। परिषद् भी युक्त को मेरे धर्मानुशासन के अर्थ और अभिप्राय के अनुसार जांच करने की आज्ञा देगी!" इस शिलालेख में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्राट् परिषद् को आदेश देते हैं कि वह युक्त आदि कर्मचारियों को प्रजा में अहिंसा, सेवा-दान तथा अल्प-व्यय और अल्प-संचय आदि गुणों का प्रचार करने के हित सहायता देंगे तथा उनको इस धर्मानुशासन का प्रजा में प्रचार करने के लिए आदेश किया करेंगे। अतः प्रकाशित है कि इस परिषद् का कार्य राज-कर्मचारियों के कार्य की देखभाल करना था तथा साथ ही राज्य के कर्मचारियों से सम्राट् द्वारा प्रेषित हुई आज्ञाओं का पालन कराना भी था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी परिषद् का वर्णन आया है। इस परिषद् का आशय मंत्रि-परिषद् से है। इस परिषद् का कार्य था कि जो काम आरम्भ न हुआ हो उसे आरम्भ करे, जो कार्य आरम्भ हो चुका हो उसे पूरा करे और जो पूरा किया जा चुका हो उसमें सुधार-कार्य करे तथा अनुशासनों का (अन्य राज्य के कर्मचारियों से) पूर्णता से पालन करावे।[1]

इस विवरण से प्रकाशित है कि कौटिल्य की मंत्रि-परिषद् की भाँति ही अशोक के परिषद् को कार्य करना पड़ता था, अतः कह सकते हैं कि अशोक के परिषद् से तात्पर्य मंत्रि-परिषद् से ही है। छठवें शिलालेख में भी परिषद् का उल्लेख आया है। इस लेख में सम्राट् कहते हैं—"यदि कभी संयोगवश दान देने वाले या विज्ञप्ति सुनाने वाले अधिकारियों को जो कोई आज्ञा मैं मौखिक दूँ तथा अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर जो अधिकार उन्हें (मुझसे) दिया जाय, यदि उस पर संदेह, तर्क-वितर्क व विमर्श (मतभेद या समीक्षा) हो तो परिषद् बिना देर किये, कहीं भी सर्वत्र, सब समय पर मुझे सूचित करे (इस विषय की सूचना देवे)।

इस वृत्त से सर्वथा स्पष्ट है कि सम्राट् जो मौखिक आज्ञाएँ व अधिकार आदि कर्मचारियों अथवा महामात्रों को देते थे उनको प्रथम परिषद् में विचारने के लिए रखा जाता था। यदि परिषद् इन मौखिक आज्ञाओं को

---

[1]ग्रंथ भाग प्रथम, प्रकरण १५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्राट् द्वारा प्रेषित हुई समझती तो उन आज्ञाओं का पालन हो सकता था अन्यथा नहीं—अर्थात् परिषद् का महामात्रों पर किसी प्रकार का सन्देह अथवा मतभेद होने पर, सम्राट् से निर्णय लेने के उपरान्त ही आदेशों को कार्य में परिणत किया जा सकता था। अतः स्पष्ट है कि परिषद् महामात्र और सम्राट् के मध्य संयोजक का कार्य करती थी। परिषद् को अधिकार था कि संदेह होने पर सम्राट् की मौखिक आज्ञाओं को रोक कर उन्हें कार्य रूप में परिणत होने से पहले सम्राट् द्वारा निर्धारित करा लेवे। यह परिषद् कार्य-निर्वाहक सभा थी।

श्री सत्यकेतु विद्यालङ्कार लिखते हैं कि परिषद् अथवा मन्त्रि-परिषद्, सम्राट् पर नियन्त्रण रखती थी। इसके प्रमाणस्वरूप वे अशोकावदान से एक कहानी उद्धृत करते हैं। संक्षेपतः कहानी का आशय है कि सम्राट् अशोक एक समय कुर्कुटाराम विहार को धन-दान करना चाहते थे। पर वे दान न दे सके, "क्योंकि उस समय कुणाल का पुत्र अर्थात् अशोक का पौत्र सम्प्रति युवराज था। उससे अमात्यों ने कहा—"कुमार ! राजा अशोक को सदा थोड़े ही रहना है। उनका थोड़ा ही समय बाकी है। यह द्रव्य कुर्कुटाराम विहार को भेजा जा रहा है। राजाओं की शक्ति कोष पर ही आश्रित है। इसलिए मना कर दो।" कुमार ने भाण्डागारिक को राजकोष से दान देने के लिए मना कर दिया। अतः सम्राट् को इच्छानुसार दान करने के लिए धन न मिल सका।" क्या इस कहानी से सम्राट् के ऊपर मंत्रि-परिषद् का नियन्त्रण होना साबित होता है? कहानी से स्पष्ट है कि मन्त्रियों ने अशोक के पोते को बहकाकर, उसी के द्वारा राजकोष से सम्राट् अशोक को दान के अर्थ धन लेने से रोका था। अतः प्रकट है कि सम्राट् के दान-कार्य पर परिषद् का कोई नियन्त्रण न था और यदि परिषद् को सम्राट् पर नियन्त्रण करने की शक्ति होती तो उसे युवराज सम्प्रति को बहकाने अथवा सम्मति देने को क्या आवश्यकता थी? क्यों न मन्त्रि-परिषद् सम्राट् के इस "दान" को व्यर्थ समझकर स्वयं उसका विरोध करती? यदि परिषद् में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्राट् के समक्ष सीधे कोई विरोध उपस्थित करने की शक्ति न थी, तो यह कहना बिलकुल निरर्थक है कि परिषद् अथवा मन्त्रि-परिषद् सम्राट् पर नियन्त्रण करती रही होगी। वस्तुत: परिषद् पर सम्राट् का नियन्त्रण था और यदि छठवें शिलालेख के अनुसार परिषद् सम्राट् की मौखिक आज्ञाओं पर हस्तक्षेप कर सकती थी, तो वह किसके अधिकार से ? यह अधिकार स्वयं सम्राट् का परिषद् को दिया हुआ था और इस अधिकार का यह भी तात्पर्य न था कि परिषद् सम्राट् की आज्ञाओं पर हस्तक्षेप करे, किन्तु आज्ञाओं के बिना हस्ताक्षर अथवा मौखिक होने के कारण यदि परिषद् को यह सन्देह हो कि महामात्रों को दी हुई ये आज्ञाएँ सम्राट् की ही प्रेषित की हैं अथवा नहीं, तो जाकर सम्राट् से ही उनकी सत्यता का निर्णय करा ले। बस इतना ही परिषद् को अधिकार था, किन्तु यदि विद्यालङ्कारजी द्वारा उद्धृत कथा को सत्य भी माना जाय तो उससे केवल यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अन्तिम वृद्धावस्था के समय सम्राट् (अशोक) पदच्युत कर दिये गये थे तथा उनके अधिकार सम्राट् के पौत्र सम्प्रति ने छीन लिये थे। सम्भवतया इसी कारण सम्राट् ने निराशा और घृणापूर्ण शब्दों में कहा था—"ऐश्वर्य धिगनार्य"—ऐश्वर्य के लिए धिक्कार। अशोकावदान यह भी लिखता है कि सम्राट् ने जब अमात्यों और पौत्र को बुलाकर पूछा कि "इस समय राज्य का कौन स्वामी है ?" तो मन्त्रियों ने कहा—"आप ही स्वामी हैं।" इस पर कथा लिखती है कि अशोक ने आँसू बहाते हुए कहा कि—"मुझसे तो राज्य छिन गया है।" मालूम होता है कि अशोकावदान की कथा को प्रमाण रूप में देते हुए भी विद्यालङ्कारजी कथा के आशय की अवहेलना कर गये, अन्यथा अशोक के कथन को उन्हें अधिक प्रमाणित लेना चाहिए था। उत्तराधिकारियों द्वारा राज्य का अपहरण किया जाना अशोक के समय कोई नई बात न थी। सम्प्रति से पहले अजातशत्रु ने भी अपने पिता को पदच्युत किया था। इस प्रकार के कई उदाहरण भी इतिहास में प्रबलता के साथ पाये जाते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शासन से सुधार, दौरा या निरीक्षण-कार्य—सम्राट् अशोक का साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत था, अतः इस विस्तृत साम्राज्य की देखरेख रखने के लिए सम्राट् ने दौरे की प्रथा का अनुकरण किया। देख-रेख अथवा निरीक्षण का प्रमुख आशय यही था कि प्रजा को सब जगह सुशासन मिल रहा है या नहीं, क्योंकि अशोक एक उत्तरदायी सम्राट् थे। वे अपनी प्रजा को बच्चों के समान प्यार करते थे और अपने को प्रजा का ऋणी समझते थे, अतः सुन्दर, न्याययुक्त शासन-व्यवस्था का सम्पादन कर वे अपने को उऋण करना चाहते थे। इसी कारण शासन का निरीक्षण करने के लिए सम्राट् ने महामात्रों को नियत किया। पृथक् कलिंग शिलालेख प्रथम में अशोक कहता है, "नगर-व्यवहारिक तथा महामात्र नित्य इस कार्य का उपक्रम करते रहें कि बिना किसी कारण के मनुष्यों को बन्धन में न रखा जाय, न उन्हें कष्ट दिया जाय और प्रत्येक पाँचवें वर्ष (मैं) एक महामात्र को नियत करूँगा, जो कार्य करने में न तो कठोर होगा और न क्रूर होगा, किन्तु जो धीरता से कार्य करेगा। क्यों ? इसलिए कि शासन-कर्त्तागण इस बात का विचार रख, मेरी आज्ञा अथवा अनुष्ठि के अनुसार कार्य कर रहे हैं या नहीं। उज्जैन से भी ये कुमार-शासक इसी अर्थ के लिए ऐसे ही अधिकारियों के एक वर्ग को नियत करें और तीन साल से अधिक न व्यतीत होने दें। ऐसा ही तक्षशिला में किया जाय।

जब ये महामात्र दौरे पर जायँ, तब वे अपने कर्त्तव्य को निभाते हुए, इस बात का भी निश्चय करें या देखभाल रखें कि शासकवर्ग सम्राट् के अनुशासन का पालन कर रहे हैं।"

इस शिलालेख से स्पष्टतः प्रकाशित है कि प्रत्येक पाँचवें वर्ष महामात्र सम्राट् द्वारा दौरे पर इसीलिए भेजे जाते थे कि वे शासकवर्ग के शासन का निरीक्षण किया करें और देखें कि ये शासकगण ठीक तरह से सम्राट् के आज्ञानुसार कार्य कर रहे हैं या नहीं। अतः प्रकाशित है कि शासकवर्ग अथवा राजकर्मचारियों के शासन-कार्य का निरीक्षण करने के लिए ही सम्राट्

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने "दौरे" की प्रथा प्रचलित की। सम्राट् शासनकर्त्ताओं के निजी अत्याचारों से भली प्रकार परिचित थे, इसलिए उन्हें नित्य शासकों पर सन्देह बना रहता था। सम्राट् का सुशासन के प्रति इतना अधिक ध्यान था; क्योंकि—"इस कर्त्तव्य (अर्थात् सुशासन) के सम्पादन से दो लाभ हैं, अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति और राज-कर्त्तव्य से उऋणता पा जाना।"

[सारनाथ स्तम्भ-लेख में भी सम्राट् ने स्थानिक महामात्रों को अपने प्रान्त के अन्तर्गत "दौरा" करने का अनुशासन दिया है।]

शासन का निरीक्षण करने के अलावा धर्म-प्रचार के हेतु भी "दौरा" हुआ करता था। क्योंकि सम्राट् प्रजा को ऐहिक सुख के साथ स्वर्गिक सुख का भी उपभोग करवाना चाहते थे।

[पृथक्—कलिंग शिलालेख द्वितीय (जौगुडा) में सम्राट् कहते हैं, "जिस प्रकार मेरी अभिलाषा है कि मेरे पुत्र इहलोक और परलोक दोनों में सुखी हों, ऐसे ही मैं सर्व-मनुष्यों के प्रति अभिलाषा करता हूँ।"]

तीसरा शिलालेख कहता है, "मेरे विजित राज्य में युक्त, रज्जुक और प्रादेशिक प्रति पाँचवें वर्ष जिस प्रकार और शासन सम्बन्धी कार्य के लिए दौरा करते हैं उसी तरह बारी-बारी से धर्म-प्रचार के लिए भी दौरा किया करें।" स्पष्ट है कि युक्त, रज्जुक तथा प्रादेशिक आदि को शासन का निरीक्षण करने के सहित धर्म-प्रचार हेतु भी "दौरे" पर जाना पड़ता था। संक्षेपतः सुशासन तथा धर्म के संस्थापन के हेतु ही दौरा-प्रथा प्रचलित की गई थी, सम्राट् का यह पहला सुधार कार्य था।

पैतृकीय शासन—महाभारत[1] कहता है, "राजा का प्रजा से वही सम्बन्ध है जैसा माँ का अपने बच्चों से, अतः माँ की तरह राजा को प्रजा के हित व्यक्तिगत स्वार्थों का बलिदान करना चाहिए।" राजा के पैतृक गुणों का महाभारत, कौटिल्य, मनु आदि ने स्वच्छन्दतापूर्वक अभिनन्दन

[1]शान्ति पर्व राजधर्म प्रकरण ५६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया है। सम्राट् अशोक का चरित्र भी इन्हीं पैतृक गुणों से भरा हुआ था। सम्राट् अशोक भी सारी प्रजा को अपने बच्चों के समान प्यार किया करते थे तथा नित्य अपनी प्रजा के ऐहिक और पारलौकिक सुख के लिये पराक्रम में लगे रहते थे।[१] सम्राट् का प्रजा के प्रति यह स्नेह प्रशंसनीय है, उनके शब्द हैं—"कटिवय मते हि मे सर्वलोक हिते" (मानसेरा) अर्थात् "सर्व लोक का कल्याण मेरा कर्त्तव्य है।" प्रजा के प्रति उनकी निरन्तर दो भावनाएँ रही हैं—"प्रजा को इस लोक में शासन द्वारा सुख पहुँचाऊँ जिससे वे परलोक में भी स्वर्ग प्राप्त कर सकें।"[२]

निस्सन्देह, सम्राट् प्रजा तथा सर्वलोक का कल्याण करने के लिए निरन्तर इसी पैतृक भावना से प्रेरित होकर पराक्रम करते रहे और निरन्तर

---

[१]देखिए पृथक कलिंग शिलालेख, प्रथम-द्वितीय—सव मुनीषि मि प्रजा

[२]कालसी ६वाँ शिलालेख। योरप के मध्ययुगीन राज-शास्त्र के आचार्य ओटो गियर्के ने भी राज्य के कर्त्तव्यों में प्रजा की आध्यात्मिक उन्नति को भी सम्मिलित किया है। उनका कथन है :—

Spiritual Aim of the State—Marsilius. Patavinus of Maynardina [14th century] "ascribes to the State for the 'benevivere' on earth and in heaven, and therefore a widely extended care for morals and general welfare"—[cf. Asoka's spiritual aim and care for the moral of his people.]

Asoka's inscriptions first came to notice towards the close of the 18th cen.

The task of reading the inscriptions was accomplished in A. D. 1837 by Prinsep.

—Political Theories of the middle ages by Dr. Otto Gierke. PP. 14

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपने राजकर्मचारियों को भी इसके लिए उत्साहित करते गये । इस कल्याण के हेतु सम्राट् अपक्षपात तथा न्याय-समता को अत्यन्त आवश्यक समझते थे । एक समय सम्राट् को जब यह मालूम हुआ कि तोषाली के व्यवहारिकों ने निरपराध प्रजा को अन्यायपूर्वक पीड़ित किया है तो सम्राट् ने उनकी भर्त्सना कर कहा—"तुमने मेरे शब्दों का तात्पर्य नहीं समझ पाया, सारी प्रजा मेरे निजी बच्चे हैं और उनके कल्याण की शुभेच्छा ही मेरी एक अभिलाषा है । तुम अपने को ईर्ष्या, द्वेष, आलस्य और असहिष्णुता से बचाओ तथा प्रशक्ति, प्रशान्ति, क्षमाशीलता आदि गुण ग्रहण करो ।" सम्राट् ने नगर-व्यवहारिकों को समझाते हुए बतलाया कि शासन का कर्त्तव्य-पालन न करने से "महत् अपयश होता है ।.........उसको न स्वर्गसिद्धि होती है और न राजकीय कृपा मिलती है ।" लेकिन कर्त्तव्य पालन करने से "स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा राज-कर्त्तव्य से उऋणता मिलती है ।" शासन की यह सरलता और कर्त्तव्यपरायण सम्राट् का दूसरा सुधार-कार्य था ।

सम्राट् अशोक का तीसरा सुधार कार्य था प्रतिवेदकों की नियुक्ति— "बहुत काल व्यतीत हुआ कि प्रत्येक समय राज-कार्य और राजा से प्रजा की विज्ञप्ति नहीं होती थी । इसलिए मैंने ऐसा प्रबन्ध किया जिससे प्रत्येक समय, चाहे मैं खाता होऊँ, चाहे अन्तःपुर में होऊँ, चाहे महल में होऊँ, चाहे यात्रा में रहूँ, चाहे वाटिका में भ्रमण करता होऊँ, सर्वत्र कहीं भी प्रतिवेदक मुझे प्रजा के कार्य की सूचना दें, आवेदन करें ।" फलतः प्रतिवेदक का नियत किया जाना तथा प्रत्येक समय प्रजा के कार्य के लिए सम्राट् (अशोक) का उद्यत रहना सम्राट् का तृतीय सुधार-कार्य था । यदि संसार के राजाओं की एक सूची तैयार की जाय तो विदित हो जायगा कि किस प्रकार न्याय राजाओं की दाढ़ी की सघनता में लेटा फूत्कारें भरता था और प्रजा उस भयंकर न्याय की उष्ण फूत्कारों से भयार्त्त हो उनसे दूर भाग जाती थी । किन्तु अशोक की महानता इसी में है कि उसने 'सम्राट्' को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कभी भी एक हिंस्र जानवर के रूप में न लिया और उसे प्रजा का प्रथम सेवक और रक्षण करने वाला पिता समझा। यही कारण था कि अशोक प्रजा की सेवा के लिए हर जगह और हर समय तत्पर रहते थे।

कितनी महत् विशाल आत्मा इस कुटिल जगत में अवतरित हुई थी—कितने महान् थे उनके कार्य, वह करुणा को मूर्ति सदेह पृथ्वी पर स्नेह की जलधारा से संसार के तप्त जीवन को सींचने आई थी। सम्पूर्ण कर्म-योग से निबद्ध था वह चरित्र। सम्राट् ने कहा था और उनकी वाणी अभी भी हमारे हृदय में प्रतिध्वनित हो उठती है—

"ये तोपे उटनसि" मुझे उद्योग (प्रजा का कार्य) करने में ही संतोष है और "अथ्रसंतिरणये च कटविय मते हि मे सव्रलोकहितें"—सर्वलोक मंगल-कल्याण ही मेरा कर्तव्य है, कर्म है।

पुनः सुनिए—"नास्ति हि क्रमतर सव्रलोक हितेन"—सर्वमंगल से बढ़कर अधिक उपादेय कार्य कोई नहीं।

प्रजा के महत् स्नेह-भार से आक्रान्त मस्तक फिर भी चुप नहीं होता और वह कहता है—

जो कुछ भी मैं कार्य करता हूँ, वह किसलिए ? इसलिए कि मैं जीव-धारी (प्रजावर्ग) के ऋण से उऋण हो सकूँ, जिससे मैं उन्हें इस लोक में सुखी करूँ—और (जिसमें) वे परलोक में स्वर्ग प्राप्त कर सकें। इसी हेतु यह धर्मलिपि लिखवाई—चिरस्थायी होवे।" सम्राट् इतने से ही संतुष्ट न हुए, वे चाहते थे कि उनके अनन्तर उनके उत्तराधिकारी भी इसी तरह से कार्य करते रहें—अतः वे कहते हैं—

"सम्पूर्ण विश्व के कल्याण के हित मेरे पुत्र और पौत्र इसी प्रकार उद्योग करें—(अनुशरण करें)। मंगल कार्य करना यद्यपि बिना अविरल परिश्रम के कठिनतर है।"[1]

---

[1]मानसेरा ६वाँ शिलालेख।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ये ही थे सम्राट् अशोक और ऐसे थे उनके प्रजा के प्रति स्नेह के उद्गार जिन्हें राजनीतिक शब्दों में ऐतिहासिक सुधार के नाम से भी सम्बोधित कर सकते हैं।

चतुर्थ सुधार 'रज्जुक' के पद की वृद्धि करना था। अभिषिक्त होने के २६वें वर्ष उन्हें न्याय और दण्ड की पूर्ण स्वतन्त्रता दी गई थी। उन्हें हर प्रकार प्रजा के कल्याण का ध्यान रखना होता था—जिससे प्रजा को इहलोक तथा परलोक दोनों की प्राप्ति हो सके। 'रज्जुक' के इस तरह दो कार्य थे—प्रथम ऐहिक, मंगल (प्रजा का) और द्वितीय प्रजा की आध्यात्मिक उन्नति। उन्हें प्रजा को पूर्ण न्याय देकर सम-व्यवहार का नित्य ध्यान रखना होता था।

यहाँ पर कोई पूछ सकता है कि सम-व्यवहार से सम्राट् का क्या तात्पर्य था। निश्चयात्मक रूप से इस पर कुछ कहना अत्यन्त कठिन है, लेकिन अनुमानत: सम-व्यवहार से यही तात्पर्य हो सकता है कि न्याय में भेद होने से उच्छृङ्खलता न आने पावे, सबके साथ न्याय की दृष्टि से एक-सा व्यवहार हो, यह न हो कि यदि अपराधी किसी बड़े आदमी वा पदाधिकारी का सम्बन्धी हो, तो न्यायाधीश उसे मुलाहजा फरमाकर रिहाई दे दे; किन्तु यदि गुनहगार एक गरीब हो, कोई उसका पूछनेवाला न हो, तो उसे कड़ाई के साथ सताया जाय और चाहे वह अपराधी बेगुनाह भी हो तब भी उसे गरीब समझ बेपूछे पीड़ित किया जाय। वे इस प्रकार के पक्षपात के कट्टर विरोधी थे, उन्हें इससे घृणा थी। गाथाओं से मालूम होता है कि सम्राट् ने अपने गुनहगार भाई महेन्द्र का भी पक्ष न लिया। वे नहीं चाहते थे कि न्याय के समक्ष भाई का अस्तित्व न्याय के सम व्यवहार को नष्ट कर दे। नगर-व्यवहारिकों को भी न्याय के सम-व्यवहार को भंग करने पर ही कोसा गया था, क्योंकि उन्होंने कई निरपराध गरीब लोगों को अन्याययुक्त दण्ड दिया था। रज्जुक प्रमुखत: इसी सम-व्यवहार को सँभालने के लिए नियत किये गये थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चतुर्थ स्तम्भ-लेख लिखता है, " वे मनुष्य जो बन्धन में हैं जिनका पहले ही न्याय हो चुका है, जिन्हें प्राणदण्ड की सजा मिल चुकी है, उनको मैंने तीन दिन का विश्राम मंजूर किया है। इन तीन दिनों के भीतर, उन (कैदियों) के सम्बन्धी 'रज्जुक' को फिर से न्याय करने का जोर देंगे और यदि कोई 'रज्जुक' से अपील करने वाला न हो, तो वे कैदी दान देंगे अथवा उपवास करेंगे जिसमें वे स्वर्ग (परलोक) को प्राप्त हो सकें। क्योंकि मेरी इच्छा है कि वे फाँसी होने पर दूसरे लोक (स्वर्ग) को प्राप्त हो सकें।" फाँसी के अभियुक्तों को अपील व धार्मिक कृत्यों के लिए तीन दिन का अवकाश प्रदान करना सम्राट् का एक और सुधार-कार्य था।

(इस विवरण से प्रकट होता है कि अशोक के समय दण्ड-विधान में बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया गया था। दण्ड को मृदुल बनाकर अशोक ने "दण्ड" का वह उग्र रूप समाप्त कर दिया जो चन्द्रगुप्त के समय में था, जब कि चोरी के लिए फाँसी अथवा अङ्ग-भङ्ग की सजा दी जाती थी। कठोर दण्ड को अमानुषिक समझकर ही १३वें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं—"मेरे पुत्र और परपौत्र शस्त्रों द्वारा विजय करने का विचार न करें। उन्हें उदारता, सहिष्णुता तथा दण्ड-मृदुता (अथवा दण्ड-लघुता) में आनंद मनाना चाहिए।" इसी भाँति कलिङ्ग शिलालेख धौली भी आदेश देता है कि "राजकर्मचारियों को दण्ड देते समय मध्य-मार्ग ग्रहण करना चाहिए अर्थात् मृदुता से दण्ड देना चाहिए।")

सेना—बहुत से लोगों की धारणा है कि सम्राट् अशोक ने कलिङ्ग-युद्ध के बाद सेना को हटा दिया, किन्तु इस बात का हमें ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। सम्राट् के शिलालेख भी इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश नहीं डालते, किन्तु तेरहवें शिलालेख में सम्राट् सैन्य के स्थित होने का कुछ आभास अवश्य देते हैं। उपद्रवी अटवी अथवा वन-निवासियों को अपनी महती शक्ति का परिचय देते हुए सम्राट् कहते हैं—"उन्हें यह समझा दिया गया है कि सम्राट् के अनुताप अथवा पछतावे में भी कितनी शक्ति है, जिससे वे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपने कार्यों पर लज्जित हों और मारे न जायँ।" सम्राट् के इन शब्दों से प्रकट है कि विद्रोही अटवी लोग यदि उपद्रव करना न छोड़ेंगे तो उनकी भी कलिङ्ग वाली दशा कर दी जायगी। स्पष्ट है कि अटवियों का दमन करना विना सैन्य के सम्भव नहीं। अतः कह सकते हैं कि सम्राट् के पास सैन्य-विभाग भली प्रकार मौजूद था और सम्भवतया उसका शासन उसी प्रकार किया जाता रहा होगा जैसा चन्द्रगुप्त के समय में होता था।

सिंचाई—सिंचाई का काम भी इस समय मेगस्थनीज़ तथा कौटिल्य के वर्णनानुसार ही किया जाता रहा होगा। ऐसे ही तिजारत, दस्तकारी आदि का काम भी कौटिल्य तथा मेगस्थनीज़ के दिये हुए विधान के अनुसार ही किया जाता होगा, यद्यपि शिलालेख में हमें इन विषयों के प्रति कोई उल्लेख नहीं मिलता।

सड़क—सम्राट् अशोक के समय मार्गों का सुचारु रूप से निर्माण किया जाता था। अशोक के मार्ग घने वृक्षों की छाया से ढँके रहते थे। कहा जाता है कि पाटलिपुत्र से लेकर तक्षशिला को एक सीधी सड़क जाती थी।[1] सर जॉन स्ट्रैची की धारणा है कि किसी भारतीय राजा ने कभी सड़कें नहीं बनाईं। यह धारणा स्पष्टतः निरर्थक है। कौटिल्य मार्गों का निर्देश करता है तथा यात्रियों की सुविधा के लिए मील अथवा स्तम्भ गाड़ने को भी कहता है। देहातों में भी बनाई गई सड़कों और बटिया अर्थात् नहीं बनाई गई सड़कों या स्वतः बनी सड़कों में अंतर माना जाता रहा है।

अन्य सार्वजनिक कार्य—सार्वजनिक कल्याण के लिए सम्राट् ने क्या किया यह द्वितीय शिलालेख से प्रत्यक्ष मालूम होता है। यह लेख कहता है—"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी के विजित प्रदेशों में तथा जो सीमांत प्रदेश हैं, जैसे—चोड़, पांडच, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी के प्रदेशों में तथा अन्तियोक (ऐण्टिओकस) नाम के यवन राजा तथा जो अन्य राजा

---

[1] Sir John Strachey-India, Ch. XIV

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उनके समीपस्थ हैं, उनके यहाँ सब स्थानों में देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दोनों प्रकार की चिकित्सा का प्रबंध किया है—मनुष्य की चिकित्सा और पशु की चिकित्सा। मनुष्य तथा पशुओं के लिए उपयोगी औषधियाँ जहाँ-जहाँ नहीं हैं वहाँ-वहाँ वे ले जायी गयीं और लगायी गयीं। इसी प्रकार मनुष्य तथा पशुओं के हेतु जहाँ फल और मूल नहीं वहाँ-वहाँ वे लाये गये और बोये गये तथा मार्ग में कुएँ खुदवाये और पेड़ लगवाये।"

द्वितीय शिलालेख से प्रकट है कि सम्राट् अशोक के समय पशु और मानव दोनों की चिकित्सा का प्रबन्ध था जिसके लिए अच्छे चिकित्सकों की अवश्य ही आवश्यकता रही होगी। मौर्य काल में सम्भवतया अच्छे चिकित्सकों की बिलकुल कमी न थी। बुद्ध के समय काशी और तक्षशिला के चिकित्सा विश्वविद्यालय बहुत प्रसिद्ध। थे[१] एक ग्रीक चिकित्सक कटेसियस ने अपनी 'इण्डिका' में लिखा है कि भारतीयों को सिरदर्द, दन्त-शूल, अक्षिशोथ, मुखपाक और व्रण नहीं होते (४०० ई० पू०) थे। नियार्कस के अनुसार सिकन्दर भारत में अपने साथ भारतीय चिकित्सकों को रखता था।[२] इन विवरणों से स्पष्ट है कि सम्राट् अशोक के समय से पहले ही भारत में अच्छे वैद्य उपलब्ध थे। सम्राट् के दादा के समय भी चिकित्सा पर खूब ध्यान दिया जाता था। सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय स्त्रियाँ भी रोगियों की सेवा के लिये रखी जाती थीं।[3] मालूम होता है कि सम्राट् अशोक के समय 'स्त्रीध्यक्ष-महामात्र' को स्त्रियों की चिकित्सा, शुश्रूषा आदि का भी शायद ध्यान रखना पड़ता था। सम्राट् अशोक के समय सार्वजनिक उद्यान (बाग)[४], आम्रवाटिका[५], कुएँ आदि खुदवाने और बनवाने

[१] Horule Studies in the medicine of Ancient India.

[२] Surgical instruments in Ancient India.

[3] कौ० अर्थशास्त्र—१०।

[४] शिलालेख ६वाँ।

[५] स्तम्भलेख सातवाँ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लिए सम्भवतया अलग कर्मचारी नियत थे। मार्ग में यात्रियों की सुविधा के लिए धर्मशालाएँ बनी होती थीं और सुस्ताने के लिए, धूप से बचने के लिए मार्गों के किनारे पेड़ लगवा दिये जाते थे, जिनका उत्तर-दायित्व और प्रबन्ध का भार सरकार पर ही था। सम्राट् ने सार्वजनिक हित के कार्यों तथा चिकित्सा आदि का प्रबन्ध अपने ही राज्य में न किया, वरन् सीमांत के विदेशी यवन-राज्यों में भी उन्होंने इन कार्यों की व्यवस्था करा रखी थी। सम्राट् की विश्व-बंधुता और विश्व-मैत्री का यह ज्वलन्त प्रमाण है।

इस प्रकार अशोक अपने राजकीय कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व तथा विश्व-बंधुत्व के महान् सिद्धान्त का पालन करने में कभी न चूके। सर्वलोक कल्याण कामना उनका अविरत अनुराग बना रहा। उन्होंने धर्म, सत्यता, दया, दान, अहिंसा, सहिष्णुता आदि का ही प्रचार न किया अपितु शासन के प्रवर्त्तनीय प्रयोगों से उनका मस्तक हमेशा आक्रांत रहा। निस्सन्देह अशोक मानव-जाति के सम्राटों में अद्वितीय हो चुके हैं। सहस्रों अनगिनत सम्राटों, राजाओं और आक्रांतकारी सिकन्दरों और सीज़रों के मध्य अशोक का उज्ज्वल नाम एकाकी नक्षत्र की भाँति अकेला ही चमका करता है। उनके समक्ष सबकी द्युति म्लान पड़ जाती है। अशोक एक महान् मानव और शासक थे। समासतः एक शब्द में सर्वलोक-हित और विश्व-मंगल ही अशोक के जीवन का ध्येय और राजधर्म था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चौथा प्रकरण

सम्राट् का धर्म परिवर्तन और बौद्ध होना

कल्पान्त से कितने महाभारत हुए, भीषण हत्याकाण्ड हुए, पर क्या किसी का मानवी हृदय था, जो उन नग्न भीषणताओं को देखकर काँपा हो ? यह कठोर सत्य है कि हमारे भगवान् आर्यों के पूजनीय देव कृष्ण भी महाभारत के क्रूर ताण्डव को देखते रहे, किन्तु अणुमात्र भी उनका हृदय न पिघला । परन्तु ध्यान रहे कि वे ईश्वर थे, देव थे, मानव नहीं । अतः उनके लिए वही उचित था । दैव के आँसू नहीं टपकते, उसका हृदय क्रन्दन नहीं करता—जब वह अपने हाथों से, अपने ही सामने, कलियों से नन्हें सुकुमार बच्चों, उष्ण आकांक्षा की कल्पनाओं में झूमते युवकों और तरुणियों को भयंकर भूकम्पों और वैसी ही संहारकारिणी शक्तियों द्वारा पल में स्वाहा कर देता है । मनुष्य का यही करुण अन्त है । मानव एक उड़ती हुई छाया है, सुख पहाड़ी पर चमकती हुई डूबते सूर्य की रंगीन किरणें हैं, जो पल भर में ही रजनी के अँधियारे में जा छिपती हैं और तत्ववेत्ता कहते हैं, "यह ईश के हाथों का खेल है ।"

किन्तु ढाई हजार वर्ष हुए एक मानव का अवतार हुआ था । यद्यपि वह एक राजा पैदा हुआ था किन्तु वह दैव न था । उस मानव का नाम अशोक था—संसार का शोक मिटानेवाला । वह देवताओं का प्रिय था, किन्तु वह स्वयं मनुष्यों का कल्याणकर्त्ता और हितैषी था । अशोक सर्वोपरि मानव था । कलिंग युद्ध की नग्न पैशाचिक क्रूरता ने उनके हृदय को आर्त कर दिया । उनका हृदय काँच की नाँई तिड़क उठा । हाथों का खड्ग दूर जा गिरा, आँखों में आँसू छलक आये, हृदय में करुणा क्रन्दन करने लगी, सम्राट् दुःख से व्याकुल हो उठे । युद्ध की करुणा से बढ़कर सम्राट् का

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कारुण्य था। सम्राट् की इस विकलता में शाक्यमुनि का कल्याणमय संगीत नाच उठा। अशोक ने आँखें खोलीं और उस संगीत को मस्तक नवाया। अहिंसा की मंगलमय माला को करों में धारण कर सम्राट् अब बुद्धदेव के कल्याणपथ पर आरूढ़ हुए। अशोक ने तथागत के मार्ग को अपना लिया। सम्राट् का धर्म-परिवर्तन विश्व के मानव इतिहास में एक आकस्मिक घटना थी। इसी कलिंग-युद्ध के पश्चात् सम्राट् का धर्म की ओर उत्तरोत्तर सुझाव बढ़ता गया और कुछ समय उपरान्त वे पूर्ण रूप से धर्म-मार्ग के पथिक बन गये।

त्रयोदश शिलालेख लिखता है, "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने अभिषिक्त होने के आठवें वर्ष कलिंग-विजय किया। यहाँ से डेढ़ लाख आदमी बाहर ले जाये गये, एक लाख आदमी आहत हुए और इसके कई गुना वे थे जो मरे। उसके पश्चात् जब कलिंग साम्राज्य में मिला दिया गया (अथवा कलिंग विजय हुआ) तब से देवताओं के प्रिय का धर्माचरण बढ़ा, धर्म के स्नेह की वृद्धि हुई और धर्म का अत्यधिक विस्तार हुआ।"

इस कलिंग युद्ध के पश्चात् सम्राट् का नवीन जन्म हुआ। वह क्षत्रिय वीर अशोक अब धर्मवीर धर्माशोक थे। हिंसक शस्त्रों की जगह अब उनके हाथों में स्नेह और कल्याण का अमृत से पूरित रजत पात्र था। स्नेह और कल्याण ही अब उनके जीवन का उद्देश्य था, उन्होंने कहा, वे पावन शब्द थे—"नास्ति हि क्रमतर सव्रलोक हितेन" (मानसेरा) "सर्वलोक कल्याण से बढ़कर और कोई कार्य नहीं।" उनकी निजी आकांक्षाएँ और राजकीय कामनाएँ, विश्व-कल्याण और जीवनमङ्गल की अभिलाषा परिवर्तित हो गयीं। सैनिक "वीर घोष" अब मङ्गलकारी "धर्म-घोष" बन गया और शस्त्रों की विजय अब धर्म-विजय में बदल गयी। सम्राट् का धर्म-घोष था—"मुखमते विजये देवने प्रियस यो ध्रमविजयो", "देवताओं का प्रिय सब विजयों में धर्मविजय को मुख्य विजय मानता है।" इस वृत्त से सर्वथा प्रगट

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता है कि सम्राट् के विचारों में प्रथम परिवर्तन का कारण कलिंग युद्ध की नग्न भीषणता ही थी। इससे यह भी मालूम होता है कि बौद्ध-धर्म सम्राट् का मूल (आद्य) धर्म न था। इस बात को दीपवंश और महावंश दोनों अंगीकार करते हैं। महावंश लिखता है—"ब्राह्मण धर्मी होने से अशोक का पिता (बिन्दुसार) प्रति दिवस साठ हजार ब्राह्मणों को दान दिया करता था। इसी भाँति सम्राट् अशोक ने भी तीन वर्ष तक दान दिया।" आगे चलकर महावंश फिर लिखता है—"अशोक बड़ा प्रसन्न हुआ और निगरोध को सत्कार के साथ भीतर (महल) बुलवाया। सविनय निगरोध ने भीतर प्रवेश किया। सम्राट् ने उससे कहा—"मेरे बच्चे, जो स्थान तुम्हें अच्छा लगे उस पर विराजिए।" किसी अन्य आचार्य को उपस्थित न देखकर निगरोध सिंहासन की ओर बढ़ा। उसे सिंहासन की ओर बढ़ता देख, सम्राट् इस प्रकार सोचने लगे, "यह सुमनरो (सुमन का पुत्र) किसी दिन महल का स्वामी बन बैठेगा।" सम्राट् की भुजाओं का अवलम्बन ले, वह (निगरोध) सिंहासन पर बैठा। सम्राट् अशोक अपने धर्म की उच्चता को विचार, और इस भव्य व्यक्ति, जिसने इस प्रकार अपना आसन ग्रहण किया, पर निहारते हुए अत्यन्त प्रमुदित हुए। सम्राट् ने अपने हिस्से के पानीय एवं भोजन से आदरित कर, उसे आश्वस्त किया। श्रम छिन्न करने के पश्चात् सम्राट् ने सुमनरों से बुद्ध के नियोग सिद्धान्तों पर प्रश्न किया। सुमनरो ने राजा को "क्षणिकता" का सिद्धान्त समझाया। इसे सुनकर अशोक को बड़ा हर्ष हुआ और उसे तथागत के धर्म पर श्रद्धा हुई।.........वह (निगरोध सुमनरो) जो सम्राट् से सम्मानित हुआ, सम्राट् को धर्म के सिद्धान्तों को समझाकर, सम्राट् और उनकी प्रजा को उन नियोगों पर स्थापित कर गया। निगरोध का आख्यान इस प्रकार समाप्त होता है। इसके पश्चात् दिन-दिन दान देने वालों की संख्या को बढ़ाते हुये, अब सम्राट् ६० हजार (६०,०००) बौद्ध-भिक्षुओं को दान देने लगे, जैसा कि पहले वे ब्राह्मणों को दिया करते थे। साठ हजार विधर्मियों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को हटाकर अव ६० हजार (६०,०००) बौद्ध-भिक्षु महल में आश्रय पाने लगे।"[१]

इस कथा से प्रकट है कि बौद्ध होने से पूर्व सम्राट् ब्राह्मणधर्मी थे। यही कारण था कि सम्राट् अपने यहाँ ब्राह्मण साधुओं को जिमाया करते थे और उन्हें दान देते थे। किन्तु बाद में निगरोध के उपदेश से प्रभावित होकर अशोक ने तथागत के धर्म को ग्रहण कर लिया। महावंश के चतुर्थ प्रकरण में अशोक के बौद्ध-धर्म ग्रहण करने के विषय में यह कहानी दी गई है—"एक दिन, रात को, स्वप्न में राजा (कालाशोक) ने देखा कि उसकी आत्मा लोहोकुम्बिया नरक में धकेल दी गई है। राजा बड़े व्याकुल हुए। इस संत्रास को मिटाने के लिए उसको छोटी बहिन भिक्षुणी आनन्दी जो बन्धनों से मुक्त हो चुकी थी, वायु द्वारा पहुँची और राजा से बोली "जो काम तुमने किया है वह बहुत अनर्थकारी है। धर्म के प्रमुख आचार्यों से इसका प्रायश्चित्त कराओ, उनके साथ सहयोग प्रदान कर, सत्य-धर्म (बौद्ध-धर्म) का पक्ष ग्रहण करो। ऐसा करने से तुम्हें शान्ति मिलेगी।" ऐसा कह उसने विदा ली।"

"प्रातःकाल राजा ने वैशाली को प्रस्थान किया। महावान विहार में पहुँचकर उसने भिक्षुओं को एकत्रित किया और दोनों वर्गों के तर्क-वितर्क की समीक्षा कर उसने सच्चे धर्म (बौद्ध-धर्म) का पक्ष ग्रहण किया। बौद्ध-धर्म के सब आचार्यों से क्षमा माँगकर उसने धर्म के कार्यों में अपना सहयोग प्रदान करने का वचन दिया।"[२] इस वृत्त से स्पष्ट है कि सम्राट् पहले बौद्ध-धर्म के अनुयायी न थे और शायद बौद्ध-धर्म के विपरीत कार्य भी किया करते थे, जिस कारण महावंश के अनुसार उनकी आत्मा को नरक में जाना पड़ा।

---

[१] महावंश प्रकरण ५—जी० टर्नर।

[२] महावंश प्रकरण ४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बहुत से विद्वानों की यह धारणा रही है कि अशोक बौद्ध-धर्मी न थे। विलसन और एडवर्ड थॉमस की सम्मति में अशोक जैन थे। कल्हण के अनुसार अशोक शैव थे। अशोक का शिव-मन्दिर "अशोकेश्वर" का निर्माता भी कहा जाता है। यह मन्दिर कल्हण के समय तक विख्यात रहा। बौद्ध-गाथाओं के अनुसार अशोक पहले बौद्ध-धर्म के कट्टर विरोधी थे, लेकिन बाद में उपगुप्त[1] के उपदेशों से प्रभावित होकर उन्होंने बौद्ध-धर्म ग्रहण कर लिया।

उपरोक्त विवरण से प्रकट है कि अशोक पहले ब्राह्मण-धर्मी थे और बाद में वे बौद्ध हुए। अब प्रश्न यह उठता है कि वे किस समय बौद्ध हुए तथा क्या वे पूर्णरूप से बौद्ध थे अथवा नहीं ? इन प्रश्नों को हल करने में अशोक के शिलालेखों से हमें यथेष्ट सहायता मिलती है। इन धर्मलिपियों में अशोक ने बौद्ध-धर्म का प्रचार किया है। किन्तु जेम्स फ़्लीट कहते हैं कि वह धर्म जो शिलालेखों का अविरल विषय है, यथार्थ में बौद्ध-धर्म नहीं है। इस धर्म को फ़्लीट, मानवधर्म, जो मानव धर्मशास्त्र (१,११४) में राज-धर्म दिया गया है, बतलाता है। उनका कहना है कि धर्म की व्याख्या स्वयं अशोक के शब्दों में, दुष्कर्मों से अपनी रक्षा, सुकर्म, दया, दान, सत्य एवं पवित्रता है। अतः इन शिलालेखों एवं स्तम्भ-लेखों का तात्पर्य, बौद्ध-धर्म अथवा किसी अन्य धर्म का प्रचार करना न था। यदि इन लिपियों से अर्थ बौद्ध-धर्म होता तो बुद्ध (बौद्ध-धर्म के प्रवर्तक) का अवश्य इन लेखों में उल्लेख किया जाता। वस्तुतः वह मानव-धर्म था, जिसके अनुरूप सम्राट्

[1]चीनी भाषा में उपगुप्त को यु-पो-कीयू-टो (Yo-Po-Kiu-To), नाम दिया है और जापानी में उवकिकता (Uvakikta) लिखा है। जन्म से वह शूद्र था, सत्रह वर्ष की आयु में वह संघ में सम्मिलित हुआ। तीन साल पश्चात् वह अर्हत हुआ। इसी समय उसने "मार" विजय की। दक्षिणी गाथाओं (बौद्धों) में उपगुप्त नहीं पाया जाता किन्तु उत्तरी बौद्ध सुवस्कुल ने उसे अशोक का समकालीन बताया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अशोक एक धार्मिक एवं सदाचारी नृप की भाँति धर्मानुशासन का प्रचार तथा प्रसार कर मानवीय सिद्धान्तों पर, (जो मानव-धर्म में दिये गये हैं) अपनी प्रजा एवं कर्मचारियों को लाना चाहते थे। उन्हें यह प्रदर्शित करना था कि वे, प्रजा से संयुक्त हो किस अच्छाई के साथ राज-कार्य कर सकते हैं। वे मानवों से अलग रह कर एवं उनके हित से परे, कोई कार्य न करना चाहते थे। अतः शिलालेखों और स्तम्भों का यह धर्म बौद्ध-धर्म न था, अपितु वह राजाओं का सामान्य धर्म था जो मानव-धर्मशास्त्र में दिया गया है। ५वें शिलालेख में धर्म-महामात्रों को देख कर यह निर्धारित न करना चाहिए कि वे बौद्ध-धर्म के लिए तथा उसी प्रचार-कार्य के लिए नियत किये गये थे। वे तो वस्तुतः सब सम्प्रदायों के हित और उन्नति के लिए नियुक्त किये गये थे। सम्राट् का सातवाँ स्तम्भ-लेख यही प्रकट करता है।

"अभिषिक्त होने के २८वें वर्ष से मेरे धर्म-महामात्र अनेक प्रकार के मङ्गलकार्य (हित करने) में लगे हैं। वे सब सम्प्रदायों के लिए नियुक्त हैं। वे परिव्राजक साधुओं एवं गृहस्थों के लिए नियत हैं। वे संघ के कार्य (हित) के लिए तथा ब्राह्मण, आजीविक, निर्ग्रन्थ (जैन) और अन्य धर्मों के लिए नियत हैं। पहले अमुक महामात्र अमुक सम्प्रदाय (धर्म) के लिए नियत थे, किन्तु मेरे धर्म-महामात्र इन पूर्वनिर्दिष्ट सम्प्रदायों तथा अन्य धर्मों के लिए नियत हैं।"

७वें स्तम्भ-लेख के संघ से यह न समझना चाहिए कि चूँकि इसमें संघ का उल्लेख आया है, इसलिए अशोक बौद्ध-धर्मी एवं उसके प्रचारक थे। संघ इस स्तम्भ में ब्राह्मण, जैन तथा अन्य धर्मों के साथ एकरूपता अथवा समानता से प्रयुक्त हुआ है। इस संघ से तात्पर्य किसी भी संघ, जैसे—व्यापारी-संघ, भिक्षु-संघ आदि से हो सकता है। अशोक अभिषिक्त होने के २८वें वर्ष तक बौद्ध न हुए थे, किन्तु ३०वें वर्ष (अभिषिक्त होने के तीसवें साल) वे बौद्ध हुए और ढाई साल तक उपासक रहे, तत्पश्चात्

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिषिक्त होने के तैंतीसवें वर्ष के प्रारम्भ में अशोक ने बौद्ध-संघ में प्रवेश किया।[1]

जेम्स फ़्लीट की यह धारणा असंगत विदित होती है। उनकी धारणा सम्राट् के धर्म तथा बौद्ध-दीक्षा ग्रहण करने की तिथि (तारीख) में बड़ा उत्पात मचाती है। फ़्लीट की इन दो धारणाओं की हम क्रमशः विवेचना करने का प्रयत्न करेंगे।

प्रथम यह देखना है कि क्या शिलाभिलेखों का धर्म बौद्ध-धर्म था या नहीं ? फ़्लीट की आपत्ति है कि शिलालेखों में उल्लिखित धर्म मानव-राजधर्म था, क्योंकि उसकी व्याख्या अशोक ने राज-धर्म के अनुसार की है—"अहिंसा (दुष्कर्मों से बचाव), सुकर्म, दया, दान, सत्यता और पवित्रता"—परन्तु क्या इसका अभिप्राय यह होना चाहिए कि ये सिद्धान्त बौद्ध-धर्मान्तिर्गत न थे ? सिगालोवाद-सुतान्त में इन सभी सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। सिगालोवाद-सुतान्त दुष्कर्म अथवा हिंसा करने को बड़ा भारी पाप समझता है। दया, दान, सत्यता आदि बौद्ध-धर्म के प्रमुख नियोग माने गये हैं।[2] "नास्ति हि क्रमतर, सव्रलोक हितेन" (मानसेरा—६वाँ प्रज्ञापन) ही सम्राट् के सम्मुख धर्म अथवा बौद्ध-धर्म का प्रमुख सिद्धांत है। सिगालोवाद-सुतान्त में हिंसा अथवा प्राणियों का नाश, दुष्कर्मों (काय-क्लेश) में से माना गया है। ९वाँ शिलालेख कहता है, "धर्मङ्गल से वस्तुतः बड़ा लाभ होता है। इस धर्मङ्गल में निम्न बातें हैं—दास और नौकरों से उचित व्यवहार, गुरुजनों की पूजा, प्राणों का संयम, प्राणीमात्र पर दया, श्रमणों और ब्राह्मणों को दान। ये तथा ऐसे ही अन्य मङ्गल, धर्मङ्गल हैं।" सम्राट् का इस धर्मङ्गल का अन्वय महामङ्गल जातक (बौद्ध-ग्रन्थ) से मिलता है।[3] शिलालेख के ये भाव महा-मङ्गलसुत्त,

---

[1] J. R. A. S. 491-496 [1908].

[2] Ibid.

[3] J. R. O. B. S. Vol. IV, p. 146.

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

(सुत्त निपाता २, ४) से लिये गये हैं ।[१] अतः दान, दया आदि के ये नियोग बौद्ध-जातक एवं 'सुत्त' से उद्धृत किये गये हैं । अब १२वें शिलालेख को लीजिये—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है—धर्म-दान, धर्म-सम्बन्ध और धर्म-वितरण से बढ़कर और कोई दान नहीं है । इसमें निम्न विषय हैं—दास और भृत्यों से उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, ब्राह्मण, श्रमण, साधुओं को दान और अहिंसा ।" इस १२वें शिलालेख का भाव भी जैसा सेनार्ट लिखते हैं, "धम्मपद" श्लोक २५४ से लिया गया है । धम्मपद बौद्ध-ग्रंथ है; अतः मालूम होना चाहिए कि ये शिक्षाएँ सामान्य उपासक के लिए थीं । प्रकट है कि ये सिद्धान्त राजधर्म के सिद्धान्त ही न थे, अपितु जैसा कि हम देख चुके हैं—बौद्ध-धर्म के अपने सिद्धान्त थे । सम्राट् ने उपासकों को, प्रजा को एवं गृहस्थों को साधारणतया (सिगालोवाद सुतान्त के अनुरूप) सात्विक धर्म की शिक्षाएँ दीं, जिससे वे अपने आचार-व्यवहार एवं चरित्र को उज्ज्वल बना सकें । जेम्स फ़्लीट इस बात को अंगीकार नहीं करना चाहते थे कि शिलालेखों का धर्म प्रजा के लिए था अर्थात् बौद्ध-धर्म था । उनके अनुसार लेखों के धार्मिक सिद्धान्त राजा तथा राज-कर्मचारियों के पथ-प्रदर्शन के लिए थे, अर्थात् शिलालेखों का धर्म मानव-राजधर्म था । यदि यही बात थी तो सातवें स्तम्भ-लेख में सम्राट् के इस प्रकार, "मुझे यह भास हुआ है कि मैं धर्म-आदेशों को निकालूँ तथा धर्म का उपदेश दूँ, इसे श्रवण कर प्रजा धर्माचरण करेगी, अपनी उन्नति करेगी और धर्म-मार्ग पर चलती हुई उत्कर्ष को पहुँच पायेगी"—उच्चारण करने का क्या तात्पर्य है ? अतः स्पष्ट है कि यह धर्म राज-धर्म अर्थात् केवल राजा और कर्मचारियों का ही नहीं अपितु प्रजा का भी है । इसी प्रयोजन के धर्म-स्तम्भ प्रजा (उपासकों) के हेतु ऐसे स्थान पर स्थापित करवाये गये, जहाँ उपासकगण प्रत्येक उपवास के दिन पहुँच कर पढ़

---

[१] R. K. Mukerji's Asoka, p. 153, N. 4.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकें और धर्म पर आचरण करना जान सकें (गौणशिलालेख, सारनाथ)। अतः शिलालेखों के धार्मिक सिद्धांत यथार्थतः बौद्ध-धर्म के चुने हुए सिद्धांत थे, जिन्हें सीखकर सम्राट् की उत्कट अभिलाषा थी कि मेरी प्रजा उन्हीं पर आचरण करे अथवा उन्हीं धर्म-नियोगों का अनुसरण करे। सम्राट् की यह अभिलाषा "मे प्रजा अनुवतंतु" (कालसी, दूसरा प्रज्ञापन) से सर्वशः व्यक्त हो जाती है।

फ़्लीट का यह भी कहना है कि धर्म-महामात्रों का एकतारूप से विभिन्न सम्प्रदायों के लिए नियत किया जाना इस पक्ष को स्पष्ट करता है कि वे बौद्ध-धर्मी न थे और उनकी एकरूपता या समभाव मानव-धर्म की परिचायक है।

यह सत्य है कि अशोक धर्मोन्मत्त औरङ्गज़ेब की नाईं स्वार्थनिष्ट कट्टर धर्मांध न थे तथा उनके निर्मल हृदय में स्वार्थ-परायण हृदय की वह ममता-पूर्ण कलुषाग्नि न थी जो अन्य धर्मों अथवा सम्प्रदायों को औरङ्गज़ेब की तरह भस्मीभूत करने का उपक्रम करती है। उन्होंने धर्म का व्रत लिया था सर्वमङ्गल एवं सर्वलोक-कल्याण के लिए, न कि विनाश के हेतु।

सब धर्मों की अभिवृद्धि ही महाराज अशोक धर्म का सत्य रूप मानते थे। १२वाँ प्रज्ञापन लिखता है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब धर्मों (पासंडो = सम्प्रदायों), चाहे वे गृहस्थ हों, चाहे साधु (त्यागी), की अनेक प्रकार से पूजा व आदर करता है। देवताओं का प्रिय दान अथवा पूजा को इतना मूल्यवान नहीं मानता, जितना कि वह यह चाहता है कि सब धर्मों की सारवृद्धि हो। धर्म की सारवृद्धि कई प्रकार की होती है, किन्तु इसका मूल वाक्-संयम (वाणी का संयम) है, अर्थात् अपने धर्म का आदर और बिना किसी आधार के दूसरे धर्मों का अनादर न करना चाहिए। बिना किसी अर्थ के (उद्देश्य के) ओछापन न दिखलाया जाय।" अतः यदि ऐसी विमल बुद्धि का सम्राट् सब धर्मों के लिए धर्म-महामात्रों को नियत करे, सबकी भलाई चाहे तो ठीक ही है, क्योंकि वे अपने धर्म का उत्कर्ष, अन्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर्मों का समान आदर एवं उन्नति करने में ही समझते हैं। सम्राट् कहते हैं—"अवसर-अवसर पर अन्य धर्म भी कई प्रकार से आदर के पात्र हैं। ऐसा करने से अपने धर्म की अभिवृद्धि और दूसरे के धर्म का कल्याण होता है। इसके विपरीत आचरण करने से लोग अपने धर्म का क्षय करते हैं और दूसरे के धर्म को हानि पहुँचाते हैं। जो कोई अपने धर्म का सम्मान और दूसरे के धर्म का अनादर करता है, वह केवल अपने धर्म की भक्ति से ही करता है। क्यों ? इसी विचार से कि "मैं अपने धर्म को उज्ज्वल करूँ।" किन्तु ऐसा करने से, इसके विपरीत वह अपने धर्म को और भी हानि पहुँचाता है। परस्पर का मेल स्तुत्य है, जिससे लोग एक दूसरे के धर्म को सुनें और समझें। निस्संदेह देवताओं के प्रिय की यही इच्छा है कि सब सम्प्रदाय वाले बहुश्रुत हों तथा सुन्दर सिद्धांतों के हों। जो लोग जिन-जिन धर्मों में रत हैं, दृढ़ हैं, उन सबसे यह कह दिया जाय कि देवताओं का प्रिय दान तथा बाह्य पूजा को इतना नहीं मानता, जैसा कि सब धर्मवालों की सारवृद्धि हो और सब धर्म उच्च बनें। इसी उद्देश्य से धर्म-महा-मात्र, स्त्रीध्यक्ष-महामात्र, व्रजभूमिक तथा दूसरे अधिकारी नियुक्त हैं।"

अतः प्रकट है कि धर्म-महामात्र क्यों नियत किये गये थे ? यह सम्राट् की सार्वलौकिकता एवं सहिष्णुता थी। उनका विशाल मस्तिष्क, विमल आकांक्षाओं एवं सद्भावनाओं से पूरित था। महाराज अशोक सत्य धर्मानुरागी थे। यही हम उनकी समदर्शिता एवं पक्षपातहीनता के प्रति कह सकते हैं। शायद पाश्चात्य धर्म के संकुचित दायरे में इस प्रकार को सहिष्णुता का पाया जाना असम्भव हो सकता है। इतिहास बतलाता है कि मार्क्स ऑरिलियस एवं कांस्टन्टाइन भी जिनको भूल से अशोक की उपमा दी जाती है, संकुचित धार्मिकता से पृथक् न थे। ईसाइयों के समक्ष यहूदी क्षंतव्य नहीं, और मुसलमानों के समक्ष काफिर हलाल का बकरा है। सम्भवतया पाश्चात्य होने के कारण ही जेम्स फ़्लीट सम्राट् की अपक्षपातिता एवं एकरूपता तथा सहिष्णुता और समानता को नहीं समझ सके। वे इस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बात को अंगीकृत करने में असमर्थ थे कि बौद्ध होते हुए सम्राट् अन्य धर्मों से किस प्रकार उत्तम व्यवहार कर सकते हैं। जैसा कि आगे मालूम होगा संघ से तात्पर्य, बौद्ध संघ से ही है।

अब हमको यह देखना है कि सम्राट् ने बौद्ध-धर्म कब ग्रहण किया? त्रयोदश शिलालेख के अनुसार हम पहले ही कह आये आये हैं कि कलिंग युद्ध के बाद से सम्राट् अधिक से अधिक धर्म-पथ को ओर अग्रसर होने लगे थे। इसके अनन्तर रुमिनिन्दी शिलालेख से हमें विदित होता है कि अभिषिक्त होने के बोसवें साल अशोक शाक्यमुनि भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान लुम्बिनी वन का दर्शन करने गये थे। वहाँ जाकर अशोक ने उस देव-स्थान की पूजा की![1] भगवान् के सम्मानार्थ वहाँ पर शेर अथवा बाघ की प्रतिमूर्ति से अंकित एक शिला बनवाई और यह प्रदर्शित करने के लिए कि तथागत का यहीं पर जन्म हुआ था; एक स्तम्भ भी स्थापित करवाया। लुम्बिनी गाँव पर जो धार्मिक कर था वह क्षमा कर दिया गया और राजस्व भी घटा दिया गया (अब पैदावार का केवल आठवाँ भाग इस गाँव वालों को देना पड़ता था)। इस विवरण से प्रकट है कि भगवान् शाक्यमुनि बुद्ध के प्रति सम्राट् को असीम भक्तिभाव एवं श्रद्धा थी। इस भक्ति के फलस्वरूप ही सम्राट् ने अपना मस्तक भगवान् के कल्याण-पद-पद्मों पर नत किया! भगवान् के कारण ही गाँववालों पर भी सम्राट् नें श्रद्धालुता प्रकट की। क्या यह उनके बौद्ध-धर्मी एवं बुद्ध के अनुरक्त भक्त तथा उपासक प्रमाणित करने के लिए यथेष्ट नहीं है? यह कदापि नहीं हो सकता कि सम्राट् एक पुरातत्त्ववेत्ता अथवा इतिहासज्ञ के रूप में यहाँ (लुम्बिनी वन) निरीक्षण कार्य के लिये आये हों; अथवा जेम्स फ़्लीट के अनुसार सम्राट् अपना राजकीय दौरा करते हुए लुम्बिनी वन को आदर देने गये थे—(फ़्लीट महायति का अर्थ आदर से लेते हैं, किन्तु वस्तुतः उसका

[1] महायति = पूजा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्थ प्रजा से है)[१] दिव्यावदान के अनुसार जिस समय सम्राट् लुम्बिनी वन को गये थे, आचार्य उपगुप्त भी साथ थे। आचार्य उपगुप्त सम्राट् के धर्म-गुरु माने जाते हैं। दिव्यावदान लिखता है कि जब सम्राट् लुम्बिनी वन में पहुँचे तो आचार्य ने सम्राट् से विमल शब्दों में इस प्रकार कहा था—"अस्मिन् महाराज प्रियदसि भगवानो जातः।" अर्थात्—"इसी जगह पर प्रियदर्शी महाराज भगवान् (बुद्ध) पैदा हुए थे।" अतः स्पष्ट है कि अशोक धर्म एवं उपासना की भावना से ही लुम्बिनी वन गये थे। फलतः लुम्बिनी वन की यात्रा के समय अथवा अभिषिक्त होने के २०वें वर्ष, सम्राट् पूर्णतया बौद्ध हो चुके थे।

अब आठवें शिलालेख को लीजिए, यह लेख निम्न शब्दों को उच्चारण करते हुए आरम्भ होता है, "अतिकतं अंतलं देवानं प्रिया विहालयातं नाम नखमिसु हिदा मिगविया अंनानि चा हेदिसानि, अभिलाभानि हुसु देवानं पिये पियदसि लाजा दसवसाभिसिते संतं निकरामि संबोधि तेनता धमयाता······"······"विगत काल में राजागण विहार-यात्रा के लिए निकलते थे। इस विहार-यात्रा में आखेट तथा ऐसे ही अन्य मनोविलास होते थे। किन्तु देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने अभिषिक्त होने के १०वें वर्ष सम्बोधि की यात्रा की। बुद्ध-गया को यात्रा की। तब से यह धर्मयात्रा चली।" इस वृत्त से स्पष्ट है कि इस शिलालेख के प्रकाशन के समय ही उन्होंने बुद्ध-गया की धर्म यात्रा की। इस प्रकार अब विहार-यात्रा बंद कर दी गयी और उनकी जगह धर्म-यात्रा ने ले ली। शिलालेख ने धर्म-यात्रा की इस प्रकार व्याख्या की है—"धर्म-यात्रा में ब्राह्मण और श्रमणों का दर्शन और उन्हें दान देना, वृद्धों का दर्शन और उन्हें स्वर्ण का वितरण, प्रजा के लोगों से मिलाप, उन्हें धर्म की शिक्षा देना और यदि उचित समझा जाय तो धर्म पर जिज्ञासा करना आदि होता है।" अतः प्रकट है कि अभिषेक के

---

[१] J. R. A. S. 475, 1908.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१०वें साल सम्राट् अशोक बौद्ध-धर्म के उपासक हो चुके थे। यह समय उनके धर्म-सिद्धांतों के प्रचार का समय है और इसी शिलालेख के प्रकाशन-काल से उन्होंने बौद्ध-धर्म के तीर्थों की यात्रा भी आरम्भ की थी।

गौण-शिलालेख प्रथम, ब्रह्मगिरी में सम्राट् कहते हैं—"देवताओं का प्रिय इस प्रकार आदेश करता है—लगभग ढाई साल से मैं उपासक रहा, इस समय मैंने यथेष्ट पराक्रम न दिखलाया, किंतु निःसंदेह एक साल से ज्यादा हुआ, जव मैंने सङ्घ की यात्रा की, तब से मैंने यथेष्ट उपक्रम किया।"

इसके साथ ही त्रयोदश शिलालेख के कथन को भी पढ़िये—"अभिषिक्त होने के ८वें वर्ष देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिङ्ग को जीता। यहाँ से डेढ़ लाख आदमी वाहर ले जाये गये, एक लाख आहत हुए और उससे कई अधिक संख्या में मरे। अब कलिङ्ग के विजित होने पर (होने के पश्चात्) देवताओं के प्रिय ने भली प्रकार धर्म-विस्तार, धर्म से स्नेह और धर्म-कामना की।" (२५८ ई० पू०)।

इन दोनों शिलालेखों के कथन से हमें क्या मालूम होता है? गौण-शिलालेख, ब्रह्मगिरी में सम्राट् लिखते हैं कि ढाई साल तक वे उपासक रहे किन्तु लगभग एक साल से ऊपर हुआ कि वे अब यथेष्ट रूप से धर्म-कार्य कर रहे हैं। यही भाव त्रयोदश लेख में स्पष्ट किया गया है। इस लेख में सम्राट् कहते हैं—कलिङ्ग विजय करने के अनन्तर उन्होंने खूब धर्म-कार्य किया आदि। अर्थात् अब वे उपासक ही न थे, अपितु धर्म में पूर्ण रत हो चले थे तथा गौण-शिलालेख लिखता है कि ढाई साल तक वे उपासक रहे, उन्होंने इस काल में कोई धर्म-कार्य न किया, किन्तु अब एक साल से ऊपर हुआ कि उन्होने खूब पराक्रम किया है। इस संदर्भ से प्रकट होता है कि १३वें शिलालेख में जिस पराक्रम का आरम्भ हुआ, उसको ब्रह्मगिरी लेख के प्रकाशन के समय एक साल से अधिक समय व्यतीत हो चुका था तथा इसी समय उन्होंने सङ्घ में भी प्रवेश किया। फलतः गौण-शिलालेख ब्रह्मगिरी का प्रकाशन त्रयोदश शिलालेख के करीब दो वर्ष बाद होना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चाहिए। अतः ब्रह्मगिरी-लेख अभिषिक्त होने के १०वें (दसवें वर्ष) वर्ष (२६० ई० पू०) प्रकाशित हुआ होगा तथा इसी समय के लगभग उन्होंने सङ्घ की भी यात्रा की थी। फलतः अशोक अभिषिक्त होने के १०वें वर्ष से पूर्णतया बौद्ध हो चले थे, इस समय से उन्होंने सङ्घ की यात्रा भी प्रारंभ की। (सङ्घ में रहने लगे) और तन, मन, धन से धर्म के अर्थ पराक्रम करने लगे। अतः सिद्ध है कि (अभिषेक) ३०वें वर्ष[1] के २० साल पहले ही वे पूर्ण बौद्ध हो चुके थे। तब से अशोक ने इतना धर्म-कार्य किया, ऐसा पराक्रम दिखलाया कि सारे जम्बूद्वीप के लोग जो अब तक देवताओं(धर्म) से परे थे, उनसे संबंधित हो गये। इसी से सम्राट् कहते हैं—"पराक्रम का ही यह परिणाम है।" (ब्रह्मगिरी—गौण-शिलालेख) तथा वे (अशोक) अब यह कहने में भी समर्थ थे कि "मैं (अशोक) ने लोगों की धर्म में इस प्रकार उन्नति की, जैसे पहले किसी ने न की थी।"

संयम उपायात् या उपायति से क्या तात्पर्य है? मास्को में उपागत दिया है। समीक्षकों ने इसके दो अर्थ लिये हैं—प्रथम सङ्घ में जाकर और द्वितीय उपागतो = उपागनतव तिथो = वहाँ जाकर ठहरा, निवास किया। इससे मालूम होता है कि सम्राट् ने स्थायी भिक्षु जीवन ग्रहण न किया था। मालूम होता है कि इस समय उन्होंने केवल सङ्घ की यात्रा की थी। इस यात्रा का गाथाओं ने भी उल्लेख किया है। गाथाओं एवं शिलालेखों से विदित होता है कि सम्राट् के धार्मिक जीवन की दो अवस्थाएँ रही हैं। एक उपासक के रूप में जब कि सम्राट् ने धर्म के प्रति कुछ कार्य न किया जैसा कि वे स्वयं कहते हैं, "ढाई साल से अधिक हुआ कि मैं उपासक रहा, इस समय मैंने कोई पराक्रम न किया (ब्रह्मगिरी)।" दूसरी अवस्था उनके पराक्रम की है, जब उन्होंने धर्म के लिए हर प्रकार से कार्य किया। सम्राट्

---

[1]यह धारणा कि सम्राट् (अभिषेक के) ३०वें वर्ष बौद्ध हुए थे—जेम्स फ़्लीट की है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कहते हैं—"एक साल से अधिक हुआ, मैंने सङ्घ की यात्रा की, तब से मैंने खूब पराक्रम किया। इस समय जम्बूद्वीप के लोग जो अब तक देवताओं से अलग थे, देवताओं से मिलाये गये। पराक्रम का ही फल है।"

पहली अवस्था में सम्राट् ने बहुत कम उपक्रम किया, इसका उल्लेख महावंश भी करता है। महावंश, प्रकरण ५ लिखता है, "अशोक का पिता ब्राह्मण-धर्मानुयायी था। वह प्रति दिवस साठ हजार ब्राह्मणों को दान देता था। अशोक ने भी तीन साल तक इसी प्रकार ब्राह्मणों को दान दिया।" इसके अनन्तर इसी समय अशोक निगरोध के प्रभाव से बौद्ध-धर्म की ओर बढ़ा। निगरोध ने उसे पराक्रम का सिद्धान्त बतलाया। इसके अनन्तर दिन-दिन भिक्षुओं की संख्या को बढ़ाते हुए सम्राट् साठ हजार भिक्षुओं (बौद्ध-धर्मियों) को दान देने लगे, जैसे कि वे पहले ब्राह्मणों को दिया करते थे। साठ हजार विधर्मियों को निकाल कर उसने अपने प्रासाद में नित्य साठ हजार भिक्षुओं को भोजन प्रदान किया। सम्राट् की अभिलाषा थी कि प्रासाद में किसी अवसर पर साठ हजार बौद्ध-भिक्षुओं का भली प्रकार आराधन किया जाय। इस हेतु बहुमूल्य भोजन और पानीय तैयार करवाकर सम्राट् संघ में गया (गत्वा संघम्), भिक्षुओं को आमन्त्रित किया, उन्हें प्रासाद में लिवा लाया, उन्हें जिमाया और उन्हें बहुत प्रकार से दान दिया। इसके पश्चात् उसने इस प्रकार प्रश्न किया—"स्वर्गीय भगवान् तथागत का क्या सिद्धान्त है?" इस पर थीरो तिस्य (मोगाली का पुत्र) ने राजा को समझाया। यह सुनकर कि धर्म के चौरासी हजार खण्ड हैं, सम्राट् ने घोषित किया, "मैं प्रत्येक के लिए एक विहार समर्पण करूँगा।" इसी समय अशोक के अभिषेक के चौथे साल महाधम्मरक्षितो द्वारा अशोक का सहोदर भाई उपराज तिस्य ने बौद्ध-धर्म को दीक्षा ली। महावंश आगे लिखता है, "प्रसिद्ध अग्निब्रह्मा अशोक की पुत्री संघमित्रा का स्वामी, और सम्राट् का जामाता था। सम्राट् की आज्ञानुसार संघमित्रा और उसका पुत्र सुमन इसी समय, जिस समय उपराज तिस्य ने धर्म ग्रहण किया, बौद्ध-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

धर्म की दीक्षा ली। यह सब कार्य अशोक के अभिषेक के चौथे साल हुए थे' (महावंश, प्रकरण ५)।

इस प्रकार गाथाओं से भी अशोक के धार्मिक जीवन की दो अवस्थाएँ मालूम होती हैं, प्रथम अवस्था में उन्होंने निगरोध से बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली और उपासक बने रहे। दूसरी अवस्था वह है जब संघ में जाने पर (संघं गत्वा) वे भली प्रकार धर्म का विस्तार करने लगे। इसी समय से उन्होंने विहार-स्तूपों का निर्माण-कार्य भी किया। महावंश लिखता है—"बुद्ध के कारण बहुत प्रकार के दान वितरण से, विभिन्न नगरों में, स्तूपों के सम्मानार्थ अनेक प्रकार के उत्सव नित्य मनाये जाने लगे।" इसी धर्म-पराक्रम के फलस्वरूप राज्याभिषेक के चतुर्थ वर्ष में अशोक ने अपने पोते और सुपुत्री संघमित्रा से बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण करवायी। यह अवस्था उनके जीवन की दूसरी अवस्था अथवा पराक्रम की अवस्था है।

किन्तु सम्राट् की पहली अवस्था को धर्म के निव्यापार अथवा अलसता की अवस्था न समझनी चाहिए, क्योंकि जब से सम्राट् निगरोध के प्रभाव से बौद्ध हुए तभी से वे धर्म के लिए कार्य करने लगे थे। अतः अशोक के धार्मिक जीवन की दो अवस्थाएँ होते हुए भी उनकी कोई भी अवस्था आलस्य अथवा निर्व्यापार की न थी।

उत्तरी गाथाओं में अशोक के जीवन की अवस्थाओं का भिन्न प्रकार से वर्णन दिया गया है। दिव्यावदान के अनुसार भिक्षु बालपणादित्य के प्रभाव से अशोक बौद्ध-धर्म की ओर अग्रसर हुआ। बालपणादित्य को समुद्र भी लिखा है। दूसरी अवस्था में उसने उपगुप्त को अपना गुरु बनाया तथा उपगुप्त के साथ बौद्ध-तीर्थों की यात्रा की। दिव्यावदान के अनुसार प्रथम अवस्था में ही सम्राट्, "ऋषि", बुद्ध और संघ की शरण ग्रहण कर, धर्म के पराक्रम के लिए बच्चे, घर, स्त्री और ऐश्वर्य आदि का त्याग करने को उद्यत हो चले थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संघम उपागत और उपेति या गत्वा का अर्थ बहुत से विद्वानों ने इस अर्थ में लिया है कि सम्राट् एक साल तक संघ-यात्रा करते रहे। डाक्टर बी० एम० बरुआ के अनुसार 'संघम् उपागत या उपेति' (गत्वा) का अर्थ "संघम् शरणं गत्वा" आदि का संक्षिप्त रूप है। श्री भंडारकर के अनुसार इसका अर्थ है कि सम्राट् एक साल से अधिक संघ में ही रहे। किन्तु हमारी सम्मति में सम्राट् ने इस समय केवल संघ की यात्रा की थी। इस यात्रा का उद्देश्य महावंश के पाँचवें प्रकरण में भिक्षुओं को सम्मानपूर्वक प्रासाद में लिवा लाना था तथा 'एक साल से अधिक' संघ-यात्रा करने की तिथि का निर्देशक है, अर्थात् २६०–२५९ ई० पू० में सम्राट् ने यह संघ-यात्रा की थी। अतः एक साल से अधिक संघम् उपागत का अर्थ होगा "२६०–२५९ ई० पू० में संघ की यात्रा को गया।"

अशोक धर्म के कार्यों में कभी निष्क्रिय तो न रहे, लेकिन उनके ज्वलंत धार्मिक जीवन अथवा धर्म-पराक्रम का तेज राज्याभिषेक के दशवें वर्ष से ही प्रस्फुटित हुआ। जब वे कहते हैं, "विगत समय में राजा लोग विहार-यात्रा के लिए निकलते थे। इस विहार-यात्रा में आखेट तथा ऐसे ही दूसरे प्रकार के मनोरंजन हुआ करते थे। किन्तु अभिषिक्त होने के दसवें वर्ष देवताओं के प्रिय ने सम्बोधि अथवा बुध-गया की यात्रा की, तब से यह धर्मयात्रा प्रारम्भ हुई। इस धर्मयात्रा में ये बातें होती हैं—ब्राह्मणों और श्रमणों का दर्शन तथा उन्हें दान, जनपद के लोगों का दर्शन, उन्हें धर्म की शिक्षा और यदि उचित समझा जाय तो धर्म-विषय पर जिज्ञासा करना।" जैसा कि पूर्वनिर्दिष्ट कर चुके हैं, इसी समय अथवा २६० ई० पू० के लगभग उन्होंने संघ की यात्रा भी की थी तथा यही समय उनके पराक्रम का है। फलतः २६० ई० पू० से उनका पूर्ण पराक्रम आरम्भ हो जाता है। प्रजा को धर्म-सिद्धान्तों की शिक्षा देना भी इसी समय से आरम्भ हुआ। इस प्रकार धर्म-प्रचार तथा उत्कर्ष के लिए सम्राट् ने अब कुछ उठा न रखा और वे हर प्रकार से धर्म की अभिवृद्धि के लिए प्रयत्न करने लगे। उनके

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पूर्ण पराक्रम का यही तात्पर्य है। सम्राट् के इस बढ़ते हुए धर्म-पराक्रम का महावंश भी निर्देश करता है—"राजा (अशोक) को पूछने पर मालूम हुआ कि अद्वितीय महाकोला नागराज कपो ने चार बुद्धों के दर्शन किये हैं। सम्राट् ने इस नागराज को लाने के लिए एक सोने की शृंखला भेजी। नागराज के आने पर उसे सम्मानपूर्वक बिठलाया गया। उसके ऊपर वहुत से फूल विखेरे गये। १६ हजार महल की दासियाँ (स्त्रियाँ) उसे घेरे हुए थीं। तत्पश्चात् राजा ने नागराज से इस प्रकार प्रश्न किया—"प्रिय, मुझको सिद्धान्त चक्रवर्ती भगवान् तथागत के दर्शन दिखलाओ।" नागराज ने अपनी शक्ति द्वारा बुद्ध की एक अत्यन्त आकर्षक प्रतिकृति प्रकट की। यह मूर्ति पवित्रता एवं यश की आभा से देदीप्त थी। इस दृश्य को देख कर राजा आश्चर्यान्वित हो उठा। प्रसन्न हो उसने उपहार भेंट किये। राजा ने कहा, "इस नागराज से निर्मित मूर्ति ही इतनी भव्य है, तो कल्याणमय भगवान् का अपना रूप स्वयं कैसा विशाल न होगा ?" यह विचारते हुए उसका हर्ष बढ़ता गया। इसके उपरान्त महान् अशोक ने ७ दिवस तक उत्सव मनाया। इन सातों दिन बुद्ध की प्रतिकृति के दर्शन दिखाये गये। यह बात धर्म के आचार्यों, जिन्होंने धर्म की दूसरी महासभा की थी, को मालूम थी कि "अशोक अद्वितीय होंगे तथा महान् धर्मी होंगे और मोगाली का पुत्र थीरो होगा।" यह उपरोक्त घटना, सम्राट् के संघ-प्रवेश के बाद की है अर्थात् २६० ई० पू० में ही यह घटित हुई थी। फलतः २६० ई० पू० से ही अशोक पूर्णतया पराक्रम करने लगे। यह सम्राट् के धार्मिक-जीवन की दूसरी अवस्था है। इस अवस्था में सम्राट् का धर्म-विकास उत्तरोत्तर बढ़ता गया, वे धर्म के कार्य में पूर्ण रूप से रत हुए। इस समय के पश्चात् वे ऐसे ही धर्मकार्य, धर्मयात्रा आदि में अपने दिन बिताने लगे। रुमिंनिंदी स्तम्भ-लेख से प्रकट होता है कि अभिषेक के बीसवें वर्ष सम्राट् ने एक और यात्रा की थी। इस यात्रा में सम्राट् अपने आचार्य उपगुप्त के साथ लुम्बिनी वन को गये थे, यह हम पहले ही कह आये हैं। इस लुम्बिनी गाँव वालों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर से इसी समय धर्म कर भी हटा दिया गया था। इस 'धर्म-कर' के उल्लेख से विदित होता है कि यह लुम्बिनी वन शाक्यमुनि गौतम के जन्म-स्थान होने के कारण धार्मिक तीर्थ-स्थान हो चला था तथा आजकल की रीत्यनुसार इस धार्मिक स्थान पर कुछ धर्म-कर देना पड़ता था, किन्तु अशोक के मतानुसार यह प्रथा आदरणीय न थी। वे यह ठीक न समझते थे कि भगवान् का दर्शन पैसे से बेचा जाय, अतः उन्होंने लुम्बिनी वन पर से धर्म-कर उठा दिया।

निगलिव स्तम्भ-लेख लिखता है, "अभिषिक्त होने के चौदहवें वर्ष देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने बुद्ध-कोनकामन के स्तूप को दूना किया।"

लुम्बिनी वन की यात्रा सम्राट् ने अभिषिक्त होने के बीसवें वर्ष की थी, जब कि बुद्ध कोनकामन की यात्रा चौदहवें वर्ष की, अर्थात् निगलिव के छः वर्ष पश्चात् सम्राट् लुम्बिनी गये थे। इस पर कोई पूछ सकता है कि तथागत भगवान् शाक्य मुनि के जन्म-स्थान की यात्रा इतने वर्ष (६ वर्ष) पश्चात् क्यों की? क्या सम्राट् उसे अधिक महत्व का न समझते थे? सम्राट् की भगवान् के प्रति वही श्रद्धा तथा भक्ति थी जो गौतम के किसी अनन्य भक्त में हो सकती है। किन्तु इसका कारण आध्यात्मिक है। निगलिव से भी चार वर्ष पहले वे बुद्ध-गया की यात्रा कर चुके थे। बुद्ध-गया की यात्रा करने में आध्यात्मिक भाव है। शाक्यमुनि गौतम को जो दिव्य-ज्ञान की प्राप्ति हुई, वह बुद्ध-गया में पीपल-वृक्ष के नीचे ही हुई थी और शाक्यमुनि यथार्थ में इसी समय से बुद्ध हुए तथा ईश्वर के अवतार माने जाने लगे। ज्ञान-प्राप्ति से पहले वे केवल सिद्धार्थ थे। अतः बुद्ध-गया आध्यात्मिक हेतु के कारण अधिक महत्व का स्थान है। यही कारण था कि सम्राट् ने प्रथम बुद्ध-भगवान् के दर्शन करना ही उचित समझा। तत्पश्चात् उन्होंने गौतम-बुद्ध के प्रथम रूप (बौद्ध धर्मानुसार २४ बुद्ध हुए हैं, कोनकामन बुद्ध गौतम बुद्ध से पहले तीसरे बुद्ध अथवा संख्या में अठारहवें बुद्ध हैं) का दर्शन किया और तदनन्तर सिद्धार्थ के (जिनके पावन अन्तःकरण में भग-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वान् गौतम या बुद्ध का अंकुर धीरे-धीरे विकसित हो रहा था) जन्म-स्थान के दर्शन करने को लुम्बिनी गये ।

निष्कर्षतः सम्राट् अशोक अभिषिक्त होने के चतुर्थ या पाँचवें वर्ष अथवा २५४–५ ई० पू० में बौद्ध हुए । दो-ढाई वर्ष तक वे उपासक रहे (२५८-२५७), अर्थात् साधारण उपासकों की भाँति इस काल में उन्होंने कोई विशेष पराक्रम न किया । गौण-शिलालेख ब्रह्मगिरी—अभिषिक्त होने के १०वें वर्ष से वे पूर्ण रूप से बौद्ध हुए । अर्थात् यह समय उनके पराक्रम का समय प्रकट करता है । इस पराक्रम काल से ही सम्बोधि, निगलिव, रुमिनिंदी की यात्राएँ हुई, संघ-गमन हुआ तथा धर्म का अत्यधिक प्रचार प्रारम्भ हुआ । इस समय से सम्राट् का धर्म-प्रेम, धर्म-कामना तथा विस्तार द्रुत-वेग के साथ होने लगा (त्रयोदश शिलालेख, आठवाँ शिलालेख, गौड़-शिलालेख, ब्रह्मगिरी तथा निगलिव स्तम्भ-लेख) । सम्राट् ने इस समय से इतने प्रज्ज्वलित उत्साह के साथ पराक्रम किया कि सम्पूर्ण भारत में तथा पाश्चात्य प्रदेशों तक एक बार गौतम के अहिसा के तार झंकार उठे (त्रयोदश शिलालेख) । अपने पराक्रम पर स्वयं सम्राट् चकित थे । इस पराक्रम अथवा धर्म-प्रचार का अगले प्रकरण में वर्णन किया जायगा । इस प्रकरण में हमें केवल यह दिखाना है कि सम्राट् बौद्ध थे । नीचे अब उन लेखों का उल्लेख किया जायगा जो सम्राट् के बौद्ध-धर्मी होने के प्रमाण रूप हैं ।

बद्ध-लेख-प्रमाण—भाबरु या द्वितीय बैराट आज्ञा-पत्र (लेख)—यह लेख जयपुर स्टेट के उत्तरी भाग में, बैराट की एक पहाड़ी पर स्थित बिहार में पाया गया है । यह लेख संघ को राजाज्ञा के रूप में दिखाया गया है । मगध संघ को सम्बोधित करते हुए सम्राट् कहते हैं, "भद्रगण, आप लोगों को विदित है कि बुद्ध, धर्म और सङ्घ के प्रति मेरी कितनी श्रद्धा-भक्ति और प्रीति है । प्रत्येक बातें, भद्रगण, जो महाभाग बुद्ध के मुख से उच्चारित हुई हैं, वे सब अक्षरशः सत्य और सुन्दर हैं । और निःसन्देह,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भद्रगण, जहाँ तक मैं अनागत का निरूपण कर सकता हूँ, मुझे विश्वास रखना चाहिए कि सत्य-धर्म चिरस्थापित होगा।''

इस आज्ञा-पत्र में कुछ बौद्ध-ग्रंथों के नाम भी दिये गये हैं। इन बौद्ध पुस्तकों का नित्य अध्ययन करने के लिये सम्राट् भिक्षु तथा भिक्षुणियों को आज्ञा देते हैं। सम्राट् की अभिलाषा है कि इन धार्मिक ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन कर, भिक्षु और भिक्षुणी उन्हें कंठाग्र कर लें तथा साधारण लोग अथवा उपासक भी उनका अध्ययन करें, जिससे धर्म की उन्नति हो। सम्राट् की निर्देश की हुई पुस्तकें नीचे दी जाती हैं[1]—

(१) विनय-सामुर्का (Vinaya-Samukase)
(२) आर्य-वंश (Aliya Vasani = Arya Vansa)
(३) अनागत-भयानि (Anagat-Bhayani)
(४) मुनिगाथा—मुनि-सुत्त (Muni-Gatha=Muni-Sutta)
(५) नालक-सुत्त (Mauneya-Sute=Nalaka-Sutta)
(६) रथविनीत-सुत्त (Upatisa-pasine=Ratha Vinita-Sutta)
(७) लाहुलोवाद = राहुलवाद-सुत्त (Lahulovada = Rahulavada-Sutta)

प्रथम पुस्तक विनय-सामुकी को ए० जी० एडमण्ड्स ने समुक्कमिसिक-धम्मदेसना के साथ मिलाया है। इसमें उन चार सत्य सिद्धांतों की व्याख्या की गयी है, जिनको भगवान् गौतम ने सर्वप्रथम सारनाथ में अपने शिष्यों को बतलाया था। सम्भव है इसी विचार से सम्राट् ने भिक्षु-भिक्षुणियों को उन्हें पढ़ने का निर्देश दिया।[2]

''धर्म के इन प्रकरणों का, भद्रगण, मेरी अभिलाषा है कि भद्र भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ अत्यधिक संख्या में श्रवण करें और मनन करें तथा इसी

[1] भावरु या बैराट शिलालेख—नं० २

[2] J. R. A. S. 1913. p. 387

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार साधारण उपासक वर्ग, स्त्री और पुरुष सभी जन उनका अध्ययन और श्रवण करें। भद्रगण, इसी कारण से मैं इसे लिख रहा हूँ कि लोग मेरी अभिलाषा को समझें।"

श्री एस० एन० मित्रा ने उक्त पुस्तक को मज्झिम[1] से समीकृत किया है। डाक्टर बरुआ इसे सिगालोवाद सुतान्त से मिलाते हैं। उनका कहना है कि बुद्ध-घोष की समीक्षा के अनुसार यह पुस्तक गृहस्थों के लिये है, जहाँ इसके लिये "गोहिविनय" कहा गया है। गृहस्थों के अलावा इस पुस्तक का भिक्षु तथा भिक्षुणियों के लिये भी निर्देश किया गया है। सुतांत में अरियासा विनय अर्थात् विनय-समुकसा का भी उल्लेख है।[2] श्री भंडार-कर ने विनय-सामुकी को तुभाटक-सुत्त से मिलाया है। बुद्ध-घोष ने, विशुद्ध-मग्ग में, एक सुन्दर-सी कहानी दी है, जिसमें एक भिक्षु ने तीन महीने तक अपनी माँ के घर में भोजन किया, किन्तु यह कभी प्रकट न होने दिया कि "मैं तुम्हारा लड़का हूँ और तुम मेरी माँ हो।" कथा का अभिप्राय यही है कि एक निर्व्याज शुद्धमति भिक्षु के लिए माता-पिता का स्नेह, मोह अथवा ममता कोई अड़चन तथा बन्धन की वस्तु नहीं होती। इस आशय का उपदेश भगवान् गौतम ने—रथविनीत-सुत्त, नालक-सुत्त, तुभाटक-सुत्त, और महाअरिया वंश में किया है। इन्हीं चार सुत्तों में, तुभाटक-सुत्त को भंडारकर ने विनय-सामुकी से समीकृत किया है। इस प्रकार विनय-सामुकी पर बहुत से मत हैं, अतः यह सर्वथा निर्धारित नहीं किया जा सकता कि किसकी सम्मति अधिक उपयुक्त है। हमारी सम्मति में डा० बरुआ और डा० भंडारकर के मत औरों से सन्तोषजनक मालूम पड़ते हैं। इन दोनों से भी अधिक ग्रहणीय श्री बरुआ का मत विदित होता है।

पूर्वनिर्दिष्ट बौद्ध-धार्मिक ग्रन्थों का दूसरा नाम धर्म-परियाय भी है। सुत्त जिनमें भगवान् ने उपदेश दिये हैं, बहुत से हैं, किंतु उनमें से प्रमुख चार ही

---

[1] Majjhima, iii, pp. 37-45

[2] J. R. A. S. 1915, p. 809

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं, "रथविनीत-सुत्त, नालक-सुत्त, तुभाटक-सुत्त और महाअरिय वंश।" बहुत से विद्वद्गणों की धारणा है कि सम्राट् अशोक के उल्लेखित, अलिया-वंशानी, मोनिया-सुत्त और उपतिष-पाषिनी, ये तीनों महाअरियवंश, नालक-सुत्त और रथ-विनीत के सानुरूप हैं।

उपरोक्त धार्मिक-ग्रन्थों अथवा धर्म-परियायों का एक दूसरे से मिलाया जाना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि सम्राट् अशोक के समय एक पुस्तक कम से कम दो नामों से प्रचलित थी। अलिया-वंशानी का दूसरा नाम महा-अरिया-वंश, मोनिया-सुत्त का नालक-सुत्त और उपतिष-पाषिनी का रथ-विनीत आदि था।

एक विषय यहाँ पर और विचारणीय है। सम्राट् ने धर्म-परियायों के साथ बौद्ध "त्रिपिटका" का नाम नहीं दिया है। इस कारण बहुत से विद्वद्-गण यह सोच सकते हैं कि उस समय "त्रिपिटक" वर्तमान न थे, किन्तु यह धारणा सत्य से दूरस्थ ही नहीं, अपितु सर्वथा मिथ्या कल्पना होगी। सम्राट् का आशय, यहाँ पर कुछ चुने हुए ग्रन्थों का भिक्षु-भिक्षुणी तथा साधारण लोगों में प्रचार करना था। संभवतया सम्राट् को उपरोक्त पुस्तकें अधिक पसन्द भी थीं। हम ऊपर कह आये हैं कि वे सुत्त जिनसे भगवान् ने उपदेश दिया है, बहुत से हैं; किन्तु प्रमुख चार ही हैं—रथ-विनीत, तुभाटक, नालक और महाअरियवंश और जैसा कि पूर्वनिर्दिष्ट हुआ है, इन्हीं चार का सम्राट् ने भी भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए भाबरु-लेख में पढ़ने का आदेश दिया है। अतः इन्हें छाँटने का आशय, प्रत्यक्ष सिद्ध है कि ये ग्रन्थ सर्वसुन्दर, सरल एवं सर्वोपयोगी थे। कह सकते हैं कि सम्राट् धर्म के सार-भूत सिद्धांतों के परम उपासक और अनन्य भक्त थे और बौद्ध-धर्म के आध्यात्मिक एवं विधि-पद्धति की ओर उनके मस्तक का झुकाव कम था।[1]

[1] शिलालेखों को पढ़कर कोई यह नहीं कह सकता कि सम्राट् सारभूत सिद्धांतों के उपासक न थे, धर्म का जहाँ कहीं भी उल्लेख आया है, सब सिद्धांत रूप में। "सार" उनका प्रिय शब्द है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्राट् ने जहाँ कहीं भी धर्म, धर्म-दान, धर्म-वितरण, धर्म-मङ्गल, धर्म-अनुराग, धर्म-यात्रा आदि का उल्लेख किया है; उन सब स्थलों पर उनका अभिप्राय सिद्धांतों के प्रचार से रहा है, उनके विभिन्न प्रकार के धर्म अथवा कर्म से केवल तात्पर्य—माता-पिता की सेवा, दासों और नौकरों से उचित व्यवहार, सर्वमङ्गल, सर्वकल्याण-कामना, मित्र-परिचितों की सेवा, ब्राह्मण, श्रमण, साधुओं आदि को दान, दया, धर्म आदि भावों से है। सम्राट् के दृष्टिकोण से यही सत्य धर्म है और ये भाव केवल सिद्धांत मात्र हैं। फलतः सम्राट् द्वारा निर्दिष्ट पुस्तकें उनके भावों के ही अनुकूल हैं। परीक्षण के लिए अलियावंश को ही लीजिए। इस पुस्तक (धर्म-परियाय) में भिक्षुओं के लिए चार प्रकार के आचरणों का निर्देश किया गया है। प्रथम, भिक्षुओं को साधारण वस्त्र ग्रहण करना चाहिए (अर्थात् उन्हें दिखलावे तथा शौक से अलग रहना चाहिए)। द्वितीय उन्हें सात्विक भोजन ग्रहण करना चाहिए (मनःशुद्धि एवं सात्विक वृत्तियों के उत्कर्ष हेतु साधारण शुद्ध और विमल भोजन शास्त्रों में परम आवश्यक माना गया है)। तृतीय, विनम्रता (विनम्रता सर्वसुन्दर लक्षण माना गया है, नम्रता का सभी शास्त्रों तथा आचरण के आचार्यों ने अभिनन्दन किया है) और अन्तिम अर्थात् चतुर्थ लक्षण—"आत्मा की एकाग्रता बतलायी है। अर्थात् मन को वश में रख कर एकचित्त हो भगवान् का ध्यान करना, (जब तक मन वश में न हो सके, चित्त में एकाग्रता न हो, विश्व-बंधनों से मुक्ति पाना सर्वथा असाध्य है)। इस पुस्तक का अभिप्राय भिक्षुओं के चरित्र का इन सद्-सिद्धांतों पर निर्माण करना है। मुनिगाथा तथा मोनिय-सुत्त में भी ऐसे ही सुन्दर नियोगों का उपदेश दिया गया है। अतः प्रकट है कि सम्राट् ने किसी ऐसी पुस्तक का उल्लेख नहीं किया है जो केवल धर्म के बाह्य अथवा केवल आध्यात्मिक पक्ष से सम्बन्ध रखती हो। उन्होंने उन्हीं धर्म-परियायों के अध्ययन पर जोर दिया है जो एक भिक्षु के जीवन को शुद्ध, सात्विक और पूर्णतया मानवी बनाने में समर्थ हैं। सम्राट् बाह्य दिखलावे को बिलकुल अच्छा न समझते

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे। उनका सिद्धांत था—"किरतिम देव न पूजिए, ठेस लगे फुटि जाय। कहै मलूक सुभ आतमा चारों युग ठहराय ॥"[१]

आजकल के धर्म-भक्तों, उपासकों और पुजारियों की भाँति—सम्राट् बाहरी आडम्बर के विरोधी थे। वे आजकल के पण्डों की तरह, धर्मान्ध भक्तों की तरह, धर्म तथा देवताओं को ठगना अच्छा न समझते थे। यह भाव निम्न पंक्तियों में सर्वथा अङ्कित है—"लाडू, लावण, लापसी, पूजा चढ़ै अपार। पूजि पुजारा ले गया, मूरति के मुख छार ॥" बाह्य आडम्बर से परे सम्राट् अपने मनोभावों एवं चारित्रिक सिद्धांतों के अनन्य भक्त थे। वे इस विषय को समझने में असमर्थ थे कि मनुष्य विना अन्तःकरण की शुद्धि एवं उज्ज्वल चरित्र के कैसे भगवान् को पा सकता है। उनके समक्ष सुकृत करना ही देवता की उपासना करनी थी। सर्व-कल्याण करना धर्म-यज्ञ करना था। सम्राट् उन्हीं कर्मों एवं सुकृतों को पूज्य समझते थे जिससे प्राणीमात्र का कल्याण हो। बहुत से देश, जाति, समाज और सद्भावों के विरोधी, मूर्ति अथवा देवताओं के उपासकों को वे नीची निगाह से देखते थे। सम्राट् के सम्मुख चाणक्य के अनुसार भावों अथवा सिद्धांतों की उपासना ही प्रमुख उपासना थी—"न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न च मृण्मये। देवो हि विद्यते भावे तस्मात् भावो हि कारणम् ॥" (भाग VII, पृष्ठ १२) स्वयं परमात्मा उन राजकीय उपासकों का जिनका जीवन अत्याचार तथा गरीबों एवं प्राणीमात्र को दुःख देने में ही बीता है, कभी स्वागत नहीं करते, उनकी पूजा की भगवान् अवहेलना एवं तिरस्कार करते हैं, क्योंकि वह सद्भावना तथा कल्याण-कामना से अछूती एवं स्वार्थपूर्ण है। कोई राजा अथवा धनाढ्य या सांसारिक बड़े मनुष्य कहलाने वाले दान अथवा उपासना करते हैं, क्यों? इसीलिए कि उन्हें दूसरे जन्म में भी इसी प्रकार

---

[१] "S. B. S." I. 104—(यह सन्दर्भ डा० बड़थ्वाल की पुस्तक "The Nirguna Philosophy of Hindi Poetry" से लिया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ऐश्वर्य भोगने को मिलेगा तथा गरीबों को उत्पीड़ित करने एवम् उनके आहार को भी हड़प करने की शक्ति मिलेगी। यही कारण था कि भगवान् श्रीकृष्ण दुर्योधन के षट्रस भोजन और राजकीय व्यञ्जनों को ठुकरा कर, आहार के लिए विदुर की विनीत कुटीर में रुके। इसी कारण गद्गद् हो कबीर गाते हैं—

"राजन कौन तुमारे आवै !
ऐसो भाव विदुर को देख्यो, वहु गरीब मोहि भावै।
हस्ति देख भरम ते भूला, हरि भगवान न जाना ॥"

(कबीर ग्रन्थावली)

इसी प्रकार सम्राट् भी कहते हैं कि राजकीय एवं विशिष्ट अथवा धनाढ्य कहलाने वाले लोगों और गरीब लोगों में से, गरीब लोग ही धर्म-पराक्रम कर सकते हैं (नवाँ प्रज्ञापन—चतुर्दश शिलालेख, कालसी)।

कबीर के शब्दों में सम्राट् का पावन सिद्धान्त था—"साधो एक आप जग माँही, दूजा करम भरम है किरतिम ज्यों दर्पण में छाँही।" सम्राट् को यह प्रिय न था कि "कर में तो माला फिरे, जीभ फिरे मुख माँही।" उनके मत में मन, वचन और कर्म से शुद्ध, सात्विकी और चारित्रिक होना ही धार्मिक होना एवं परमात्मा का अनन्य भक्त और उपासक होना था। उनकी उपासना प्राणीमात्र (जीवमात्र) की उपासना थी, विश्व-कल्याण उनका इष्ट था और आत्मिक शुद्धता ही तपस्या एवं धर्म-कर्म था।

इस प्रकार सम्राट् मनःशुद्धता एवं आत्मा का विकास प्रथमतः चाहते थे। भिक्षु-भिक्षुणियों के अलावा साधारण जनता के लिए भी वे इन्हीं बातों के अभिलाषी थे। इसीलिए सम्राट् ने कहा था, "इन धर्म-परियायों का अध्ययन और श्रवण भिक्षु तथा भिक्षुणी ही नहीं अपितु साधारण उपासक, पुरुष और स्त्री भी करें" (भाबरु-बैराट शिलालेख नं० २)।

दूसरा सुत्त जिसका सम्राट् ने निर्देश किया था वह "अनागत भयानि" है। इसमें अनागत = न आगत, अर्थात् न आने वाले भावी भयों और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संताप का उल्लेख किया गया है। इन भयों, दुःखों से तात्पर्य उन बाधाओं और संतापों से है जो धर्म-कार्य एवं सुकृतों के मार्ग में बाधा-रूप उपस्थित हो आते हैं। इन भयों और बाधाओं से वे ही डरते हैं, जिनका हृदय शक्तिहीन हो; परन्तु जिनका हृदय दृढ़ है और मन वश में है वे ऐसी सहस्रों बाधाओं को धूल-सी ठुकरा देते हैं! "ध्रुव" जिस समय तपस्या करते थे, तो ऐसी ही अनेक व्यथा, व्याधियाँ एवं भय, उनके सुकर्म में विघ्न डालने का प्रयत्न किया करते थे। किन्तु ध्रुव का हृदय दृढ़ था। उनका मन, इंद्रिय और वासना पर पूर्ण आधिपत्य था तथा उनकी स्थिति एवं एकाग्रता अटल थी, अतः सब विघ्न उनके सामने निरुपाय होकर रह गये। अतः "अनागत भयानि" के अध्ययन करने से यही तात्पर्य था कि भिक्षुगण अपने मन, इन्द्रिय और वासनाओं पर आधिपत्य रखें, हृदय को दृढ़ीकृत करें, जिससे सुकर्म करते हुए, धर्म-पथ पर विघ्न रूप आ पड़नेवाली वट-नाओं का उन पर कोई प्रभाव न हो सके। मनुष्य आध्यात्मिक पथ पर मन, इंद्रिय और हृदय की स्थिरता से ही, आगे पाँव बढ़ा सकता है। इस सुत्त में आनेवाले सभी प्रकार के विघ्नों का विवरण दिया गया है, जिसका आशय धर्म-मार्ग का अनुसरण करने वाले को अनागत-भयों (अनागत-भयानि) से सचेत करना है।

मन-इंद्रिय, वासना आदि को अधिकृत करने के लिए सम्राट् ने एक और पुस्तक राहुलोवाद के अध्ययन का आदेश किया है। राहुलोवाद-सुत्त में भगवान् गौतम ने आम्रपाली (अम्बालतिक) को मन तथा वासना पर निग्रह करने का उपदेश दिया है। कहते हैं, आम्रपाली भगवान् पर आसक्त थी। इसी आसक्ति के कारण उसका मन विचलित था और वह वासना-युक्त हो चली थी।

इस प्रकार सर्वलोक-हित, मानव-चरित्र की उज्ज्वलता, विशिष्टता और दृढ़ता के हेतु ही सम्राट् ने उपरोक्त पुस्तकों का अध्ययन सबके लिए उत्तम बतलाया है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अशोक के प्रति दूसरा बौद्ध-लेख-प्रमाण—सारनाथ स्तम्भ— इसमें सम्राट् ने यह अनुशासन दिया है—"संघ का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। जो कोई भिक्षु अथवा भिक्षुणी संघ को तोड़े, उसे सफेद वस्त्र पहिनाये जायँगे। उसे विहार से अलग किसी दूसरे स्थान पर रहना पड़ेगा। यह अनुशासन संघ में भिक्षु और भिक्षुणियों को सुना दिया है।" संघ के लिए इस प्रकार नियम बनाना सम्राट् के पूर्ण बौद्ध होने का प्रमाण है। सम्राट् को बौद्ध-संघ का अत्यधिक विचार था। उनके समय तथा उससे प्रथम ही बौद्ध-संघ में विभिन्न मतों का प्रचार आरम्भ हो चुका था। ये मत-मतान्तर संघ की एकता के लिए घातक थे। सम्भवतया इसी कारण सम्राट् को सारनाथ-स्तम्भ-लेख प्रेषित करना पड़ा था।

तीसरा बौद्ध-लेख-प्रमाण—साँची-स्तम्भ—यह लेख इस प्रकार कहता है—"जब तक मेरे पुत्र और प्रपौत्र शासन करें, जब तक चन्द्र और सूर्य तपें तब तक भिक्षु और भिक्षुणियों का संघ संयुक्त रहेगा। भिक्षु अथवा भिक्षुणी जो कोई संघ-विभेद करे, उसे सफेद वस्त्र पहिनाये जायँगे तथा उसे विहार से अलग रहना होगा। मेरी अभिलाषा क्या है? कि संघ संयुक्त तथा चिरंजीवी हो।"

इसी भाँति कौसाम्बी-स्तम्भ-लेख कहता है[1]—"जो भिक्षु और भिक्षुणी संघ को तोड़ें, उन्हें सफेद वस्त्र पहिनाने के पश्चात् विहार से अलग स्थान ढूँढ़ना होगा।"

ये धर्मानुशासन महामात्रों द्वारा संघ को भेजे गये थे, जिससे भिक्षु और भिक्षुणी इस बात को समझें और संघ के विरुद्ध कोई कार्य न करें। इन धर्मानुशासनों से सम्राट् का बौद्ध-धर्म के प्रति अत्यधिक प्रेम और श्री-कामना सर्वशः प्रकट होती है। सम्राट् बौद्ध-संघ के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान्

---

[1]देखिये—गौण-शिलालेख प्रथम, मास्की और रूपनाथ—इनमें अशोक अपने को "शाक्य"—बौद्ध-शाक्य कहता है (हुल्स)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे, उनकी उत्कट अभिलाषा थी कि बौद्ध-धर्म-संघ चिरजीवी हो, उसके भीतर विभिन्न मत-मतान्तरों के वाद-विवाद उपस्थित न हों, हर प्रकार उसकी श्री-वृद्धि हो और संघ की महिमा अटल रहे। अतः जिस मौर्य सम्राट् की संघ अथवा बौद्ध-धर्म के प्रति इतनी श्रद्धा और कल्याण की भावना थी, उसके अनन्य बौद्ध-धर्मावलम्बी होने में कोई सन्देह अथवा भ्रम करना भूल है।

सारनाथ स्तम्भ-लेख में सम्राट् ने यह भी निर्देश किया था कि भिक्षु और भिक्षुणियों के अनुशासन वाले लेख की एक प्रति विहार में गाड़ी जाय तथा दूसरी ऐसी ही प्रति उपासकों (साधारण लोगों) के लिए स्थापित की जाय जिससे उपासक लोग, प्रति उपवास के अवसर पर, इस लेख को पढ़ सकें। प्रत्येक उपवास के दिन हर एक महामात्र भी इस लेख को पढ़े और उसे पूर्णतः समझने का यत्न करे तथा महामात्र भी अपने अधीनस्थ प्रांतों में प्रत्येक जगह इसी प्रकार का आदेश भेजें। इसी तरह और जगहों को भी अनुशासन भेजे जायँ।

सारनाथ स्तम्भ-लेख के इस अन्तिम आदेश से सर्वथा स्पष्ट है कि सम्राट् संघ के ऐक्य के रक्षणार्थ कितने व्यग्र रहते थे। संघ के एकीकरण के हेतु ही ये अनुशासन प्रेषित किये गये कि संघ तोड़ने वाले भिक्षु अथवा भिक्षुणी को सफेद वस्त्र पहिनाकर विहार से निकाल दिया जायेगा। सफेद वस्त्र पहिनाने का तात्पर्य यही है कि अमुक भिक्षु या भिक्षुणी, जिसने संघ-भेद किया, धर्म का विरोधी है। भिक्षुओं की धार्मिक पोशाक पीली मानी जाती है, अतः अधर्मी भिक्षुओं—संघ-भेद करने वाले भिक्षुओं—को धार्मिक पोशाक पहिनने का हक न था। अधर्मी भिक्षुओं को सफेद वस्त्र ग्रहण करने पर विहार में भी नहीं रहने दिया जाता था। ऐसा करने से संघ की बहुत कुछ रक्षा होनी सम्भव थी। क्योंकि किसी भी उद्दण्ड भिक्षु या भिक्षुणी को उसके पद छीने जाने तथा विहार से बहिष्कृत किये जाने का डर, उसे संघ-विभेद करने से रोक सकता था, किन्तु यदि फिर भी नियमों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का उल्लंघन कर कोई भिक्षु विहार से निकल जाय और साधारण जनता में अपने नवीन मत का प्रचार करने लगे, तो किस प्रकार संघ-भेद की रक्षा की जायेगी ? इसी विषय का विचार कर सम्राट् ने महामात्रों को, "संघ के नियमों वाले लेख" की एक-एक प्रति प्रत्येक जगह—कोट, नगर, जिले और साधारण वर्ग के लिए भी स्थापित करने का अनुशासन दिया था, ताकि साधारण जनता और उपासक सम्राट् के नियोगों का ध्यान रख सकें। श्री भंडारकर के मतानुसार साधारण जनता के लिए प्रेषित शासन-पत्र निगम-सभा अथवा अर्वाचीन टाउन-हाल में स्तंभों पर लगा दिया जाता था।[1]

इस लेख में आये हुए महामात्र निःसन्देह धर्ममहामात्र ही थे, जिनका कार्य विभिन्न सम्प्रदायों में परस्पर मेल-जोल करना तथा सहिष्णुता एवं स्नेह का सम्बन्ध स्थापित करना था, अर्थात् ये पूर्व-निर्दिष्ट धर्ममहामात्र ही थे। अतः इन्हीं धर्म-महामात्रों को संघ के एकीकरण, ऐक्य एवं भेद से रक्षण करने का गुरुतर भार भी सौंपा गया था।

यहाँ पर एक और विचारणीय प्रश्न उठता है कि क्या सम्राट् के समय बौद्ध-संघ में भेद होने लगा था ? इस प्रश्न का उत्तर "हाँ" से ही दिया जा सकता है, नहीं तो सम्राट् ने संघ-भेद के रक्षार्थ आज्ञाएँ क्यों प्रेषित कीं ? अतः इन आज्ञाओं का प्रेषित होना निष्प्रयोजन नहीं कहा जा सकता, किन्तु वे इस बात के प्रमाण-रूप हैं कि सम्राट् के समय कुछ मतभेद अवश्य हो गये थे और इन्हीं को रोकने का सम्राट् पूर्णतया उद्योग कर रहे थे। बुद्ध के निर्वाणकाल के कुछ काल उपरान्त ही संघ में मतभेद आरम्भ हो चुका था और अशोक के समय तक सिंहल गाथाओं के अनुसार, निश्चित रूप से संघ में दो भेद हो चुके थे—प्रथम थीरवाद और द्वितीय महासंघिका। इन दो भेदों को मिटाने के लिए पाटलिपुत्र में एक सभा भी हुई थी। इस सभा के सभापति स्वयं सम्राट् अशोक थे। संघ-भेद उत्तरोत्तर

[1] डाक्टर भण्डारकर, अशोक—पृष्ठ ९६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बढ़ता ही जा रहा था। इन मतभेदों को सम्राट् संघ-नाशक एवं धर्म की अस्थिरता के सूचक समझते थे। अतः इन भेदों का विनाश उनकी सम्मति में, संघ एवं धर्म के हेतु अभीष्ट था और इसी के अनुरूप सम्राट् ने कार्य भी किया, जैसा कि सारनाथ, साँची तथा कौसाम्बी स्तम्भ-लेखों से सर्वथा विदित है। संघ ऐक्य एवं मतभेद अथवा संघ-भेद निवारण के इस कार्य में सम्राट् यथेष्टतया सफल हुए। उनके पराक्रम के फलस्वरूप संघ का मतभेद बहुत कुछ जाता रहा और वह पुनः संघठित हो चला, क्योंकि अशोक के शासनकाल में हुई, दूसरी बौद्ध-सभा के समय संघ पुनः संघठित हो गया था। यद्यपि उक्त सभा के समय भी कुछ भिक्षुओं ने आचार के दस सिद्धान्तों पर तर्क उठाकर, संघ में भेद डालने का उपक्रम अवश्य किया था। किन्तु ये भिक्षु वाद-विवाद द्वारा हरा दिये गये और फलतः संघ टूटने से बच गया। इस सन्दर्भ से यह अनुमान किया जा सकता है कि यद्यपि सम्राट् के समय उनके पराक्रम द्वारा संघ पुनः संघठित हो चला था, किन्तु मतभेद होने का भय उनके मस्तिष्क को आक्रान्त किये ही रहा और इसी कारण उन्हें आज्ञाएँ प्रकाशित करनी पड़ीं, जिससे आनेवाले दुस्तर भेदों से संघ की रक्षा हो सके।

इस स्थल पर कोई यह प्रश्न भी उठा सकता है कि सम्राट् अशोक के समय, बौद्ध-संघ कई विभागों में बँटा हुआ था तथा संघ से यहाँ पर अशोक का केवल उस संघ से तात्पर्य है जिस (संघ) से वे स्वयं सम्बन्धित थे। किन्तु यह प्रश्न निरर्थक है, क्योंकि जो अशोक, ब्राह्मण, आजीविक, निर्ग्रंथ, श्रमण तथा अन्य सम्प्रदायों के परस्पर मेल-जोल के अभिलाषी थे, वे ही अशोक पूरे बौद्ध-धर्म को छोड़कर कैसे उसकी एक शाखा का पक्षपात कर सकते थे ?

फलतः सम्राट् का संघ से तात्पर्य उसी संघ से न था, जिससे वे सम्बन्धित थे, अपितु पूर्ण-बौद्ध-संघ से था जिसकी रक्षा एवं अभिवृद्धि के लिए वे जीवनपर्यन्त उद्योग करते रहे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बौद्ध-धर्म की तीसरी महासभा—बौद्ध-धर्म की तीन महासभाएँ हुई हैं। पहली सभा पाटलिपुत्र में हुई थी। इस सभा का अधिपति महाकस्सप था। दूसरी सभा वैशाली में हुई थी। इस सभा के अध्यक्ष स्वयं सम्राट् अशोक थे। तीसरी महासभा भी सम्राट् की अध्यक्षता में हुई थी। इसका कुछ निर्देश भावरु लेख में भी दिया गया है। यह महासभा संघ में उठते हुए भेदों को मिटाने के लिए हुई थी। इस समय संघ में कई मतभेद हो गये थे और बुद्ध की शिक्षाओं का लोग विभिन्न अर्थ करने लगे थे। किन्तु इस महासभा ने बौद्ध-धर्म में उगते हुए मतभेदों का नाश कर, उसे पुनः सुसंघटित कर दिया। इस संगठन के फलस्वरूप बौद्ध-धर्म में नवीन जीवन का संचार हुआ और वह नूतन स्फूर्ति के साथ बढ़ने लगा। धीरे-धीरे उसकी छाया विश्व-व्यापक हो चली और सारा विश्व गौतम के चरणों का अभिनन्दन करने लगा।

महावंश इस तृतीय महासभा का निम्न उल्लेख देता है—"सम्राट् अशोक ने बौद्ध भिक्षुओं को बुलाने के लिए दो यक्षों को भेजा। ये दोनों यक्ष सात दिन के भीतर जम्बूद्वीप के सब भिक्षुओं को लिवा लाये। सातवें दिन अशोक अपने बनाये हुए विशाल मन्दिर (अशोकाराम) में गये और सब भिक्षुओं को वहाँ एकत्रित होने का आदेश दिया। अशोक स्वयं अपने गुरु थीरो तिस्स (उपगुप्त) के सहित सभा-मण्डप में आकर विराजे। इसके पश्चात् उन्होंने मिथ्यावादी भिक्षुओं को अपने पास बुलाकर प्रश्न किया—"कल्याण रूप भगवान् बुद्ध का क्या धर्म था?" प्रत्येक भिक्षु ने अपने धर्मविचार के अनुसार बुद्ध के धर्म की व्याख्या अथवा समीक्षा की। सम्राट् ने उन सब मिथ्यावादी भिक्षुओं को संघ से निकाल दिया। बहिष्कृत हुए भिक्षुओं की संख्या साठ हजार (६०,०००) थी। इसके अनन्तर सम्राट् ने धर्मनिष्ठ भिक्षुओं से पूछा, "कल्याणमय भगवान् का सिद्धान्त क्या था?" उन्होंने उत्तर दिया, "सत्यता"। सम्राट् ने तब थीरो से पूछा, "आचार्य, क्या बुद्ध स्वयं 'विभज्जवादी' धर्म के थे? थीरो ने उत्तर दिया,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'हाँ'। सम्राट् यह सुनकर अत्यन्त हर्षित हो उठे। सम्राट् ने कहा, "पाप-भिक्षु निकाल दिये गये और संघ विमलीकृत हुआ। अब पुनः "उपोसथो" मनाया जा सकता है।" थीरो से यह उच्चारण करने के पश्चात् तथा भिक्षुओं को राजकीय रक्षण प्रदान कर, अभिनन्दनीय सम्राट् राजनगरी में पहुँचे। संघ में फिर से ऐक्य स्थापित हो गया और "उपोसथो" मनाया गया।

थीरो ने असंख्य भिक्षुओं में से एक हजार पवित्र चारित्रिक भिक्षुओं को, जो पूर्ण धार्मिक थे तथा जिन्हें त्रिपिटकों का पूर्ण ज्ञान था, सभा के लिए चुना। इनके द्वारा धर्म की महासभा हुई। इसके अध्यक्ष थीरो तिस्स थे।

यह धर्म-सभा उसी भाँति हुई, जैसी महाकस्सप और आचार्य यस्सी के समय में हुई थी। इस सभा-मन्दिर में आचार्य तिस्स ने अपने विचारों का प्रचार किया। फलतः सब विवाद और भ्रांतियों का निवारण हो गया।

इस प्रकार अशोक की अध्यक्षता (रक्षा) में यह धर्म-सभा नवें मास समाप्त हुई।

अन्ततः थीरो तिस्स का "कथावत्थु" नामक ग्रंथ प्रमाण रूप में सबने अंगीकृत किया। इस प्रकार सम्राट् के शासनकाल के सत्रहवें वर्ष में धर्म की यह महासभा, ७२ वर्ष के बूढ़े आचार्य की अध्यक्षता में निपुणता के साथ की गयी।

धर्म की पुनः स्थापना के फलस्वरूप, सभा विसर्जन होते ही विशाल पृथ्वी काँपती हुई बोली "साधु" !"

(महावंश, प्रकरण पाँचवाँ, पृष्ठ ४६, टरनर)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाँचवाँ प्रकरण

बौद्ध अशोक

जिस विश्व-विजयिनी मौर्य-साम्राज्य की अरुण-पताका ने सम्पूर्ण भारत को आक्रांत करते हुए, अपने वीरघोष से विदेशी यवन जातियों को भी प्रकंपित कर दिया था, उसी पराक्रमी वंश को धर्म-विजयिनी स्वस्तिक-पताका ने एक बार सम्पूर्ण संसार को कल्याण और स्नेह की छाया में सहलाया भी था। मौर्य-धर्मघोष की मङ्गलमयी वाणी ने धर्म की स्थापना कर, विश्व को मानवी क्रूरता और ताण्डवता से दूर हटा दिया। यह धर्म-विजय थी। यह सम्राट् अशोक के विश्व-कल्याण की पवित्र भावना का निर्मल स्रोत था, जिसने संसार के मालिन्य और कलङ्क को धोकर उसे पवित्र किया। यह कलिङ्ग का वही घनीभूत क्षोभ (अनुताप) था, जो धर्म के स्रोत में निश्चल गति से बहता हुआ, विश्व के सूर्योत्पल मार्ग को स्नेह से सींच गया। मानव-जाति के धर्म-इतिहास में सम्राट् का प्रमुख एवं सर्वोच्च स्थान है। अगले प्रकरण से सर्वथा स्पष्ट है कि सम्राट् बौद्ध थे। प्रस्तुत प्रकरण में हम बौद्ध-धर्म की व्याख्या करने का प्रयत्न करेंगे और इस विषय की समीक्षा करेंगे कि अशोक का धर्म कैसा था, क्या था और इसके लिए उन्होंने क्या किया।

सम्राट् का धर्म से क्या तात्पर्य था ? इस विषय में दूसरा स्तंभ लिखता है, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है—धर्म अच्छा है, साधु है, किन्तु धर्म क्या है ? पाप से अपने को बचाना (अपासनिव), सुकृतों का करना, दया, दान, सत्यता और शुद्धता।

चक्षुदान भी मैंने बहुविधि किया है। चतुष्पदों, पक्षियों और पानी में रहने वाले जन्तुओं के लिए अन्त तक मैंने अनेक प्रकार से उन पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दया करने का अनुशासन दिया है। इसी प्रकार अनेक कल्याण-कार्य मैंने किये हैं।

इसी कारण यह धर्मलिपि लिखी गई कि लोग अनुसरण करें और यह चिरजीवी हो। जो इस धर्मानुशासन पर आचरण करेगा वह सुकृत करेगा या सुखी रहेगा।'' इस लेख से प्रकट है कि सम्राट् का धर्म किसी देवी-देवता से सम्बन्धित न था, अपितु वह मानव-चरित्र के संपर्कित था। उनकी दृष्टि में जिससे सर्वकल्याण हो, सबका मङ्गल हो, वही धर्म साधु अथवा अच्छा धर्म है। सम्राट् की व्यंजन-शैली का हम अभिनन्दन करते हैं, उनकी अर्थवत्ता किसी महाकवि से कम सराहनीय नहीं है। उनकी अभिव्यक्ति की परिमितता सर्वोपरि एवं प्रशंस्य है। धर्म के लिए ''साधु'' शब्द का प्रयोग कर उन्होंने इस छोटे से शब्द में सर्वागत भाव का समावेश किया है। इस शब्द के माध्यम से कोई भी विद्वान् उनके धर्म का लक्षण भली प्रकार विदित कर सकता है। साधु कौन है ? सुनिए—

''सद्भावे साधु भावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥''

अतः साधु शब्द से अशोक के धर्म का लक्षण सुव्यक्त होता है। सत्यता या 'सत्य' ही अशोक का धर्म था। वे ही लोग सम्राट् की दृष्टि में धर्मी अथवा साधु थे जो सत्यवक्ता, सत्य प्रेमी और सत्य मार्गी हों। फलतः सम्राट् के धर्म का प्रथम लक्षण ''साधुता'' और द्वितीय लक्षण ''संयम'' पाप-कृतों से अपनी रक्षा करना या ''अपासनिव'' है। हमने बार-बार कहा है कि सम्राट् का धर्म सैद्धांतिक है, वे मनुष्य के निज चरित्र पर नियन्त्रण करने को ही बड़ा भारी धर्म-लक्षण मानते हैं। क्योंकि सम्राट् की दृष्टि में जब तक आदमी संयमित और नियन्त्रित न होगा, उसका मन अपने वश में नहीं हो सकता और मन जब तक वश में नहीं है आदमी धार्मिक हो ही नहीं सकता। निर्गुण संत धरानी की उक्ति है ''जौ लौं मनु तनु नहिं पकरै,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तौ लौं कुमति किवार न टूटै, दया नहीं उभरै। काहे को तीरथ बरत, भटकि भ्रम थकि-थकि थहरै। मण्डप महजित मुरति सुरति करि धोखहिं ध्यान धरै।'' अतः संयम (पाप अथवा कुमति से स्वरक्षा) को सम्राट् धर्म का प्रत्यक्ष लक्षण मानते थे, क्योंकि संयम से ही मनुष्य के सुकृतों, दया, दान आदि का विकास सम्भव है। इन भावों के आधार पर यदि कहें कि सम्राट् निर्गुणवादी अथवा निर्गुण संत थे या निर्गुण पंथ के प्रथम अथवा आद्य आचार्य या तत्ववेत्ता थे तो असत्य न होगा। सम्राट् के शिलालेखों का अध्ययन करने से मालूम होगा कि कहीं भी उन्होंने सगुण ब्रह्म का प्रचार नहीं किया है, किन्तु प्रत्येक स्थल पर भावों और सिद्धांतों की उपासना को ही सर्वोच्च एवं धर्म का रूप माना है। शिलालेखों में कहीं भी बुद्ध की मूर्ति अथवा उनकी उपासना का उल्लेख नहीं मिलता और यदि सारनाथ, साँची, भावरु अथवा कौसाम्बी में संघ या बुद्ध का उल्लेख है, तो वह भी सिद्धांत रूप में किया गया है। भावरु-लेख से सुव्यक्त है कि सम्राट् बुद्ध को मानते हैं, क्योंकि वह कहते हैं, ''जो कुछ भी भद्रगण, भगवान् बुद्ध से भाषित हुआ वह सब भली प्रकार अथवा सुन्दरता से भाषित हुआ।'' अतः सिद्धांत प्रचारक या विशाल भावों के रूप में ही वे बुद्ध के उपासक या भक्त हैं। बुद्ध की मूर्ति और उसकी उपासना से सर्वोपरि बुद्ध के सिद्धांत एवं सुभाषित भाव हैं। सुन्दर, सर्वमांगलिक एवं कल्याणमयी भावनाओं में ही सम्राट् भगवान् बुद्ध, ब्रह्म और धर्म की मूर्ति का साक्षात्कार करते हैं। उनके धर्म और भगवान् की उपासना बहुतेरे सगुण उपासकों की भाँति बाह्य आडम्बरों में नहीं है, अपितु उनका धर्म निर्गुण सन्त कबीर के शब्दों में चरितार्थ होता है—''मूड़ मुड़ाए हरि मिलैं, सब कोई लेइ मुड़ाय। बार-बार के मूँड़ते भेड़ न वैकुण्ठ जाय॥ केसन कहा बिगाड़िया जो मूँड़ौ सौ बार। मन को क्यों नहिं मूँड़िये, जामें भरे विकार॥'' निःसन्देह ब्रह्म अथवा धर्म को पाने का मार्ग इंद्रिय अथवा मन की विजय है, बाह्य आडंबर नहीं। महावंश से विदित है कि सम्राट् ने बाह्य आडंबर से पूर्ण मिथ्यावादी भिक्षुओं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को जिनकी संख्या साठ हजार (६०,०००) थी, संघ से निकाल बाहर किया था। फलतः सम्राट् का धर्म से तात्पर्य, साधुता, संयम (मन-निग्रह), सुकृत, दया, दान, सत्यता, शुद्धता एवं विनम्रता है।

धर्म के कुछ अन्य सिद्धांत ब्रह्मगिरी गौण-शिलालेख द्वितीय में भी दिये गये हैं। यह लेख इस प्रकार है—देवताओं का प्रिय इस प्रकार कहता है—"माता-पिता की उचित सेवा और सर्वप्राणियों के प्रति आदर भाव तथा सत्यता (सत्य कहना) गुरुतर सिद्धांत हैं। इन धर्म-गुणों की वृद्धि होनी चाहिए। इसी भाँति शिष्यों को गुरुओं का उचित आदर करना तथा सम्बन्धियों से उचित व्यवहार उत्तम है। यह पुराणों का आचार सिद्धांत है, इससे दीर्घ आयु होती है।" इस लेख के अनुरूप माता-पिता, गुरु की सुश्रूषा, संबंधियों तथा प्राणीमात्र से उचित व्यवहार और सत्यता धर्म के अपेक्षित सिद्धांत या लक्षण हैं।

ग्यारहवें शिलालेख में धर्म के निम्न लक्षण दिये गये हैं—"दास और भृत्यों, वेतनभोगी नौकरों से उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्रों परिचितों, सम्बन्धियों, ब्राह्मण और श्रमण, साधुओं के प्रति उदारता और प्राणियों में संमय, होम के लिए उनकी बलि न देना। पिता, पुत्र, भाई, बहिन, स्वामी, मित्र, साथी और पड़ोसी तक को एक दूसरे से यह कहना चाहिए कि यह स्तुत्य है, इसे धर्म मानना चाहिए।"

फलतः ब्राह्मण, श्रमण तथा अन्य सम्प्रदायों का आदर, मित्र, परिचित, सहायक, कुटुम्बी, दास तथा नौकरों से उचित व्यवहार, अहिंसा तथा माता-पिता की सेवा आदि भी धर्म के लक्षण हैं। इन वृत्तों के आधार पर संक्षेप में सम्राट् का धर्म था—"सर्व भूतानां अछतिं च, संयम च, समकेरां च, मादव च—गुरुमतो देवानां।" अर्थात् सर्वप्राणियों का कल्याण, संयम, समचर्या (सबसे समान आचरण), मंगल (हर्ष) ही देवताओं के प्रिय का गुरुतम अथवा श्रेष्ठ धर्म है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर्म के इन सिद्धान्तों अथवा लक्षणों से सुव्यक्त है कि स्तम्भ-लेखों एवं शिलालेखों में प्रकाशित धर्म, कोई विशेष साम्प्रदायिक धर्म नहीं है। यह धर्म जात-पाँत एवं साम्प्रदायिकता से सर्वथा भिन्न है। अतः इस धर्म को सैद्धान्तिक धर्म कहना किसी तरह अनुचित नहीं है। यह धर्म भावोन्मुख था। वह किसी धर्म के अथवा सम्प्रदाय या पाखण्ड से सम्पर्कित न था, अपितु वह सामासिक रूप में सब धर्मों का "सार" रूप था। सम्राट् कहते हैं—"पियो मञते यथाकिति सारवढी अस सव पासंडानं" देवताओं के प्रिय चाहते हैं कि सब धर्मों की सारवृद्धि हो (शिलालेख बारहवाँ)। इसी भाव से प्रेरित होकर सम्राट् धर्म के सार का ही प्रचार करने लगे जिससे सर्वमङ्गल उपलब्ध हो सके। इस धर्म के दो रूप हैं—(१) व्यावहारिक और निषेधात्मक। (२) सैद्धान्तिक।

(१) व्यावहारिक धर्म, जिसका पावन सन्देश सम्राट् विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाना चाहते थे, जिसे वे सर्व प्रकार की जलवायु तथा विभिन्न प्रदेशों के अनुकूल बनाना चाहते थे और जिसके चिरंजीवी होने की आकांक्षा किये थे वह आचरण अथवा व्यवहारों की वह संहिता है जो जीवन के प्रत्येक अनुषंग से संपृक्त है। इस आचरण-संहिता में निम्न-धर्म के लक्षणों का समावेश है—

(१) सुश्रूषा—(सेवा)।

(क) मातरि च पितरि च (सुश्रूषा)—शिलालेख—३,४, ६, १२ स्तम्भ-लेख ७वाँ।

(ख) ब्राह्मण-समणानं—(ब्राह्मण और श्रमण की सेवा) शिलालेख तीसरा।

(ग) व्रध्रनसुश्रूष—(वृद्धों की सुश्रूषा) शिलालेख ४, स्तंभ-लेख ७वाँ।

(घ) गुरुसुश्रूष—(गुरुजनों की सेवा) ७वाँ स्तम्भ-लेख और शिलालेख १३वाँ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(६) साधुता—संत-गुण—७वाँ स्तम्भ-लेख ।

(७) अल्प व्यय और अल्प संचय—शिलालेख ३ । (वह धन संग्रह कीजिए जो आगे कूँ होय) आगे = परलोक ।—कबीर

(८) संयम—(मन या इन्द्रिय-निग्रह) ७वाँ शिलालेख ।

(९) भाव-शुद्धि—हृदय की निर्मलता ।

(१०) कृतज्ञता ।

(११) भक्ति—(१३वाँ शिलालेख) ।

(१२) धर्म-रति—धर्म में रत रहना (१३वाँ शिलालेख) ।

(१३) अक्षति, संयमं, समचेरा मादवं—(ये गुण सर्वजीवों के प्रति कहे गये हैं—पशु और मनुष्य, पक्षी, जलनिवासिन आदि—(१३वाँ शिलालेख) ।

इन्हीं सबका सामूहिक रूप से संकलन कर सम्राट् की धर्म-संहिता का निर्माण हुआ । इसी संहिता के पुनीत सन्देशों का सम्राट् विश्व-कल्याण के लिए सारे भूतल पर बिखेर देना चाहते थे । कितने सरल, कितने सत्य और मनोरम ये सिद्धान्त थे—यह शब्दों में नहीं कहा जा सकता । उनका व्यावहारिक धर्म, जिसका सम्राट् ने सर्वत्र प्रचार किया, उस समय के किसी प्रचलित सम्प्रदाय से सम्बन्धित न था । यही कारण है कि प्रथम देखने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सम्राट् का यह धर्म बौद्ध-धर्म न था । "हम सम्राट् के द्वारा बौद्ध-धर्म के उच्च आध्यात्मिक भावों एवं सारभूत सिद्धांतों और नियोगों का कोई उल्लेख नहीं कर पाते । चार महान् सत्य, अष्ट पथ, बुद्ध की अद्वितीयता के बारे में हम कुछ नहीं सुनते हैं, और निर्वाण के भाव का सर्वथा अभाव है, आदि ।"[१] परन्तु उनके धर्म के सिद्धान्त अथवा नियोग करुणा और सर्वलौकिक कल्याण की भावना से ओत-प्रोत

---

[१] Cambridge History, p. 505.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं। उनमें सार्वलौकिकता है, व्यापकता है, विश्व-माङ्गल्य और सर्व प्राणियों की अक्षति है एवम् माधुर्य के रस से सिंचित हैं। निःसन्देह धर्म के ये गुण (लक्षण) माङ्गलिक एवम् विश्व-कल्याण-पथ के मृदुल कुसुम थे। इन गुणों अथवा सिद्धांतों की ललित मंजुलता सम्राट् के अनवरत दुहराने से सुव्यक्त है। सम्राट् स्वयं कहते हैं—"बहु च लिखिते लेखापेशामि चेव निक्यम् अथि चाहेता पुनं पुन, लपि ते, तप तषा, अथषा मधुलियामे।" (चतुर्दश शिला-लेख) अर्थात्—"बहुत कुछ लिखा जा चुका और निरंतर लिखता रहूँगा। बहुत-सी बातें बार-बार भी (पुनः-पुनः) लिखी गयी हैं। कारण? उन शब्दों को सुन्दरता अथवा अर्थ की मधुरता है।

स्पष्ट है कि सम्राट् को पूर्ण रूप से पुनरुक्ति का विचार था, किन्तु फूलों से कुसुमित शब्दों की सुन्दरता और मनोज्ञ अर्थ की सुस्वादुता के कारण ही उन्होंने पुनरुक्ति की। इस पुनरुक्ति का कारण सम्राट् के शब्दों में सुव्यक्त है। वे कहते हैं—"येन जने तथा पटिपजेया" अर्थात् "जिससे लोग इसी प्रकार (धर्म से गुणों के साथ) आचरण करें।"

सम्राट् धर्म के इन लक्षणों को समाज में प्रचलित अन्य रीतियों से सर्वोपरि समझते हैं। वे इन धर्माचरणों एवं सामाजिक धर्म-मङ्गलों का सामंजस्य करते हुए कहते हैं—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, लोग बहुत-सा मङ्गल किया करते हैं। बीमारी, लड़के-लड़कियों के विवाह, पुत्र-जन्म, परदेश जाते (समय) आदि अवसरों तथा ऐसे ही दूसरे अवसरों पर लोग बहुत प्रकार के मङ्गल मनाया करते हैं। ऐसे अवसरों पर बच्चे वाली स्त्रियाँ (माताएँ) और पत्नियाँ कई तरह के छोटे और सारहीन मंगल (कार्य) किया करती हैं। मङ्गल कार्य अवश्य करने चाहिए, किन्तु ये मंगल बहुत कम फलदायक हैं। किन्तु जो धर्म-मङ्गल हैं, वे निश्चय अति फलदायक हैं। इस धर्म-मङ्गल में निम्न बातें हैं—दास और वेतन वाले नौकरों से उचित व्यवहार, गुरुजनों का आदर, प्राणियों का संयम (हिंसा न करना), श्रमणों और ब्राह्मणों को दान देना। ये और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ऐसे ही मङ्गल धर्म-मङ्गल कहलाते हैं। अतः पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र और परिचित तथा पड़ोसी भी यह कहे (उपदेश करे) कि यह धर्म-मङ्गल स्तुत्य है, जब तक अर्थ (उद्देश्य) की पूर्ति न हो, तब तक यह धर्म-मङ्गल करना उत्तम है। क्योंकि धर्म-मङ्गल के अलावा जितने और मङ्गल हैं, वे सब सन्देहात्मक हैं। उनसे अर्थ की सिद्धि हो सके और न भी हो सके तथा उनका फल इहलोक के लिए ही है, किन्तु धर्म-मङ्गल समय से आबद्ध नहीं है। यदि किसी को इस लोक में अर्थ-सिद्धि न हो, किन्तु परलोक में इससे अनन्त सुख की प्राप्ति होती है और यदि कोई अपने उद्देश्य को यहाँ प्राप्त कर गया, तो दोनों फल (सुख) इससे पाये गये। इहलोक में अपने अर्थ की सिद्धि हुई और इस धर्म-मङ्गल से परलोक में भी अनन्त फल की प्राप्ति हुई।"......(९वाँ शिलालेख—कालसी)। प्रकट है कि सम्राट् अनेक सामाजिक कृत्रिम मङ्गलों से ऊपर धर्म-मङ्गल को रखते हैं। उनके समय में बहुत से ऐसे मङ्गल मनाये जाते थे जो कृत्रिम तथा मिथ्या थे। अर्थात् लोग मिथ्या धर्म में पड़कर यक्ष, किन्नर, भूत, प्रेत, अश्व, कुत्ता आदि की पूजा किया करते थे। इन मिथ्या धर्मों अथवा मङ्गलों के कारण लोग स्वार्थनिष्ट होकर, विश्व-बंधुत्व की भावना से दूर हट गये थे। लोगों में आत्म-भाव जाग उठा था और वे अपने से अन्य का कुछ भी विचार न रखते थे। यदि रखते होते तो सम्राट् को दास, नौकर, मित्र, परिचित, सम्बन्धी आदि से उचित व्यवहार करने का उपदेश न करना पड़ता और न इन लक्षणों को वे धर्म-मङ्गल का लक्षण व्यक्त करते। सम्राट् चाहते थे कि मनुष्यों में से आत्म-भाव (स्वार्थ-भाव) नष्ट हो जाय और उनमें सार्वलौकिक[१] कल्याण कामना जाग उठे—इसी को वे धर्म समझते थे और इसी को निर्वाण भी। सम्राट् का यह भाव संत कबीर

---

[१] "जेते औरति मरदां कहिए सबमें रूप तुम्हारा"—कबीर का यह पद सम्राट् के भाव का पूर्ण प्रकाशन करता है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

की इस उक्ति में चरितार्थ होता है "आपा पर सब एक समान, तब हम गाया पद निरवान"—अर्थात् "जब मैंने यह मालूम किया कि मैं और अन्य लोग सब एक ही हैं, तब निश्चय मैंने निर्वाण पद पाया।" निःसन्देह सम्राट् एकरूपता तथा सार्वलौकिकता के अनन्य उपासक थे। वे पशु, पक्षी, जल-निवासिन और मनुष्यों एवं जीवमात्र में समानता तथा समचेरां अर्थात् समान आचार-व्यवहार के इच्छुक थे। कबीर के शब्दों में सम्राट् का सिद्धान्त, "गिरह उजाड़ एकसम लेखौं, भाव मिटावौ दूजा" था। यही कारण है कि सम्राट् सर्व-कल्याणमय धर्म-मंगल को अन्य मिथ्या एवं स्वार्थ-परायण सामाजिक मंगलों से सर्वोपरि बतलाते हैं।

इसी प्रकार ११वें शिलालेख में साधारण दान से बढ़कर सम्राट् धर्म-दान (अर्थात् दासों और नौकरों से उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, सहायकों, ब्राह्मण और श्रमण साधुओं के प्रति उदारता और अहिंसा) को सर्वोत्तम दान कहते हैं। सम्राट् बार-बार यह व्यक्त करना चाहते हैं कि आचरण की साधुता सर्वोपरि है। किसी को अपने ऐश्वर्य के घमण्ड में आकर दो पैसे देना सम्राट् सुकृत. अथवा दान देना नहीं मानते। स्वार्थवश कुछ देना वे हेय समझते हैं, अतः आचरण का दान ही वे सत्य एवं धर्म-दान समझते हैं। बहुत से धनिक एवं राजकीय[1] लोग अपने ऐश्वर्य के मद में निर्बल, गरीब तथा आश्रित दास और नौकरां पर अपनी असाधुता अथवा दुर्व्यवहार के कारण अनेक भाँति से अत्याचार करते हैं। किन्तु स्वार्थ से प्रेरित होकर वे दान-कर्मादि भी कर लेते हैं। अतः इसी प्रकार के "दानों" पर लक्ष्य करते हुए सम्भवतया सम्राट् उसे कृत्रिम दान कहते हैं और धर्म-दान को उत्तम बतलाते हैं, क्योंकि धर्म का दान सर्व-कल्याण एवं पुण्यों का मूल है। इसी तरह सम्राट् पुनः कहते हैं— "तमेव चा विजयं मनतु ये धर्मं विजये" (कालसी त्रयोदश—शिलालेख)।

[1] "हस्ति देख भ्रम ते भूला, हरि भगवान न जाना"—कबीर ग्रंथावली।

१०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"विजयों में धर्म-विजय ही प्रमुख विजय है।" कलिंग के युद्ध पर पश्चात्ताप करते हुए सम्राट् कहते हैं—इस विजय का परिणाम पैशाचिक दुर्घटना थी। इस युद्ध में निष्पाप रुधिर बहा और कई धार्मिक व निरपराध मनुष्यों का मरण हुआ। इस युद्ध के कारण कोई भी सुखी न रह पा सका।

धर्म-विजय के प्रति हर्षित हो सम्राट् कहते हैं कि यह धर्म-विजय कल्याण देनेवाली है और पुनः गौरवता के साथ वे आगे कहते हैं—"देवानां-प्रियस ये ध्रमविजये, से च पुन लधे देवानां प्रियस इह च सव्रेषु च अंतेषे अषषु पि योजनशतेषु यत्र अन्तियोगे नम योनरज परंच तेन अंति-योकेन"...आदि आदि। "देवताओं के प्रिय को धर्म-विजय यहाँ (अपने विजित राज्य में) तथा सभी सीमान्त प्रदेशों में छः सौ योजन तक जहाँ अंतियोकस नाम का यवन राजा तथा अन्य चार राजा—तुरमय, अंतिकिन, मग तथा अलिकसुन्दर के राज्य हैं तथा नीचे दक्षिण में चोड़, पांड्य और ताम्रपर्णी के राज्यों में उपलब्ध हुई हैं।" अतः यही धर्म-विजय की महत्ता अथवा गुरुता है। धर्म की मंगलमयी स्वस्ति-पताका स्नेह द्वारा सरलता से विजय प्राप्त कर सकती है। यही विश्व-कल्याणकारी धर्म अशोक का धर्म था और इसी को सर्वव्यापी बनाने का उन्होंने निरंतर प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न को शिलालेखों में धर्म-पराक्रम कहा गया है। धर्म के उपरोक्त लक्षण, प्रत्यक्ष अथवा धर्म का व्यावहारिक रूप है। अब हम उनके धर्म का निषेधात्मक रूप का अध्ययन करेंगे। निषेधात्मक पक्ष अथवा रूप से तात्पर्य उन लक्षणों अथवा कार्यों के परित्याग एवं निषेध से है, जो मनुष्य को पाप कार्य में ढकेल ले जाते हैं। अतः धर्म के लिए उन विषयों या कार्यों का निषेध किया जाना परम आवश्यक है।

धर्म का निषेधात्मक रूप—धर्म का उत्कर्ष मनुष्य में तभी सम्भव है, जब वह पूर्ण रूप से सात्विक हो सके। उसकी प्रवृत्ति पाप-कर्मों की ओर न मुड़कर अनवरत रूप से धर्म एवं सुकृतों के प्रति बनी रहे। मनुष्य धार्मिक अनुशासनों का अनुसरण करते हुए भी पाप में फँस सकता है, अतः

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर्म के लक्षणों के साथ सम्राट् "अपासनीव" को भी उसी प्रकार प्रमुख धर्म मानते हैं। अपासनीव से तात्पर्य "आसीनव" का निषेध करने से है। इस "आसीनव" के प्रति तृतीय स्तम्भ-लेख निम्न उल्लेख देता है— "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, मनुष्य अपने सुन्दर कार्यों को ही देखता है और उन सुकृतों को देख कर सोचता है कि 'यह सुकृत मैंने किया है।' किन्तु वह कभी भी (किसी भी दशा में) अपने पापों (दूषित कार्यों) पर यह विचार करते हुए दृष्टि नहीं डालता कि 'यह आसीनव (पाप) मैंने किया है।' यह भली प्रकार मालूम करना है भी कठिन। उग्रता, क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या ये सब आसीनवगामिनी हैं, अथवा इनसे आदमी पाप कर बैठता है। इसलिए मुझे इन आसीनवगामिनी अथवा पापों द्वारा अपनी अपकृति या विनाश न करना चाहिए। इनका भली प्रकार विचार रखना चाहिए कि यह मेरे इस लोक के हित के लिए तथा परलोक के सुख के लिए हैं।"

अतः स्पष्ट है कि "धर्म" का अर्थ केवल धर्म के नियोगों अथवा उपदेशों का अनुसरण करना नहीं अपितु आसीनव (पाप) से अपनी रक्षा करना भी आवश्यक है। सम्राट् की विशेषता एवं उनके मस्तिष्क की प्रगल्भता, मानव चरित्र-चित्रण के पूर्ण विश्लेषणकर्त्ता होने में है। सम्राट् मानव-मनोविज्ञान के एक महान् आचार्य थे। सम्राट् यह भली प्रकार जानते थे कि मनुष्य का अहंकार उसे अपने सुकृतों पर अभिमान करने को प्रेरित करता है, किन्तु अपने दुर्गुणों पर वह कभी फूटी आँख से भी दृष्टि नहीं डालता। संसार में ऐसे असत्य धर्मी व अहंकारियों की कमी नहीं है। आज भी नित्य की तरह ऐसे असत्य धर्मी अथवा नीच अहंकारी मनुष्यों की एक बहुत बड़ी संख्या, जो अपने गौरव, घमण्ड, अहंकार के हेतु धर्मी बने हैं, मिल सकती है। फलतः लोग अधिकतर अहंकार में पड़कर अपने धर्म-कर्म में फूले नहीं समाते और इसलिए वे अपने पापों पर थोड़ा भी विचार नहीं करते। अतः सम्राट् का कहना है कि ऐसे लोग अधर्मी हैं, अपने अपकर्ष के हेतु हैं तथा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विनाश के कारण हैं क्योंकि वे आसीनव अर्थात् अहंकार, क्रोध आदि का परित्याग नहीं कर सके हैं। इसी से कबीर भी कहते हैं—"हम जाना तुम मगन हो, रहे प्रेम रस पागि। रंचक पवन के लागते, उठे नाग से जागि ॥" अर्थात् "मैंने समझा तुम प्रेम रस में डूबे हो और परमात्मा में मिले हो, किन्तु इसके विपरीत, मेरी साँस के छूते ही तुम क्रोधित सर्प की नाईं जाग उठे (फूत्कार उठे)" निःसंदेह अहंकारी मनुष्य धर्म-कर्म करता हुआ भी पाप में फँस जाता है, क्योंकि उसके भीतर क्रोध, अहंकार, गर्व, ईर्ष्या आदि पाप अथवा आसीनवगामिनी लक्षण सभी जीवित रहते हैं। फलतः वही मनुष्य सच्चा धर्म का अनुगामिन् अथवा धार्मिक है जो धर्म पर आचरण करते हुए अहंकार, क्रोध आदि आसीनवगामिनी अवगुणों से दूर हट गया है। दयाबाई के शब्दों में सम्राट् का तात्पर्य है—"कोटि जज्ञ व्रत नेम तिथि, साधु संग में होय। विषय व्याधि सब मिटत हैं, सान्ति रूप सुख जोय ॥" अर्थात् "साधु के संग में होने से अथवा साधु गुणों (अहंकार, दर्प, क्रोध, ईर्ष्या इनसे परे दया, दान, धर्म, सत्यता, प्रेम आदि साधु गुण हैं) के होने से बढ़ कर अन्य कुछ नहीं है। लाखों यज्ञ, व्रत, नेम करने से बढ़कर साधु अथवा साधु-गुण हैं। इस साधुता के कारण सब विषय (अहंकार, क्रोध, दर्प, ईर्ष्या आदि) और व्याधियाँ शान्त होती हैं तथा सच्ची प्रसन्नता का भी यही कारण है।" दादू भी कहता है—"काया करम लगाय करि तीरथ धोवे जाइ। तीरथ माँहैं कीजिए, सो कैसे करि जाइ ॥" अर्थात् "अपने विषय-वासना अथवा शरीर से किये पापकृतों को धोने के लिए तुम, तीर्थों में जाते हो। किन्तु तीर्थ-स्थानों पर जाकर जो दुष्कर्म तुम करते हो, उससे फिर तुम कैसे छुटकारा पाओगे ?" अतः सम्राट् का संक्षेप में तात्पर्य यही है कि मनुष्य—अहङ्कार, क्रोध, क्रूरता, उग्रता और ईर्ष्या आदि आसीनवगामिन दुर्गुणों से प्रथमतः छुटकारा पाकर ही धर्मगामिन् हो सकता है और उसके धर्म-कर्म आदि भी तभी सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। यही सम्राट् का सम्पूर्ण विश्व के लिए संदेश था और इसे ही वे सर्व-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कल्याण एवं मङ्गल का मूल समझते थे। इसी कल्याण-संदेश का सर्वत्र प्रचार करने में उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को अर्पण कर दिया था। सम्राट् का यह धर्म धर्म का सार था, जो सर्वकल्याण का सत्यमूल है। उस धर्म में न तो बौद्ध-धर्म का पक्षपात था और न वह राजधर्म के ही संपर्किन था। वह तो अखिल, शाश्वत और सार्वभौमिक धर्म था। यह धर्म सर्व-मङ्गल का बीजमन्त्र और पूर्ण ब्रह्म का वह रूप था, जो सबके लिए अङ्गीकृत हो सकता है। प्रथम स्तंभ-लेख में अशोक कहते हैं—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, 'अभिषिक्त होने के २६वें वर्ष मैंने यह धर्मलिपि लिखवाई। बिना धर्म-कामना, परीक्षा, सेवा, पाप का भय तथा परम उत्साह के इहलोक तथा परलोक में सुख-प्राप्ति दुस्साध्य है।' उपरोक्त लेख में दिये गये लक्षणों में से "परीक्षा" सबसे प्रमुख मानी गई है। भावरु शिलालेख में उल्लेखित राहुलोवाद में "परीक्षा" पर यथेष्ट जोर दिया गया है। "परीक्षा" का अर्थ है "साधना" (साधो एक आप जग माँहीं) अर्थात् चरित्र-बल। राहुलोवाद में भगवान् गौतम ने "राहुल" को उपदेश करते हुए कहा है कि मनुष्य को अपनी काया से सम्बन्धित कर्मों अर्थात् मन, वचन और वाणी से जो कर्म किये जायँ, उनकी भली प्रकार जाँच अथवा परीक्षा करनी चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को यह देखना और समझना चाहिए कि उसके अन्तःकरण की जो पाशविक, आसुरी अथवा अहङ्कार, क्रोध आदि वृत्तियाँ हैं, वे किस अवस्था में हैं, यदि वे जीवित हैं तो उनकी परीक्षा कर अर्थात् विचार करके उनको विनष्ट करने का उपक्रम करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य तभी मनुष्य हो सकता है, जब परीक्षा-पूर्वक वह आसीनव (अहङ्कार, क्रोध, ईर्ष्या, क्रूरता) का नाश कर सके। इसी पर कबीर की उक्ति है, "जीवन तैं मरिबो भलो जो मरि जाणे कोय। मरने पहली जे मरे तो कलि अजरावर होय।" अर्थात् "जीव काया में रहते हुए भी वह मनुष्य जीवन-मुक्त है। वह साधारण मनुष्य की भाँति नहीं जीता, जिसने अहङ्कार का नाश कर दिया है, जो सब विकारों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का कारण है। इसलिए वह ही सत्य रूप में जीवित है जो प्राकृतिक मृत्यु से प्रथम ही मर जाता है, वह अमर होता है।" अर्थात् आसीनव पाप आदि से रहित होने पर मनुष्य का जीवन जीवन है अन्यथा वह कुछ भी नहीं। इसी से सम्राट् ने मानव जीवन को यथार्थ रूप देने तथा अमर बनाने के लिए मनुष्यों को तृतीय स्तंभ-लेख में आदेश किया है कि वे अपने बुरे कर्मों पर ध्यान रखें और इस प्रकार हमेशा आसीनव (पापों), उग्रता, क्रोध, ईर्ष्या, अहङ्कार आदि से सर्व प्रकार से अपनी रक्षा करें, जिससे वे धर्म से च्युत होकर पाप के अंध-कूप में गिरने से अपने को रोक सकें। सम्राट् ने इस प्रकार क्यों आदेश किया? इसलिए कि मनुष्य अपनी प्रशंसा और स्वाभाविक ओछेपन में आकर अपने धर्म-कार्यों की तो खूब प्रशंसा करता है, किन्तु वह पाप कृत्यों से अपनी आँखें मूँद लेता है। अतः सम्राट् इन मानवी दुर्बलताओं एवं पापों—अहङ्कार, उग्रता, क्रूरता, ईर्ष्या आदि से बचने की बारम्बार याद दिलाते हैं। सम्राट् की "परीक्षा" शब्द से संक्षेप में अभिप्राय आत्मा के निर्देश पर कार्य करने से है, क्योंकि संसार में जितने व्यभिचार, अत्याचार और दुष्कर्म हुए हैं और होते हैं सब आत्मा के विरुद्ध आचरण करने के कारण ही हुआ करते हैं। यदि परीक्षा के समय आत्मा के निर्देश पर ही यह संसार चलता तो अमानुषिक कृत्यों के क्षय होने में कोई संदेह न रह जाता।

सम्राट् का धर्म-भाव—सैद्धान्तिक धर्म—सम्राट् के धर्म के ये सिद्धान्त सब धर्मों—सम्प्रदायों से ऊपर थे। हम बराबर कह चुके हैं कि उनका धर्म विश्व-धर्म था। वह किसी धर्म की अपनी वस्तु नहीं कही जा सकती। उस पर सब धर्मों का समान रूप से अधिकार था। यह धर्म सबको ग्रहणीय था तथा सर्व-धर्मों में यह धर्म प्रच्छन्न रूप से विद्यमान था। इसी कारण १३वें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "कोई जनपद ऐसा नहीं है जहाँ किसी न किसी धर्म में लोगों की प्रीति न हो।" तथा कलिंग के रहने वालों पर लक्ष्य करते हुए सम्राट् पुनः कहते हैं, "वहाँ ब्राह्मण और श्रमण तथा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्य साम्प्रदायिक लोग अथवा गृहस्थी रहते हैं, जिनमें निम्न गुण पाये जाते हैं, वृद्धों, माता-पिता और गुरुजनों की सेवा, मित्र, सहायक, साथी, संबंधी, नौकर और भृत्यों से उचित व्यवहार और उनके प्रति भक्ति की दृढ़ता।" ये ही कारण हैं कि सम्राट् परस्पर मेल-जोल बढ़ाने को कहते हैं और किसी धर्म की निन्दा अथवा अपकार न करने को ही प्रमुख धर्म मानते हैं।

सातवें शिलालेख में सम्राट् ने कहा है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सर्वत्र ही सर्व धर्म वाले बसें।" क्योंकि "सव्रे हि ते समय भावशुद्धि च इच्छन्ति"—"सभी संयम और भावशुद्धि के अभिलाषी हैं।" सम्राट् आगे कहते हैं—"मनुष्य कई ऊँच-नीच विचार के होते हैं, कोई धर्म का पूरी तरह पालन करता है और कोई आधा ही, किन्तु जिनमें संयम और भावशुद्धि नहीं वे नीच हैं।" (७वाँ शिलालेख) इस वृत्त से सम्राट् का धर्म-भाव पूरी तरह प्रकाशित हो जाता है। संयम और शुद्धिभाव को ही वे मुख्य धर्म समझते हैं। इसीलिए "संयम और भावशुद्धि" से रहित लोगों को उन्होंने नीच कहा है। संयम अर्थात् मर्यादा। सम्राट् मर्यादित जीवन को ही मानव-जीवन मानते हैं। संयम का अर्थ है कि आसीनव-गामिन विषयों से अपनी रक्षा करना, यह धर्म को निषेधात्मक अथवा अकरण रूप से संपृक्त है। इस संयम से तात्पर्य हिंसा (प्राणिमात्र की हिंसा), अक्षति, इन्द्रिय-लोलुपता, कामचारिता, आसुरी पाशविकता, क्रोध, अहंकार, उग्रता एवं क्रूरता और ईर्ष्या से अलग रहना है। इसी प्रकार भावशुद्धि का तात्पर्य हृदय की निर्मलता एवं स्वच्छता से है। किसी प्रकार का विकार अपने हृदय अथवा मन में उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। क्योंकि विकार उत्पन्न होने से मन में दूसरों की निन्दा और अन्य अपकार करने वाले भाव जागृत हो उठते हैं, जिस हेतु सर्व-कल्याण होना असम्भव हो जाता है। अतः सर्व मङ्गलाभिलाषी तथा सर्व-सम्प्रदायों की अभिवृद्धि एवं सार-वृद्धि चाहने वाले अशोक ने संयम—वाणी की निर्मलता और भावशुद्धि—पर जोर दिया है। १२वें शिलालेख में आदेश दिया गया है

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि "अपने धर्म का आदर और दूसरों के धर्म की निन्दा अथवा निरादर न करो।" इसके लिए सम्राट् वाक्-संयम पर जोर देते हैं, अर्थात् मनुष्यों को अपनी जिह्वा पर नियन्त्रण रखना चाहिए, जिससे लोग एक दूसरे का तिरस्कार कर परस्पर विरोध और वैमनस्य का वीज न बोयें। सम्राट् अहंभावी तथा धर्मोन्मत्त यूरोपियन और मुसलमानों की भाँति एकांगी, अर्थात् अपने धर्म को सर्वोच्च कहने और दूसरों के धर्म को नाटकीय एवं अधर्म कहने के पक्ष में न थे, किन्तु वे नित्य यही कामना करते थे कि सब लोगों, प्राणियों और सम्प्रदायों की अभिवृद्धि एवं कल्याण हो। इसी प्रयोजन से सम्राट् ने "धर्म-महामात्र" आदि धर्म के कर्मचारियों की नियुक्ति की थी। ये धर्म-महामात्र बिना किसी भेद-भाव के सभी लोगों और सम्प्रदायों के लिए नियत थे। धर्म-महामात्रों का प्रमुख कार्य था कि वे विभिन्न सम्प्रदायों में परस्पर मेल-जोल बढ़ावें, धर्म का प्रचार करें, वृद्धों, असहायों आदि की दान आदि से सेवा करें एवं किसी में विरोध न पैदा होने दें।[1] इस संदर्भ से जान पड़ता है कि शायद उस समय विभिन्न सम्प्रदाय आपस में लड़ा करते थे, नहीं तो सम्राट् को परस्पर मेल करने का अनुशासन क्यों करना पड़ता? संक्षेपतः श्री भण्डारकर के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "साम्प्रदायिक धर्म से अलग प्रच्छन्न धर्म अथवा धर्म के सार का प्रचार करने में ही सम्राट् की मौलिकता थी, क्योंकि यह धर्म सब सम्प्रदायों के सिद्धांतानुसार एवं सर्वमान्य था।"

अशोक के धर्म पर विद्वानों की सम्मति—सम्राट् अशोक के धर्म के प्रति विद्वानों की विभिन्न सम्मतियाँ हैं। जेम्स फ़्लीट अशोक के इस धर्म को मानव-राजधर्म कहते हैं।[3]

श्री वि० स्मिथ लिखते हैं—"शिलालेखों का यह धर्म कुछ भेद के साथ हिन्दू धर्म ही है। केवल उसमें बौद्ध-धर्म की झलक दिखलाई पड़ती है।"

[1] ७वाँ स्तम्भ-लेख—५वाँ शिलालेख।

[2] भण्डारकर—अशोक, पृष्ठ ११६।

[3] J. R. A. S.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्री सेनार्ट कहते हैं, "अशोक के समय तक बौद्ध-धर्म केवल आचार के सिद्धांतों का एक समूह था। वह बौद्ध-धर्म के विशेष तथा निगूढ़ तत्वों पर बहुत कम ध्यान देता था।"

सेनार्ट के इस पक्ष के विरोध में राईज़ डेविड्स लिखते हैं—"बुद्ध के महानिर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् सङ्घ-भेद होना प्रारम्भ हो गया था, जिसको मिटाने का सम्राट् ने भी प्रयत्न किया। इस समय वे भिक्षु-धर्म के वाह्य विषयों पर अधिक ध्यान देने लगे थे।[१] अतः धर्म के निगूढ़ तत्वों एवं विशेष नियमों पर आक्षेप लगाना अन्यायपूर्ण है। इस धर्म के विशेष तत्वों के हेतु ही बौद्ध-धर्म की तीसरी महासभा की गयी थी।"

अब हम प्रमुख विषय पर आते हैं। उपरोक्त सभी विद्वानों ने सम्राट् की सार्वलौकिकता एवम् व्यापकता को न समझ कर ही ऐसी भूल की है। हमने बार-बार कई स्थलों पर कहा है कि सम्राट् सांप्रदायिकता की बीमारी से अछूते थे तथा उनका धर्म सार्वमांगलिक एवम् "सर्वभूतानां" के सिद्धांत पर प्रतिष्ठित था। यही कारण है कि बौद्ध-धर्म का नाम लिए बिना सम्राट् ने उन्हीं बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करना अभीष्ट समझा, जिन्हें वे सर्वव्यापक, सर्वकल्याणकारी, सर्वग्रहणीय एवम् सर्वधर्मों का सार समझते थे।

यथार्थ में बौद्ध-धर्म के दो पक्ष अथवा रूप हैं। अर्थात् इसमें दो प्रकार से धर्म का विधान किया गया है—एक रूप भिक्षु तथा भिक्षुणियों से संबंध रखता है और दूसरा गृहस्थियों से।

गृहस्थियों से संपृक्त जो धर्म है, उसका विधान सिगालोवाद-सुत्त में किया गया है। यह सुत्त गृहस्थियों के लिए ही बनाया गया था। इस सुत्त के संबंध में एक कहानी है, "किसी समय बुद्ध भगवान् राजगृह के पास एक जंगल में रहा करते थे। एक दिन भिक्षा के लिए जाते हुए मार्ग में उन्होंने

---

[१] Rhys David's Buddhism, p. 190

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिगालो को देखा। यह सिगालो आकाश और पाताल की विभिन्न दिशाओं को नमस्कार कर रहा था। बुद्ध उसके पास पहुँचे और उससे पूछा कि वह क्यों ऐसा कर रहा था? बुद्ध भगवान् के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उसने कहा कि उसके पिता का आदेश ही ऐसा है। इस पर बुद्ध ने कहा—"आकाश-पाताल की दिशाओं को पूजना धर्म नहीं है।" सिगालो ने तब भगवान् से पूछा—"धर्म क्या है?" भगवान् ने उसे इस प्रकार उपदेश दिया—"माता-पिता की सेवा, पास-पड़ोसी की सेवा, गुरु, मित्र, परिचित्त, संवंधी, स्त्री और बच्चों की सेवा और उचित आदर, सेवक (दास), नौकर (भृत्य, वेतनभोगी नौकरों) आदि के प्रति उचित व्यवहार करना ही गृहस्थियों को मुख्य पूजा एवम् धर्म है।"

सिगालो को भगवान् ने जो धर्म का अपदेश दिया है वही शिलालेखों का भी निश्चल विषय है, इसे सभी स्वीकार करेंगे। अतः इस विषय में अव कोई संदेह शेष न रहना चाहिए कि शिलालेखों का धर्म भगवान् गौतम से प्रसूत हुआ धर्म अथवा बौद्ध-धर्म न था। किन्तु हाँ, यदि कोई कहना चाहे तो इतना अवश्य कह सकता है कि शिलालेखों का धर्म गृहस्थ-धर्म था तथा वह साधारण रूप में सर्वमान्य था। पर इस बात को नित्य स्मरण रखना चाहिए कि यह गृहस्थ-धर्म भो भगवान् बुद्ध से हो प्रसूत हुआ था और वह सर्व प्रकार से बौद्ध धर्म ही था। यदि उपरोक्त विद्वान् सिगालोवाद-सुत्त को ध्यान में रखते तो उन्हें अवश्य ही सम्राट् के धर्म पर किसी प्रकार की शंका पैदा नहीं हो सकती थी।

स्वर्ग और परलोक के प्रति सम्राट् के विचार[१]—शिलालेखों में सम्राट् ने 'स्वर्ग' और 'परलोक' का अनेक वार उल्लेख किया है। चतुर्थ

[१]परलोक बहुत से शिलालेखों में आया है—कलिंग शिलालेख १, स्तम्भ-लेख—१, ४, ७ और शिलालेख—६, ९, १०, १३। ११वें शिलालेख से सम्राट् का आत्मा की अमरता पर विश्वास करना सिद्ध होता है (अन्तत्यं पुन्यं प्रसवति)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्तम्भ-लेख में सम्राट् कहते हैं, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, अभिषिक्त होने के २६वें वर्ष मैंने यह धर्म-लिपि लिखवाई। मैंने रज्जुक को कई सौ सहस्र प्राणियों के ऊपर शासन के लिए नियत किया है।......उन्हें इस विषय को समझना होगा कि दुःख और सुख के क्या कारण हैं तथा धर्म की सहायता से वे जनपद के लोगों को इस प्रकार आदेश करें, जिससे उनको इस लोक में सुख मिले और परलोक (स्वर्ग) में भी वे सुखी रहें।" आगे फिर ९वें शिलालेख में धर्म-मङ्गल की प्रशंसा करते हुए कहा है—"परत्र च अनंतं पुणं प्रसवति, तेन ध्रममङ्गलेन (मानसेरा)।" इस धर्म-मंगल से दूसरे लोक में—"स्वगसआलधि"—स्वर्ग की सिद्धि होती है, अथवा अनंत पुण्य उपजता है। इन दो शिलालेखों से ही सुप्रकाशित है कि सम्राट् परलोक अथवा स्वर्ग का अस्तित्व मानते थे। चतुर्थ शिलालेख में सम्राट् कहते हैं—"बहुत काल व्यतीत हुआ, सैकड़ों वर्ष हुए कि होम के लिए पशुओं की बलि, जीवों की हिंसा और श्रमणों, ब्राह्मणों के प्रति बुरा व्यवहार बढ़ता ही गया। किन्तु आज देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण के फलस्वरूप, भेरी नाद (वीर-घोष) धर्म-घोष हुआ तथा लोगों को विमान-दर्शन, हस्तियों के दर्शन, अग्निस्कंध आदि अन्य दिव्य-रूपों के दर्शन कराये गये। जैसा सैकड़ों वर्ष पहले न हुआ था, वैसा अब देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन द्वारा आज जीवों की अहिंसा, पशुओं का मारा न जाना, सम्बन्धियों से उचित व्यवहार, ब्राह्मण, श्रमण, माता-पिता और वृद्ध जनों की सेवा बढ़ रही है। यह तथा धर्म के अन्य आचरण बढ़ गये हैं तथा देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस धर्माचरण को और उन्नत करेंगे।" इस विवरण से व्यक्त होता है कि सम्राट् प्रजा को धर्म पर लाने के लिए उन्हें दिव्य रूपों का दर्शन कराया करते थे—विमान, हस्ति, अग्निस्कंध आदि।

बौद्ध-ग्रंथों के अनुसार जब कोई पुण्यात्मा व्यक्ति मर कर परलोक अथवा स्वर्ग को पहुँचता है, तो वहाँ उसे अपने सुकृतों के अनुरूप स्वर्गीय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपहार मिलते हैं। इन स्वर्गीय उपहारों में से "विमान" पहले दिया गया है। विमान एक स्तम्भ-युक्त प्रासाद (महल) होता था। यह विमान अनन्त सुख को देनेवाला था। ये विमान अथवा प्रासाद चलने-फिरने वाले हुआ करते थे।

दूसरा महान् स्वर्गीय उपहार—पुनीत श्वेत हस्ति था। कहते हैं, श्वेत हस्ति के रूप में ही भगवान् बुद्ध ने अपनी माँ के गर्भ में प्रवेश किया था।

तीसरा उपहार, स्वर्ग की प्राप्ति थी। स्वर्ग में आने पर अपने सुकृतों के कारण उन्हें देव-पद प्राप्त होता था। देवता बनने पर उनकी प्रतिभा का पूर्ण विकास होता था। इस विकास के अनुरूप ही उनके शरीर से प्रभा प्रस्फुटित होती थी। फलतः उनका रूप दिव्य हो जाता था या वे दिव्य-रूप हो जाते थे।

इन उपहारों का ग्रन्थ में उल्लेख करने से क्या अभिप्राय था। बौद्ध-ग्रन्थ स्वर्ग के उपहारों एवं दिव्य-रूपों का उल्लेख कर जनता को यह व्यक्त करना चाहते थे कि पृथ्वीतल पर सुकृत, पुण्यादि कर्म करने से क्या परिणाम होते हैं। पुण्यकर्म एवं सुकृतों का इस भाँति पारलौकिक परिणाम दिखलाने का अर्थ, केवल जनता को धर्म-पथ या धर्म की राह पर लगाना था। स्पष्ट है कि बौद्ध-धर्म में स्वर्ग, सुकृत और परलोक पर पूर्णतया विश्वास किया गया है। इस तरह के विचार गृहस्थियों तथा साधारण उपासकों तक ही सीमित है, क्योंकि भिक्षु तथा भिक्षुणियों के लिए निर्वाणपद पाना ही प्रमुख लक्ष्य कहा गया है। कहते हैं, भगवान् गौतम ने कहा था कि पुण्यात्मा गृहस्थी एवं साधारण उपासक, अपने सुकर्मों के द्वारा परलोक में अथवा किसी एक स्वर्गलोक में, देवता होकर जन्म लेता है।

बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार प्रजा को धर्म की राह पर लाने के लिए ही, उपरोक्त दिव्यरूपों का प्रदर्शन किया जाता था, जिससे प्रजा के हृदय में, इन स्वर्गीय अनन्त सुखदायी उपहारों को पाने की आकांक्षा बलवती हो

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

और वे इस हेतु दृढ़तापूर्वक धर्म पर आचरण करने लगें। इन दिव्यरूपों के प्रदर्शन का भाव, बौद्ध-ग्रन्थों से ही लिया गया है।

Cambridge History, p. 505 लिखती है—यह (अशोक का धर्म) बौद्ध-धर्म न था।

"We hear from him nothing concerning the deeper ideas on fundamental tenets of that faith; there is no mention of the four Grand Truths, the Eight-fold Path, the chain of causation, the supernatural quality of Buddha; the word and the idea of Nirvana fail to occur and the innumerable points of difference which occupied the sects are likewise ignored"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अशोक ने बुद्ध के परम मुख्य सिद्धान्त-निर्वाण का अपने शिलालेखों में कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, किन्तु क्या इसी आधार पर हम उन्हें बौद्ध-धर्मी न कहें? अथवा शिलालेखों में प्रचारित धर्म को बौद्ध-धर्म स्वीकार न करें? यह स्मरण रहे कि सम्राट् स्वयं एक साधारण गृहस्थ और उपासक थे। यही कारण है कि उन्होंने गृहस्थ धर्म, जैसा सिगालोवाद में दिया गया है, का ही सर्वत्र और सर्वस्थलों पर प्रचार किया है। सम्राट् जानते थे कि साधारण लोग "निर्वाण" के निगूढ़ और अमूर्त सिद्धान्त को नहीं समझ सकते, अतः जनता के स्तर के अनुरूप ही उन्होंने साधारण सिद्धान्तों आदि का प्रचार कर धर्म की श्रीवृद्धि की।

संक्षेप में शिलालेखों का धर्म, (गृहस्थ धर्म—सिगालोवाद-सुत्त का धर्म), बौद्ध धर्म की अपनी ही वस्तु है, अतः यह शङ्का निर्मूल है कि शिलालेखों का धर्म हिन्दू धर्म या बौद्ध-धर्म को छोड़, कोई अन्य-धर्म था।

सम्राट् ने जिस धर्म का प्रचार किया उसका स्वयं पालन भी किया—संसार में कितने ही उपदेशक पैदा होते हैं, हुए हैं और होंगे, किन्तु कोई भी उपदेशक, सम्राट् अशोक की बराबरी नहीं कर सकता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दुनिया में कितने ही ऐसे उपदेशक हैं, जो स्वयं तो नरकगामी तथा सम्राट् के शब्दों में आसीनवगामिनी हैं, किन्तु बाहर धर्म का पोथा लिए दूसरों को उपदेश करते फिरते हैं। सम्राट् की महत्ता प्रत्यक्ष आदर्श स्थापित करने में है। सम्राट् ने दूसरों के लिए जिन नियोगों अथवा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, उन पर वे स्वयं भी आचरण करते रहे।

सम्राट् अशोक की विशेषता सक्रिय उपदेशक और कर्मयोगी होने में ही है। सातवें स्तम्भ-लेख में सम्राट् कहते हैं, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, विगत काल के राजाओं ने चाहा कि किस प्रकार लोग (प्रजा) धर्म के साथ उत्कर्ष करें, उनमें धर्म का प्रचार कैसे हो। किन्तु उनकी इच्छा के अनुरूप प्रजा में धर्म का प्रचार नहीं हुआ। इस पर देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है—मुझे विचार आया, विगत-काल में राजाओं ने इस प्रकार सोचा (अभिलाषा की) कैसे प्रजा धर्म के साथ उन्नति करे? किन्तु प्रजा में यथेष्ट रूप से धर्म का प्रचार न हुआ। फिर किस प्रकार प्रजा को पूर्ण रूप से धर्माचरण कराया जाय? किस प्रकार प्रजा की पूर्णता से धर्म के साथ उन्नति की जाय? मैं कैसे उन्हें धर्म के साथ उन्नत बनाऊँ? इस पर विचार कर देवताओं का प्रिय कहता है—मैंने सोचा, मैं धर्मानुशासनों को प्रकाशित कराऊँगा। मैं धर्म का विधान अथवा धर्म की शिक्षा दूँगा, लोग सुनकर अवश्य उन पर आचारण करेंगे, अपने को उन्नत बनायेंगे और धर्म की उन्नति के साथ-साथ अपनी उन्नति करेंगे।"

इस विवरण से स्पष्ट है कि किस प्रकार सम्राट् धार्मिक उपदेशक के रूप में आगे आने की तैयारी कर रहे थे। अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए सम्राट् ने तीन तरह से कार्य करना निश्चित किया। प्रथम धर्मानुशासनों को प्रकाशित कराया, द्वितीय धर्म का विधान किया और तृतीय धर्म की शिक्षा अथवा धर्मानुशासन का प्रचार किया। सम्राट् कहते भी हैं—"इस हेतु मैंने धर्म के संदेशों को प्रकाशित करवाया है, जिससे मेरे पुरुष भी जो बहुत से मनुष्यों पर शासन करने के लिए नियत हैं (वे) इन धर्म-सिद्धांतों का प्रचार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और प्रसार करेंगे। रज्जुकों को भी जो कई सौ सहस्त्र प्राणियों के ऊपर शासन करते हैं, मैंने शिक्षा दी है जो मनुष्य धर्म में रत है उन्हें उत्साहित करो, उपदेश दो।'' इस प्रकार हम सम्राट् को एक सत्यनिष्ठ एवम् परम उत्साहित उपदेशक के रूप में पाते हैं।

क्रियात्मक रूप में सम्राट् ने जिन उपदेशों का विधान प्रजा के लिए किया, उनका पालन वे स्वयं भी करते रहे। सम्राट् हमेशा अपने भाई, वहिन, स्त्री, वच्चे तथा अन्य संवंधियों के प्रति अपने लेखों में जिस प्रकार स्नेह तथा कल्याण के अभिलाषी रहे हैं वह सर्वथा स्पष्ट है। ५वें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, ''धर्म-महामात्र यहाँ (पाटलिपुत्र) तथा बाहरी नगरों में मेरे और भाइयों के अंतःपुर में तथा वहिनों के अंतःपुर में और अन्य संबंधियों (हित) के लिए नियत हैं'' (मानसेरा)।

सम्राट् ने केवल लोगों को दान, धर्म, दया आदि का आदेश न दिया, अपितु स्वयं उन अनुशासनों पर आचरण किया—इसी हेतु सम्राट् ने विहार-यात्रा को धर्म-यात्रा में वदला था। इस धर्म-यात्रा में सम्राट् निम्न विषयों को किया करते थे—''ब्राह्मण, श्रमण का दर्शन और उन्हें दान, वृद्धों का दर्शन और उन्हें सोने का दान आदि।''—आठवाँ शिलालेख शाहबाजगढ़ी।

इसी विषय पर १२वाँ शिलालेख भी देखिए—

''देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब धर्मों या सम्प्रदायों, साधुओं और गृहस्थियों को दान तथा अन्य पूजा से सम्मान करता है (कर रहा है)।'' (गिरनार)।

सम्राट् ने सर्वकल्याण के सिद्धांत का प्रचार किया था। उन्होंने आदेश दिया था, ''सर्वभूतानां अक्षति च, समचेरां च, मादवं च'' और इसका स्वयं भी पूर्णरूप से पालन किया। देखिए, स्तम्भ-लेख दूसरा, ''मैंने अनेक प्रकार से चक्षुदान दिया है और जीवन-पर्यंत के लिए मैंने द्विपद और चतुष्पद जीवों (मनुष्यों और पशुओं), पक्षियों और जल-निवासियों के प्रति यथेष्ट और कई

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार की उदारता और अनुग्रह किये हैं।" इसी तरह ७वें स्तम्भ-लेख से प्रकट है कि सम्राट् ने जो कुछ दूसरों से करने को कहा उसे स्वयं भी किया। बहुत कम लोग ऐसे मिलेंगे जो जिस बात को कहते हैं, उसका पालन स्वयं भी करते हों। सम्राट् अशोक ने लोगों को जीवमात्र की सेवा करने का उपदेश दिया और अपने उदाहरण से लोगों को प्रोत्साहित भी किया। देखिए, देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है—"रेणु-रूक्ष मार्ग पर भी मैंने वट वृक्षों को लगवाया कि वे मनुष्य और पशु दोनों को छाँह दें, आम्र-कुंज लगवाये गये, प्रत्येक दो मील पर कुएँ खुदवाये, धर्म-शालाएँ बनवाईं और कई पानी पीने के स्थान का निर्माण करवाया। क्यों? मनुष्यों तथा पशुओं के सुख के लिए।"

सम्राट् अपने, अपनी स्त्रियों और बच्चों के धर्माचरण के प्रति भी नित्य व्यग्र रहते थे। धर्मशालाओं का उल्लेख करते हुए सम्राट् कहते हैं—देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है—"ये (धर्म-महामात्र) तथा अन्य धर्म के मुख्य कर्मचारी, मेरे और मेरी रानियों के दान का वितरण करने को नियत हैं। यहाँ (पाटलिपुत्र) और बाहर के नगरों के मेरे अन्तः-पुरों में ये अनेक प्रकार के शान्तिदायी धर्म-कार्य में लगे हैं और रानियों तथा मेरे अलावा, वे मेरे लड़कों तथा दूसरी रानियों के लड़कों के धर्म, दान आदि कार्यों में नियत हैं, जिससे धर्म-कार्यों की वृद्धि हो तथा धर्मानुष्ठि हो।"

सम्राट् कितने जागरूक और सक्रिय थे, इसका साक्षात्कार उन्हीं के शब्दों में कीजिए—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है, जो कुछ सुकृत अथवा धर्म मैंने किया है उसी का लोगों (प्रजा) ने अनुसरण किया" (७वाँ स्तम्भ-लेख)। सम्राट् किस उत्साह और उमङ्ग के साथ धर्म-पालन कर रहे थे वह भी सुनिए—"मुझे अपने पराक्रम और कर्त्तव्य-पालन से कुछ भी सन्तोष नहीं है। मेरा परम कर्त्तव्य सर्व प्राणियों एवं जीवों का कल्याण है, (नास्ति हि क्रमतर सव्रलोक हितेन)।" इसी आदर्श को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेकर सम्राट् ६ठे स्तम्भ-लेख में कहते हैं, "मैं केवल अपने सम्बन्धियों की ही सेवा नहीं कर रहा हूँ, अपितु सम्पूर्ण लोगों (प्रजा), चाहे वे सम्बन्धित हों चाहे किसी प्रकार के सम्बन्ध से दूर हों, सबकी सेवा में लगा हूँ, जिससे मैं उन सबका कल्याण कर सकूँ और इसी प्रकार मैं औरों को (सर्वहित करने के लिए) करने का अनुशासन करता हूँ।"

धर्म पर आचरण करने के परिणाम को प्रकट करते हुए सम्राट् चौथे (गिरनार) शिलालेख में कहते हैं—"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण से आज भेरी-घोष (वीर-घोष), धर्म-घोष हुआ और प्रजा को निम्न दिव्यरूपों, विमान, श्वेत हस्ती, अग्निस्कन्ध आदि (स्वर्गीय दिव्य-रूपों) के दर्शन कराये गये।"

सर्वमङ्गल के लिए सम्राट् ने जो कुछ किया वह दूसरे शिलालेख से पूर्णतया प्रकट है, "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने सर्वत्र दो प्रकार के औषधालय अथवा चिकित्सालयों का निर्माण करवाया है। मनुष्यों के चिकित्सालय तथा पशुओं के चिकित्सालय दोनों सर्वत्र खोले हैं। मनुष्यों और पशुओं के लिए जो औषधियाँ गुणकारी हैं, वे सर्वत्र उन जगहों को भेजी गई एवं रोपी गई हैं, जहाँ वे नहीं पायी जातीं।"

सम्राट् ने जिस अहिंसा के सिद्धान्त को प्रजा के सामने रखा, उसका उन्होंने स्वयं पालन कर आदर्श उपस्थित किया—"यहाँ कोई जीव की हत्या कर वलि न दी जावे।..................पहले देवताओं के प्रिय के रसवाड़े में, प्रतिदिन कई सौ सहस्र जीव शोरबे के लिए मारे जाते थे। किन्तु जब यह धर्म-लिपि लिखवायी, तब से केवल तीन पशु—दो मोर और एक हिरण मारे जाने लगे। इनमें भी हिरण का मारा जाना नियमित नहीं है। भविष्य में ये तीन पशु भी न मारे जायँगे" (प्रथम शिलालेख, शाहवाजगढ़ी)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार की उदारता और अनुग्रह किये हैं।" इसी तरह ७वें स्तम्भ-लेख से प्रकट है कि सम्राट् ने जो कुछ दूसरों से करने को कहा उसे स्वयं भी किया। बहुत कम लोग ऐसे मिलेंगे जो जिस बात को कहते हैं, उसका पालन स्वयं भी करते हों। सम्राट् अशोक ने लोगों को जीवमात्र की सेवा करने का उपदेश दिया और अपने उदाहरण से लोगों को प्रोत्साहित भी किया। देखिए, देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है—"रेणु-रुक्ष मार्ग पर भी मैंने वट वृक्षों को लगवाया कि वे मनुष्य और पशु दोनों को छाँह दें, आम्र-कुंज लगवाये गये, प्रत्येक दो मील पर कुएँ खुदवाये, धर्म-शालाएँ बनवाईं और कई पानी पीने के स्थान का निर्माण करवाया। क्यों? मनुष्यों तथा पशुओं के सुख के लिए।"

सम्राट् अपने, अपनी स्त्रियों और बच्चों के धर्माचरण के प्रति भी नित्य व्यग्र रहते थे। धर्मशालाओं का उल्लेख करते हुए सम्राट् कहते हैं—देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है—"ये (धर्म-महामात्र) तथा अन्य धर्म के मुख्य कर्मचारी, मेरे और मेरी रानियों के दान का वितरण करने को नियत हैं। यहाँ (पाटलिपुत्र) और बाहर के नगरों के मेरे अन्तः-पुरों में ये अनेक प्रकार के शान्तिदायी धर्म-कार्य में लगे हैं और रानियों तथा मेरे अलावा, वे मेरे लड़कों तथा दूसरी रानियों के लड़कों के धर्म, दान आदि कार्यों में नियत हैं, जिससे धर्म-कार्यों की वृद्धि हो तथा धर्मा-नुष्ठि हो।"

सम्राट् कितने जागरूक और सक्रिय थे, इसका साक्षात्कार उन्हीं के शब्दों में कीजिए—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है, जो कुछ सुकृत अथवा धर्म मैंने किया है उसी का लोगों (प्रजा) ने अनुसरण किया" (७वाँ स्तम्भ-लेख)। सम्राट् किस उत्साह और उमङ्ग के साथ धर्म-पालन कर रहे थे वह भी सुनिए—"मुझे अपने पराक्रम और कर्त्तव्य-पालन से कुछ भी सन्तोष नहीं है। मेरा परम कर्त्तव्य सर्व प्राणियों एवं जीवों का कल्याण है, (नास्ति हि क्रमतर सब्रलोक हितेन)।" इसी आदर्श को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेकर सम्राट् ६ठे स्तम्भ-लेख में कहते हैं, "मैं केवल अपने सम्बन्धियों की ही सेवा नहीं कर रहा हूँ, अपितु सम्पूर्ण लोगों (प्रजा), चाहे वे सम्बन्धित हों चाहे किसी प्रकार के सम्बन्ध से दूर हों, सबकी सेवा में लगा हूँ, जिससे मैं उन सबका कल्याण कर सकूँ और इसी प्रकार मैं औरों को (सर्वहित करने के लिए) करने का अनुशासन करता हूँ।"

धर्म पर आचरण करने के परिणाम को प्रकट करते हुए सम्राट् चौथे (गिरनार) शिलालेख में कहते हैं—"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण से आज भेरी-घोष (वीर-घोष), धर्म-घोष हुआ और प्रजा को निम्न दिव्यरूपों, विमान, श्वेत हस्ती, अग्निस्कन्ध आदि (स्वर्गीय दिव्य-रूपों) के दर्शन कराये गये।"

सर्वमङ्गल के लिए सम्राट् ने जो कुछ किया वह दूसरे शिलालेख से पूर्णतया प्रकट है, "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने सर्वत्र दो प्रकार के औषधालय अथवा चिकित्सालयों का निर्माण करवाया है। मनुष्यों के चिकित्सालय तथा पशुओं के चिकित्सालय दोनों सर्वत्र खोले हैं। मनुष्यों और पशुओं के लिए जो औषधियाँ गुणकारी हैं, वे सर्वत्र उन जगहों को भेजी गईं एवं रोपी गई हैं, जहाँ वे नहीं पायी जातीं।"

सम्राट् ने जिस अहिंसा के सिद्धान्त को प्रजा के सामने रखा, उसका उन्होंने स्वयं पालन कर आदर्श उपस्थित किया—"यहाँ कोई जीव की हत्या कर बलि न दी जावे।.................पहले देवताओं के प्रिय के रसवाड़े में, प्रतिदिन कई सौ सहस्र जीव शोरबे के लिए मारे जाते थे। किन्तु जब यह धर्म-लिपि लिखवायी, तब से केवल तीन पशु—दो मोर और एक हिरण मारे जाने लगे। इनमें भी हिरण का मारा जाना नियमित नहीं है। भविष्य में ये तीन पशु भी न मारे जायँगे" (प्रथम शिलालेख, शाहबाजगढ़ी)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्राट् का आदर्श अभिनन्दनीय है। जिस सम्राट् की रसवती में प्रति दिवस अनगिनत पशु वध किये जाते थे, उन्होंने अनुशासनानुसार आदर्श स्थापित करने के लिए अपने मन, जिह्वा तथा इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर, शोरबे का धीरे-धीरे परित्याग कर दिया। सम्राट् के विचार में धर्म-दान सबसे बढ़कर दान था (११वाँ शिलालेख)। इस धर्म-दान में निम्न बातें होती थीं—"दास और नौकरों के प्रति उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्र, साथी, सम्बन्धी, ब्राह्मण और श्रमण साधुओं के प्रति उदारता और अहिंसा (पशुओं का यज्ञ-होम के लिए बलि न देना)।" इस धर्म-दान से तात्पर्य सर्वकल्याण से ही है, जिसका पालन सम्राट् स्वयं करते और प्रजा को भी वैसा करने का आदेश किया करते थे। सम्राट् धर्मानुशासन अथवा धर्म की शिक्षा और धर्मानुष्ठि को राजा का परम कर्त्तव्य मानते थे (शिलालेख ४, १३ और ७वाँ स्तम्भ-लेख), और इसी कारण धर्म-प्रचार करने के लिए वे जनपद के लोगों का दर्शन करने को निकलते और उचित समय विचार कर उनसे धर्म पर जिज्ञासा भी किया करते थे (आठवाँ शिलालेख, शाहबाजगढ़ी)।

यहाँ पर एक बात हम कहना भूल गये कि सम्राट् का धर्म जैसा कि हम देख चुके हैं, केवल व्यावहारिक ही न था, अपितु सैद्धान्तिक भी था। प्राणियों में संयम अथवा अहिंसा का आधार सिद्धान्त पर ही है। दूसरा सिद्धान्त सहिष्णुता का था। इस सहिष्णुता का मूल वाक्-संयम दिया गया है। अर्थात् किसी की निन्दा और बुराई करने से बचे रहना। चौथा, बहुश्रुत होना, क्योंकि इससे ज्ञान की वृद्धि होती है। बहुश्रुत का परिणाम अन्ततः कल्याण अथवा सर्वकल्याण ही है। पाँचवाँ सिद्धान्त "सार" दिया गया है। अर्थात् सब धर्मों के सुन्दर नियोगों का पालन जिससे सर्वमङ्गल की प्राप्ति हो। छठा सिद्धान्त धर्म-मङ्गल अर्थात् उन्हीं उत्सवों का करना जो धर्म से संयुक्त हों। अर्थात् जिससे प्राणीमात्र का मङ्गल हो। धर्म-मङ्गल के विषय में हम पहले कह चुके हैं (शिलालेख ९वाँ)। इसके अलावा धर्म-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दान भी एक सिद्धान्त था, इसका प्रतिपादन भी सर्वहित के लिए दिया गया है (११वाँ शिलालेख)। शिलालेख चतुर्थ में धर्म-शिक्षा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। "पराक्रम" भी एक सिद्धान्त बतलाया है, यह शब्द अशोक को बहुत प्रिय था। इसका उन्होंने अनेक बार प्रयोग किया है। "पराक्रम" अर्थात् धर्म के उत्थान के लिए पूर्ण रूप से उद्योग करना। शिलालेख दसवाँ (कालसी) लिखता है—"जो कुछ भी वह (अशोक) पराक्रम करता है, इसीलिए कि सब बन्धन से मुक्त हो सकें। पाप ही बन्धन है। इसको (बन्धन से मुक्त होने को) बड़ा और छोटा कोई भी नहीं कर सकता, यदि वे पूरी तरह उद्योग अथवा पराक्रम न करें। इन दो (बड़े और छोटे) में से भी बड़ों के लिए यह अधिक कठिन है।" गौण-शिलालेख प्रथम मे सम्राट् सबको पराक्रम करने के लिए कहते हैं—"छोटे और बड़े सब पराक्रम करें।" इस पराक्रम को चरितार्थ करने के लिए स्तम्भ-लेख तृतीय में "परीक्षा" दी गई है। परीक्षा की हम पहले ही विवेचना कर चुके हैं। पराक्रम के लिए अपने भले-बुरे कर्मों पर दृष्टि रखना आवश्यक बतलाया गया है। अन्य सिद्धांत धर्म-विजय, धर्म-घोष, धर्म-कामना आदि हैं। राजा के लिए एक और सिद्धांत धर्म-यश (शिलालेख १०वाँ) दिया गया है। अर्थात् प्रभुता ही में या विजय आदि से ही सच्चा सुयश नहीं प्राप्त होता, अपितु वह उस धर्माचरण से प्राप्त होता है, जिससे प्रजा का मङ्गल और विश्व का कल्याण हो। निर्गुण सन्त सहजोबाई के शब्दों में सम्राट् प्रभु को चाहते थे प्रभुता को नहीं। वे उन नर-पिशाच राजाओं की भाँति अपनी 'प्रभुता' के लिए 'प्रभु' को भुलाकर प्राणियों का नाश और अपकार करना नहीं चाहते थे। कितने राजा इतिहास के पन्नों में अपनी पाशविक प्रभुता का परिचय दे गये हैं और दे रहे हैं। सहजोबाई ने अपने सन्त-शब्दों में ऐसे राजाओं और मनुष्यों का चरित्र एक ही पंक्ति में पूरी तरह अंकित कर दिया है—"प्रभुता को सब चहत हैं; प्रभु को चहै न कोय।" किन्तु इसके विपरीत सम्राट् अशोक ने जितने भी कार्य किये सब धर्म के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिए (शिलालेख १०वाँ)। सम्राट् प्रभुता के कीर्ति-स्तम्भों को स्थापित करने के पक्ष में न थे। उनके मतानुसार सच्ची प्रभुता, कीर्ति और सुयश धर्म पर अवलम्बित थे। धर्म-सम्बन्ध, धर्म-समविभाग (११वाँ शिलालेख), धर्म-अनुग्रह (९वाँ शिलालेख) तथा धर्म-दान, धर्म-यात्रा (८वाँ शिलालेख) आदि ही उनके प्रिय विषय हैं। स्तम्भ-लेख प्रथम में सम्राट् कहते हैं, "मेरा धर्म-विधान इस प्रकार है (मैं चाहता हूँ) कि धर्म से ही पालन हो, धर्म का ही शासन हो, धर्म का ही सुख हो और धर्म की ही रक्षा हो अथवा धर्म से ही रक्षा हो।"

सम्राट् का धर्म-ज्ञान और धार्मिक सहिष्णुता—इस प्रकरण को समाप्त करने से पहले हम यहाँ पर सम्राट् के धर्म-ज्ञान तथा धार्मिक सहिष्णुता पर दो शब्द और कह देना चाहते हैं। सम्राट् के लिए निर्गुण सन्त की उपाधि प्रयुक्त की गयी है। इसका कारण यही है कि उन्होंने अपने धर्म का प्रचार सिद्धान्तों के आधार पर ही किया है। उन्होंने साम्प्रदायिक होने पर, धर्म-प्रचार करते समय साम्प्रदायिकता की गन्ध तक नहीं आने दी है। वे सर्वदा सर्व-कल्याण के अभिलाषी थे। उनका धर्म-ज्ञान प्रच्छन्न था, वे सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म देखते थे, सब प्राणियों में उन्हें ब्रह्म का ही रूप दिखलाई देता था। अतः सब मनुष्यों एवं पशुओं तथा जीवमात्र की सेवा अथवा उपासना में ही वे भगवान् की उपासना और धर्म की आराधना का आनन्द पाते थे। इसी हेतु उन्हें सम्प्रदाय-विशेष से आसक्ति न थीं और इसी कारण वे सब सम्प्रदायों को आदर की दृष्टि से देखते थे। निर्गुण सन्त रामानन्द के शब्दों में सम्राट् का सिद्धान्त था—

"जहँ जइए तहँ जल पखान,
पूरि रहे हरि सब समान।"

अर्थात् "जहाँ भी कोई जाता है (तीर्थयात्रा आदि से तात्पर्य है) वहाँ केवल मूर्ति और पानी (तालाव) है। किन्तु परमात्मा नित्य है, सर्वत्र है।" अतः जिस सन्त अशोक के ऐसे भव्य एवं निर्मल विचार थे वह क्योंकर

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

किसी सम्प्रदाय तथा अन्य किसी धर्म का विरोधी हो सकता था ? सम्राट् पूर्ण ज्ञानी थे, वे ही प्रथम एवं प्राचीनतम निर्गुण सन्त हुए हैं जो देवता तथा धर्म को किसी मन्दिर अथवा गिरजा में आबद्ध नहीं समझते थे। वे तो सर्वत्र और सर्वभूतों अथवा प्राणियों में उसको देखते थे, अतः उनको किसी मन्दिर, धर्म अथवा सम्प्रदाय की विशेष आवश्यकता न थी।

सम्राट् की सहिष्णुता के प्रमाण—जैसा कि शिलालेखों से उपलब्ध होता—प्रथमतः अशोक ने दूसरों पर कभी भी अपने व्यक्तिगत धर्म का दबाव न डाला। यद्यपि वे अपने धर्म के महान् प्रेमी थे, लेकिन सभी धर्मों व सम्प्रदायों का हित उनका इष्ट था। ७वें शिलालेख में सम्राट् ने विभिन्न सम्प्रदायों के बीच की विभिन्नता को मिटा कर यह आज्ञा प्रकाशित की है—(देवेन प्रिये प्रियदसि रज, सव्रत्र इछति सव्र पषड वसे यु) कि प्रत्येक स्थान पर सभी सम्प्रदाय रह सकते हैं। क्योंकि सभी परमात्मा के एक रूप हैं और सभी उसे पाने के लिए संयम तथा आत्मशुद्धि किया करते हैं (सव्रेहि ते संयम भावशुद्धि च इछति)। सम्राट् दूसरे धर्मों का आदर करने में ही अपने धर्म की बड़ाई मानते थे। दूसरे धर्मों की निन्दा करने में वे अपने धर्म का अपकर्ष समझते थे (१३वाँ शिलालेख)। अपनी धर्म-यात्राओं में सम्राट् ब्राह्मणों, श्रमणों का दर्शन किया करते थे, तथा उनका सम्मान कर दान दिया करते थे (आठवाँ शिलालेख)। सम्राट् के शिलालेखों में सहिष्णुता का मधुर सन्देश निश्चल ध्वनि में प्रतिध्वनित होता सुनाई पड़ता है। तीसरा शिलालेख कहता है, "माता-पिता की सेवा करना स्तुत्य है। मित्र, परिचित, सम्बन्धी, ब्राह्मण और श्रमण के प्रति उदारता अथवा आदर-भाव रखना उत्तम है अथवा स्तुत्य है।" इसी ध्वनि में नवाँ शिलालेख कहता है, "मङ्गल अवश्य करने चाहिए, यद्यपि ये बहुत कम फल देने वाले हैं। किन्तु धर्म-मङ्गल से बहुत लाभ होता है। इसमें ये बातें होती हैं—दास और नौकरों से उचित व्यवहार, गुरुओं का आदर, प्राणियों में संयम अथवा अहिंसा, ब्राह्मण और श्रमण साधुओं के प्रति उदारता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ये तथा अन्य बातें भी धर्म-मङ्गल हैं।" प्रकट है कि ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति उदारता दिखलाना धार्मिक लक्षण माना गया है। इसी प्रकार चौथे शिलालेख में ब्राह्मणों, श्रमणों आदि के प्रति दुर्व्यवहार करने को अधर्म कहा गया है। चौथा शिलालेख लिखता है, "बहुत समय व्यतीत हुआ, सैकड़ों वर्ष हुए कि जीवों की हिंसा, प्राणियों के प्रति क्रूरता और सम्बन्धियों, ब्राह्मणों तथा श्रमणों के प्रति अनादर बढ़ता ही गया।" अन्त में यह शिलालेख कहता है कि धर्म-प्रचार के कारण अब ब्राह्मणों और श्रमणों आदि का आदर बढ़ने लगा है। इसी प्रकार ७वें शिलालेख में ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति दुर्व्यवहार करने की भर्त्सना की गयी है तथा उचित व्यवहार करने का आदेश दिया गया है।

सम्राट् प्राग्भूत बुद्ध अथवा बोधिसत्व के उपासकों का भी आदर करते थे। अशोक ने बुद्ध-कोनकामन के स्तूप को बड़ा बनवाया (द्विगुणित किया) था तथा बुद्ध कोनकामन की यात्रा भी की थी। (निगलिव, स्तम्भ-लेख नं० २)।

निर्ग्रन्थ आजीविक आदि के प्रति भी अशोक उसी प्रकार उदार थे जैसे और सम्प्रदायों के प्रति। उनका सब धर्मों के प्रति समान भाव था तथा राजकीय संरक्षण सर्व पाषंडों को सहज प्राप्त था। आजीविक और निर्ग्रंथों को उदारतापूर्वक गुफाएँ दान दी गयी थीं। निगरोध-गुफा-लेख में सम्राट् कहते हैं—"अभिषिक्त होने के १२वें साल, प्रियदर्शी राजा ने यह निगरोध-गुफा आजीविकों को दान दी।" इसी प्रकार खलाटिक पहाड़ी गुफा भी अभिषेक के १२वें साल आजीविकों को मिली थी। अतः सुस्पष्ट है कि राजकीय उपहारों का बँटवारा सबके लिए (ब्राह्मण, श्रमण, बुद्ध, निर्ग्रंथ, आजीविक)—बराबर था (देखिए, आठवाँ शिलालेख)। सर्व धर्मों अथवा सम्प्रदायों की श्री-वृद्धि के लिए अशोक ने धर्म-महामात्रों को नियुक्त कर रखा था। पाँचवें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "पहिले धर्म-महामात्र नियत न थे। किन्तु अभिषिक्त होने के १३वें वर्ष मैंने धर्म-महा-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मात्रों को नियत किया है। वे सब सम्प्रदायों के लिए नियत हैं। वे धर्म की अभिवृद्धि एवं धर्म भक्तों की रक्षा के हेतु नियुक्त किये गये हैं। वे यवन, कम्बोज, गांधार, राष्ट्रिकों, पैठानिकों और पश्चिमी सीमान्त पर रहने वाले अन्य लोगों के लिए नियत हैं। वे आर्यों और भृत्यों, ब्राह्मण, साधुओं, गृहस्थियों, असहायों, वृद्धों और अन्य धर्म-सेवियों के सुख और रक्षा के हेतु नियत हैं।" पुनः ६वें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "मेरा परम कर्त्तव्य सब लोगों की भलाई करना है।" इसी तरह दसवें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं—"जो कुछ भी उद्योग या पराक्रम मैं करता हूँ, वह सब परलोक के लिए तथा सर्वहित के हेतु है जिससे सब लोग पाप-मुक्त हो सकें।" ग्यारहवें शिलालेख में सम्राट् धर्मदान को इस प्रकार देते हैं, "दास और नौकरों से उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्र, परिचित, ब्राह्मण और श्रमण, साधुओं के प्रति उदारता और अहिंसा।" अतः निश्शंक हो कह सकते हैं कि सम्राट् की धार्मिक सहिष्णुता और ज्ञान अद्वितीय एवं पारलौकिकी थे।

सम्राट् की धार्मिक सहिष्णुता पर एक दृष्टि -सम्राट् की इस सहिष्णुता की समीक्षा करते हुए श्री राधाकुमुद मुकर्जी लिखते हैं कि अशोक-कालीन विभिन्न धर्म सब एक ही वृक्ष की विभिन्न शाखाएँ थीं, वे यहूदी, जोरास्टर या इस्लाम धर्मों की तरह अलग-अलग न थे। अतः सम्राट् का अन्य धर्मों के प्रति उदार भाव रखना कोई कठिन एवं विशेष श्रेय का विषय न था।[१] मुकर्जी की यह समीक्षा सम्राट् की असीम उदारता तथा तादात्म-भाव पर ही ठेस नहीं लगाती अपितु यह उनके महान् देवोपम सिद्धान्त--"नास्ति हि क्रमतर सव्रलोक हितेन"—के महत्व को भी क्षीण करती है। स्मरण रहे कि सम्राट् के समय में ही जब बौद्ध-धर्म में भेद होने के कारण परस्पर विरोध हो चला था, (महावंश,

---

[१] R. K. Mukerji's Asoka, pp. 65, 66.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तृतीय महासभा, प्रकरण पाँचवाँ) तो अन्य सम्प्रदायों और बौद्ध-धर्म में क्या विरोध न होगा ? वेदविरोधी और अनीश्वरवादी होने के कारण ब्राह्मण और बौद्धों में विरोध होना स्वाभाविक था। इस कट्टर विरोध का इतिहास हम शंकराचार्य तक अंकित कर सकते हैं। हर्ष के समय, जैसा कि ह्वेनसांग के वर्णन से प्रकाशित है, बौद्ध-धर्म तथा ब्राह्मण-धर्म का पारस्परिक विरोध इतना बढ़ चला था कि ब्राह्मणों ने एक बार बौद्ध-धर्म के महान् संरक्षक महाराज हर्ष को मार तक डालने का प्रयत्न किया, किन्तु इसमें वे सफल न हो सके। अन्ततः शंकराचार्य ने तो बौद्ध-धर्म को समूल ही उखाड़ फेंका।[१] इसी भाँति जैन और ब्राह्मणों में पारस्परिक विरोध रहा करता था, यह बात पुष्यमित्र सुङ्ग के जैनियों का निर्दयतापूर्वक दमन करने से प्रमाणित होती है। जैनियों और आजीविकों में महावीर और गोसाल के समय से ही विरोध उत्पन्न हो गया था। आजीविकों का आचार्य गोसाल भले-बुरे कर्मों को भाग्य पर आरोपित कर, मनुष्यों को उसका (अर्थात् भले-बुरे कार्यों का) जिम्मेदार न समझता था। महावीर इसके विपरीत थे। अतः परस्पर का विरोध बौद्ध, जैन, आजीविक और ब्राह्मणों आदि सभी में मौजूद था। विदित हो कि तुलसीदास के समय में एक ही ब्राह्मण-धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों—शैवों और वैष्णवों में घोर विरोध था। इसी कारण तुलसीदास को राम को शिव का भक्त और शिव को राम का भक्त प्रदर्शित करना पड़ा था। आजकल भी आर्य-समाज और ब्राह्मण-धर्म का पारस्परिक विरोध प्रत्यक्ष है। अतः जब शैव और वैष्णव तक परस्पर एक दूसरे के मरणांतक विरोधी थे तो बौद्धों, ब्राह्मणों और अन्य सम्प्रदायों में, यहूदी, ईसाई तथा मुसलमानों का-सा पारस्परिक विरोध पाया जाना असंभव नहीं हो सकता।[२]

---

[१] यही कारण है कि आज बौद्ध-धर्म भारतीय होने पर भी भारत में नहीं पाया जाता।

[२] साम्राज्य के शिलालेखों की शैली से स्पष्ट है कि अशोक-कालीन विभिन्न संप्रदायों में परस्पर विरोध रहा करता था, "देवेन प्रिये प्रियदशि रज सव्रत्र

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अतः यह सम्राट् की महानता एवम् विश्व-कल्याण की ही भावना थी जो सब धर्मों तथा पाखण्डों को एक ही प्रेम-सूत्र में ग्रथित करने का प्रयत्न करती रही।

सम्राट् की सहिष्णुता पर कुछ अन्य आक्षेप—प्रथम शिलालेख को पढ़ कर कोई यह कह सकता है कि सम्राट् ने अहिंसा के हेतु यज्ञ-होमादि को रोककर ब्राह्मणों से असहिष्णुता बरती। सम्राट् पर यह दोष लगाना न्यायसंगत नहीं है। उनके शिलालेख ब्राह्मणों के प्रति स्पष्टतया उदार भाव प्रकट करते हैं। अहिंसा का प्रचार और हिंसा का पूर्ण निषेध करने से सम्राट् की सहिष्णुता पर कोई दोष नहीं आ सकता, क्योंकि अहिंसा एवम् सर्वभूतों पर दया-भाव के ईश्वरीय सिद्धांत का ब्राह्मण-धर्म स्वयं प्रचार करता है। महाभारत शांतिपर्व, राज-धर्म प्रकरण ५९, ४०, १४२—अहिंसा, सत्य, असत्य, वृद्धों की सेवा, दान, पवित्रता, पौरुष, प्राणियों पर दया (अनुकम्पा—सर्व-भूतानुकंपा) का प्रचार करता है। इसी भाँति मुण्डकोपनिषद् कहता है, प्लवाह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्त भवरंयेषु कर्म एतच्छ्रेयो येऽभिनंदति मूढ़ा जरा मृत्वन्ते पुनरे वापियन्ति ॥७॥ (परिच्छेद २)। यह उपनिषद् भर्त्सना करते हुए कहता है कि जो यज्ञादि नाशवान कर्मों को अथवा कर्म-मार्ग को कल्याण देनेवाले समझते हैं, वे मूर्ख हैं, उनका हर्षित अथवा प्रसन्न निरर्थक है, क्योंकि वे बार-बार जरा-मरण (जरामृत्युम्) को प्राप्त होते हैं। इसी भाँति वृहदारण्यकोपनिषत् (१,४-४०)—बिना आत्मज्ञान के यज्ञ करने वालों को अज्ञानी बतलाता है। अतः कह सकते हैं कि सम्राट् ने यज्ञ आदि

इछति सव्र पषड वसेयु (७वाँ स्तंभ-लेख)।" इसी प्रकार १२वाँ शिलालेख कहता है कि किसी की निन्दा न करो, किंतु सबकी सारवृद्धि हो ऐसा उपक्रम करो, "देवेन प्रिये मत्रति अथ किति सलवढि, सिय सव्र पषडन ति सल-बुढि तु बहुविध त चु इय मुलेअं बचुगति किति, अत प्रषंडपुज व परपडगरह व नो सिय अपकरणसि नहुक व सिय तसि।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर्मों एवं पशुओं की हिंसा का निषेध कर ब्राह्मणों के प्रति असहिष्णुता नहीं दिखलाई, अपितु ब्राह्मणों के ही उच्च तथा निगूढ़ उपनिषदों के सिद्धांत का प्रचार किया।

९वें शिलालेख में मङ्गलों का निषेध किया गया है तथा उनकी जगह धर्म-मङ्गल का विधान कहा गया है, इस पर कुछ लोगों की यह सम्मति है कि यह कार्य भी ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध था,[१] किंतु हमारी सम्मति में यह कहना सत्य नहीं प्रतीत होता। ब्राह्मण-धर्म अपने सत्य रूप में सर्व-प्रकार के मिथ्या धर्मों से ऊपर है। मिथ्या धर्म का आधार अशिक्षित समाज है और धर्म अशिक्षितों में ही आश्रय पा सकता है। यही सम्राट् ने भी कहा है। देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि—"लोग बहुत से मङ्गल मनाते हैं। बीमारी की अवस्था में, ब्याह के समय, जन्म-दिवस पर, विदेश जाते समय, इन तथा अन्य अवसरों पर लोग अनेक प्रकार के मङ्गल मनाते हैं। किन्तु ऐसे अवसर पर माताएँ और स्त्रियाँ, अनेक प्रकार के निरर्थक मङ्गल किया करती हैं······ये बहुत कम फल देने वाले हैं। किन्तु धर्म-मङ्गल से बड़ा लाभ होता है। धर्म-मङ्गल में ये बातें हैं—नौकरों और दासों के प्रति उचित व्यवहार, गुरुओं की सुश्रूषा, अहिंसा, ब्राह्मण और श्रमणों के प्रति उदारता आदि।"—(शिलालेख नवाँ)। ब्राह्मणों के प्रति "उदारता दिखलाने" को धर्म-मङ्गल के अन्तर्गत करना क्या ब्राह्मण-धर्म का विरोध प्रकट करता है? स्पष्ट है कि क्षुद्र मङ्गलों का निषेध किसी के प्रति विरोध उत्पन्न करने के लिए न था और न उसमें असहिष्णुता का भाव ही है। सम्राट् के समय बहुत से मिथ्या धर्म प्रचलित थे, जैसे—भूत-प्रेत, यक्ष, किन्नर, अश्व, कुत्ता आदि की उपासना और इस कारण समाज में क्षुद्रधर्म का प्रचार बढ़ चला था। अतः सम्राट् चाहते थे कि लोग न्यून फलदायक मिथ्या-मङ्गलों को छोड़कर धर्म-मङ्गल किया करें, क्योंकि उससे

---

[१] देखिए आर० के० मुकर्जी, अशोक, पृष्ठ ६६

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

"इहलोक में भी सिद्धि प्राप्त होती है और परलोक में अनन्त पुण्य मिलता है (९वाँ शिलालेख) ।"

सम्राट् की सहिष्णुता के प्रति एक और विचारणीय प्रश्न है। सम्राट् ने जब कि प्राणियों की हिंसा का पूर्ण निषेध करवा दिया था, तब फाँसी की सजा को क्यों बना रहने दिया? चतुर्थ स्तम्भ-लेख में सम्राट् कहते हैं, "बन्धन में पड़े हुए फाँसी के कैदी, जिनको न्याय हो चुका है, मैंने उनको तीन दिन आराम के दिये हैं। इन तीन दिनों के भीतर उनके संबन्धी रज्जुकों को फिर से न्याय करने के लिए कह सकते हैं और यदि ऐसे कैदियों का कोई सम्बन्धी न हो, जो उनके न्याय की फिर से अर्ज करे, तो वे कैदी अपने परलोक के सुख हेतु दान देंगे, क्योंकि मेरी अभिलाषा है कि तीन दिन आराम के बीत चुकने पर, वे परलोक (स्वर्ग) प्राप्त कर सकें।" इससे प्रकट है कि सम्राट् ऐसे अपराधी मनुष्यों के प्रति भी यथेष्टतया उदार थे। सम्राट् की अनुकम्पा नहीं चाहती थी कि कोई फाँसी पावे, इसीलिए चतुर्थ लेख में फिर से न्याय करवाने की अनुज्ञा प्रदान की गयी है। लेकिन यदि कोई फाँसी से न बच पावे तो उसके लिए दान करने का विधान दिया गया है, जिससे वे कम से कम स्वर्गीय सुख तो उपलब्ध कर सकें। निःसंदेह सम्राट् का सर्व-कल्याण से बढ़ कर और कोई कार्य न था (नास्ति हि क्रमतर सव्रलोक हितेन)। उनको सर्व-प्राणियों (सर्व-भूतों) के त्राण (मङ्गल) में ही सत्य-धर्म की अनुभूति मालूम हुई। उनके पावन शब्दों में—"सर्व-भूतानां अछतिं च, सयमं च, समचेरां च, मादवं च" ही धर्म एवं उपासना का मूल मन्त्र है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

छठा प्रकरण

बौद्ध-धर्म के प्रचारक अशोक

बौद्ध-धर्म—ईसा से कोई पाँच शताब्दी पूर्व लुम्बिनी वन में महापुरुष सिद्धार्थ का जन्म हुआ था। संसार की दुःखजनित उष्ण उसाँसों से इस महापुरुष का जी घबड़ा उठा और अन्ततः एक दिन विश्व-कल्याण के उत्तरदायित्व का भार अपने कोमल कन्धों पर लेकर अर्द्धरात्रि के मध्य अपनी नव-प्रसूता सोई हुई वल्लभा और स्नेह के पुतले राहुल को छोड़कर सिद्धार्थ घर से निकल गये। विश्वशान्ति और मङ्गल की खोज में इस महा-पुरुष को अपूर्व कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। शाक्य महामुनि के इस अद्वितीय त्याग का सम्पूर्ण विश्व ने लाभ उठाया। इस राजर्षि को गया के पास अश्वत्थ वृक्ष के नीचे अखण्ड ज्ञान की प्राप्ति हुई। सिद्धार्थ अब बुद्ध हुए। बुद्ध होने के अनन्तर भगवान् ने सर्वमङ्गल की अभिलाषा की। गौतम ने अपने शिष्यों से कहा था, "हे भिक्षुगण! विश्वमङ्गल और कल्याण के लिए इधर-उधर भ्रमण करो। किन्तु दो-एक ही मार्ग से न जाना। हे भिक्षुगण, तुम सर्व-मांगलिक, सर्व-उत्तम सिद्धान्त का सर्वत्र प्रचार करो। पुण्यमय, आतपरहित और विशुद्ध जीवन का सर्वत्र विस्तार करो।" (महावंश, पृष्ठ १८८)।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्ध-धर्म का प्रचार बुद्ध से ही प्रारम्भ हो गया था। भगवान् के जीवन-काल में ही बौद्ध-धर्म सर्वत्र अपना प्रसार करने लगा था। किन्तु उसका अभी सम्पूर्ण भारत एवं विदेशों में पूर्णता से विस्तार न हो सका था। इस पूर्णता का श्रेय प्रथमतः सम्राट् अशोक को ही प्राप्त है। सम्राट् की इस धर्म-पूर्णता के प्रति महावंश लिखता है—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"दूसरी महासभा के आचार्यों ने भविष्यवाणी की थी कि सम्राट् अशोक धर्म-सम्पन्न और धर्म-रक्षक होंगे।" (महावंश प्रकरण पाँचवाँ)।

बौद्ध अशोक—पिछले दो प्रकरणों से भली प्रकार मालूम हो चुका है कि सम्राट् अशोक बौद्ध-धर्मी थे और उन्होंने बौद्ध-धर्म के साधारण उपासकों अथवा गृहस्थियों के धर्म को ही अपना धर्म अंगीकृत किया था। इस धर्म के प्रचार में जो उत्साह एवं पराक्रम सम्राट् ने प्रदर्शित किया, वह अद्वितीय है। इस 'पराक्रम' का ब्रह्मगिरी शिलालेख प्रथम में निर्देश किया गया है। इस प्रकरण में हम सम्राट् के धर्म-पराक्रम का वर्णन करेंगे और यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि बौद्ध-धर्म प्रचारक के रूप में सम्राट् ने कितना उद्यम और कार्य किया।

बौद्ध-धर्म के प्रचारक अशोक—सम्राट् की मौलिकता तथा दूरदर्शिता प्रशस्त एवं सराहनीय है। धर्म की अभिवृद्धि किस प्रकार हो सकती है तथा वह किन कारणों से चिरजीवी हो सकती है, इस विषय का सम्राट् को पूर्ण ज्ञान था। इसका परिचय हमें ७वें स्तम्भ-लेख से प्राप्त होता है। सम्राट् विचारते हैं, "किस प्रकार लोगों में धर्म की यथेष्ट उन्नति हो सकती है। मैं किन कारणों से उन्हें धर्म के साथ उन्नत बना सकता हूँ।" इस पर विचार कर, देवताओं का प्रिय कहता है, मुझे ज्ञान हुआ कि मैं धर्मानुशासन प्रकाशित करूँगा, मैं धर्म की शिक्षा दूँगा और लोग इन धर्म सन्देशों को सुनकर उन पर आचरण करेंगे, अपना उत्कर्ष करेंगे और धर्माचरण करते हुए आगे बढ़ेंगे।..........देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है, "मैंने यह विचार कर धर्म-स्तम्भ स्थापित किये, धर्म-महामात्रों की नियुक्ति की और धर्म-लेख लिखाये।........धर्म के ये लेख पाषाण-स्तम्भों तथा पाषाण-शिलाओं पर लिखे जाने चाहिए, जिससे वे (धर्म-लेख) चिरस्थायी हों।" इस प्रकार प्रकट है कि सम्राट् ने धर्म के प्रचार एवम् प्रसार के लिए एक सुव्यवस्थित योजना बना ली थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर्म-कल्याण एवम् मङ्गल की भावना से प्रेरित होकर सम्राट् ने धर्म-प्रचार के लिए जिस उत्साह और पराक्रम के साथ उद्योग किया वह गौण शिलाभिलेख प्रथम से स्पष्ट है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, लगभग ढाई साल मैं उपासक रहा। इस समय मैंने कुछ पराक्रम न किया, किंतु सङ्घ की यात्रा किये लगभग एक साल से अधिक हुआ, तबसे मैंने खूब उद्योग अथवा पराक्रम किया। इस समय के भीतर जम्बूद्वीप के वे लोग जो देवताओं से परिचित न थे, अब परचित हो गये हैं। पराक्रम (उद्योग) का यही परिणाम है। केवल महान् व्यक्ति ही इस कार्य को नहीं कर सकते हैं, क्योंकि छोटे लोग भी सतत पराक्रम से स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं।" इस शिलालेख से व्यक्त होता है कि सम्राट् ने धर्म के लिए किस तरह पराक्रम किया और उसका क्या परिणाम हुआ। इस धर्म-प्रचार का प्रथम परिणाम जम्बूद्वीप के मनुष्यों और देवताओं का पारस्परिक सम्बन्ध का स्थापित होना था। दूसरा फल स्वर्ग का मिलना था। मनुष्यों और देवताओं के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध होने से यहाँ पर क्या तात्पर्य है? इस विषय पर डा० एफ० डब्लू० थॉमस लिखते थे—"अशोक यह व्यक्त करना चाहते हैं कि एक साल के लगभग उन्होंने ब्राह्मणों के देवताओं का उन लोगों से, अर्थात् जङ्गली जातियों से, जो अब तक उन देवताओं से अपरिचित थे, परिचित करा दिया।"[१]

श्री भंडारकर का मत है, "अशोक के धर्मानुशासन का अनुसरण करने से लोग पुण्यात्मा हो चले। अतः उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति हुई और वहाँ उनको देवताओं का सान्निध्य प्राप्त हुआ, अथवा देवताओं से परिचय या सम्बन्ध हुआ।"[२]

श्री राधाकुमुद मुकर्जी कहते हैं—"इस समय (२½ वर्ष) के भीतर जम्बूद्वीप के वे लोग जो देवताओं से भिन्न थे, अथवा अलग थे या दूर थे

---

[१] Cambridge History, p. 505.

[२] डा० भण्डारकर—अशोक, पृष्ठ १४०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्थात् जिनका न कोई धर्म था, न देवता थे, वे देवताओं से सम्बन्धित हुए अर्थात् वे धार्मिक होकर देवताओं की पूजा करने लगे। इस समय के भीतर देवताओं और उनके बीच का झगड़ा जम्बूद्वीप में शांति को प्राप्त हुआ। अर्थात् सम्राट् की धार्मिक सहिष्णुता से विभिन्न सम्प्रदायों के पारस्परिक विरोध का अन्त हुआ और उनमें मेल स्थापित हुआ।''

किन्तु हमारी सम्मति में–प्रथम इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जम्बूद्वीप के मनुष्यों और देवताओं का पारस्परिक सम्बन्ध किस विषय का परिणाम था ? वस्तुतः वह उस धर्म का ही फल था (ब्रह्मगिरी, शिलालेख प्रथम), जिसका प्रचार पूर्ण उत्साह के साथ सङ्घ में प्रविष्ट होने के अनंतर किया गया था। यह धर्म क्या था ? द्वितीय स्तम्भ-लेख कहता है—''धर्म क्या है ? अपासनीय अर्थात् पाप-कृतों (उग्रता, हिंसा, क्रूरता, क्रोध, अहङ्कार, ईर्ष्या, दर्प आदि) से बचना, सुकृत करना, कृपालुता अथवा उदारता, दान, सत्यता और विशुद्धता।'' आठवें और नवें शिलालेख के अनुसार—समाचरण (सबके साथ समान आचरण या बर्ताव करना), सेवा, अहिंसा, दान आदि भी धर्म के अन्तर्गत माने गये हैं। अतः इस धर्म-निरूपण के अनुसार सम्राट् के धर्म की दो वृत्तियाँ अथवा रूप हैं—एक अच्छा रूप या सद्वृत्ति, दूसरा बुरा रूप (अपासनीय) अर्थात् असद्वृत्ति।

१—सद्वृत्ति के लक्षण हैं—सुकृत, एकरूपता (समान भाव), कृपालुता, उदारता, दान, सत्यता, विशुद्धता, अहिंसा आदि।

२—असद्वृत्ति के लक्षण—हिंसा, क्रोध, उग्रता, क्रूरता, अहंकार, ईर्ष्या आदि।

धर्म और अधर्म (पुण्य और अपुण्य) अथवा सद् और असद्प्रवृत्तियाँ मनुष्यों में स्वभावतः पायी जाती हैं। इसी से तो तीसरा स्तम्भ-लेख लिखता है, ''देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, लोग अपने ही सुकृतों को देखते हैं और विचारते हैं कि 'यह सुकृत अथवा पुण्य मैंने किया है।' किन्तु वे कभी अपने दुष्कर्मों को विचारते हुए यह नहीं कहते

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि 'यह पाप (अपुण्य अथवा दुष्कर्म) मैंने किया है, अथवा यह आसीनव मेरे द्वारा हुआ है।' यह देखना है भी अत्यन्त कठिन।" निःसन्देह संसार में ऐसे लोग बहुत कम देख पड़ते हैं, जो अपने पापों को देखते हैं, और उन पर विचार करते हैं। यह तो दादू ही कह सकता था—"महा अपराधी एक मैं सारे इहि संसार। अवगुण मेरे अति घने अन्त न पावे पार।"

उक्त दो प्रवृत्तियाँ किसी मनुष्य में अधिकता और किसी में अल्पत्व से पायी जाती हैं। मानव-मन में इन दो वृत्तियों का हमेशा संघर्ष होता रहता है। मनुष्य की बुरी वृत्तियों के प्रवल होने से वह अहंकारी, क्रूर, ईर्ष्यालु, उग्र, भीषण, अमर्यादित, असंयमी और सम्राट् के शब्दों में आसीनवगामी हो जाता है। असद्वृत्तियाँ मनुष्य को पैशाचिक बना डालती हैं, क्योंकि उनमें काम, क्रोध, लोभ आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं। अतः कामी पुरुष अथवा पापी पुरुष देवताओं से या भगवान् से अक्षम्य एवं तिरस्कृत हो दूर हटते जाते हैं, क्योंकि 'कबीर' कहते हैं—"और गुनह हरि बकससी कामी डार न मूर!" भगवान् सम्भवतः और पापों को क्षमा कर सकता है, किन्तु कामी का वह जड़ (मूल) से नाश कर देता है। फलतः परमात्मा और पापियों का परस्पर सम्बन्ध अथवा योग होना दुष्कर है। इसीलिए सम्राट् कहते हैं कि मनुष्यों को अपने दुष्कर्मों अथवा पापों पर दृष्टि रखना चाहिए, जिससे वे पापकृत्यों में न फँसें। वे कहते हैं—"आसीनव अथवा पाप के ये कारण हैं—उग्रता, क्रूरता, क्रोध, हिंसा, अहंकार, दर्प, ईर्ष्या आदि। अतः इन कारणों से मुझे अपनी क्षति अथवा विनाश न करना चाहिए। इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए, यह मेरे इहलोक के सुख का कारण है तथा परलोक के सुख का हेतु है" (स्तम्भ लेख तीसरा)। निस्संदेह इन लक्षणों से रहित होकर ही मनुष्य की आत्मा प्रच्छन्न हो सकती है और वह इस लोक में सुखी और परलोक में भी सुख प्राप्त कर सकता है। आत्मशुद्धि होने के फल से ही हृदय में तादात्म्य एवं विश्वभाव पैदा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता है, जिसके फलस्वरूप 'मैं' और 'तू' का जो भेद है, यह नहीं रहने पाता। यही तादात्म्य भाव परमात्मा, पूर्णदेव से योग कराता है। इसी से कबीर कहते हैं, "आपा पर सब एक समान, तब हम पाया पद निरबान।" अर्थात् जब मुझे यह अनुभूति हुई कि 'मैं' और 'तू' में भेद नहीं है या जब मैंने सबमें एकरूपता देखी, तभी मुझको निर्वाण पद प्राप्त हुआ। इसी तादात्म्य भाव में आगे बढ़ते हुए कबीर पुनः कहते हैं, "जेति औरति मरदाँ कहिए सब में रूप तुम्हारा। फलतः धर्म से आतमशुद्धि होने के कारण तादात्म्य भाव की उत्पत्ति होती है और तादात्म्य से पुनः एकरूपता उत्पन्न होती है और एकरूपता से 'तू', 'मैं' और 'अन्य' का भाव जाता रहता है और जब यह स्थिति आती है तो सब 'एक' हो जाता है। अतः जब सब 'एक' हो जाता है तो मनुष्यों, देवताओं आदि का कोई भेद नहीं रह पाता। फलतः जब मनुष्य इस दशा को पहुँचता है तो उसका भगवान् अथवा दैव (ब्रह्म देवताओं) से योग हो जाता है या पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना हो जाती है।

देवता की परिभाषा सद्गुणों, वृत्तियों, प्रवृत्तियों अथवा धर्म-लक्षणों के समुदाय में है अर्थात् सद्वृत्तियों के समुदाय का नाम ही देवता है। अतः जिस मनुष्य के भीतर समवेत रूप में सद्वृत्तियों का पूर्ण उदय होता है वह व्यक्ति देवता हो जाता है, अन्यथा असुर या पापी। भगवान् बुद्ध सद्-वृत्तियों के पूर्ण उदय होने से पहले सिद्धार्थ थे, किन्तु बुद्ध अथवा भगवान् वे तभी हो सके जब उनकी पूर्ण सद्प्रवृत्तियाँ जागृत हो उठीं और उनका तादातमयभाव इतना प्रच्छन्न हो चला कि वे सबमें और सब उनमें रम गये, लेकिन जिनके भीतर बुरी प्रवृत्तियाँ ही बल पकड़ती हैं, वे असुर में परि-णित हो जाते हैं। देखिए बृहदारण्यकोपनिषत् कहता है, "द्वैया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कनीयसा एव देवा जायसा असुरास्त एषु लोकेष्वः स्पर्धत शतं शमाः।" देवताओं और असुरों में १०० वर्ष की लड़ाई हुआ करती है। स्मरण रहे यह लड़ाई युद्ध-क्षेत्र में दो दलों के मध्य नहीं हुआ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करती है। इसका आध्यात्मिक भाव[१] ग्रहणीय है। मनुष्य की आयु साधारणतया १०० वर्ष ही ली गयी है। इन १०० वर्षों तक मनुष्यों के बुरे और भले विचारों से सङ्घर्ष होता रहता है। वस्तुतः यहाँ पर देवताओं से अभिप्राय भली प्रवृत्तियों से है और असुरों से बुरी प्रवृत्तियों का निर्देश किया गया है। अतः देवताओं (सद्-वृत्तियों) और असुरों (असद्-वृत्तियों) के मध्य का युद्ध मनुष्यों के मन में ही हुआ करता है। इस युद्ध में जो वृत्ति विजयी होती है वही मनुष्य के चरित्र का कारण बनती है। यदि मनुष्य की बुरी प्रवृत्तियाँ जीतती हैं तो मनुष्य असुर हो जाता है; यदि उसकी अंतःकरण की सद्वृत्तियाँ विजयी होती हैं तो मनुष्य देवता हो जाता है। यही देवता और असुरों की लड़ाई एवम् हार-जीत है। बुरी और भली प्रवृत्तियों के विजयी होने का कारण अधर्म तथा धर्म ही है। फलतः सम्राट् का अभिप्राय संभवतः यही प्रतीत होता है कि उनके धर्म-प्रचार के परिणाम-स्वरूप लोग धर्म पर आचरण करने लगे और इस धर्माचरण के कारण उनकी बुरी प्रवृत्तियों का नाश हुआ और भली प्रवृत्तियाँ जागृत हुईं, जिस कारण उनका देवताओं (सद्-वृत्तियों) से संबंध स्थापित हुआ या वे ही देवता हो गये।

सम्राट् ने किस प्रकार इन सद्-वृत्तियों अथवा धर्म का प्रचार किया, इसका निर्देश चतुर्थ शिलालेख करता है, "बहुत समय व्यतीत हुआ, सैकड़ों वर्ष हुए कि जीवों की हिंसा, प्राणियों के प्रति क्रूरता, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति अनादर बढ़ता गया, किन्तु आज देवताओं के प्रिय धर्माचरण के कारण, वीरघोष, धर्मघोष हुआ और प्रजा को विमान, श्वेत हाथी, अग्निस्कंध तथा अन्य दिव्यरूपों के दर्शन कराये गये।" इस विवरण से स्पष्ट होता है कि सम्राट् ने प्रथमतः धर्म-प्रचार का कार्य दिव्य-रूपों के दर्शन द्वारा आरम्भ किया। जनता को इन दिव्य-रूपों का दर्शन करवा कर सम्राट् उन्हें यह व्यक्त कराना चाहते हैं कि धर्माचरण का परिणाम परम

---

[१] शङ्कराचार्य ने प्रथम इसकी ऐसे भाव में व्याख्या की थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आनन्द और स्वर्गीय उपहारों की उपलब्धि है। धर्माचरण से स्वर्ग के अनंत सुख की प्राप्ति होती है एवम् मनुष्य स्वयं दिव्यरूप हो जाता है ! इस प्रकार प्रथम अपने विजित राज्य में सम्राट् धर्म-प्रचारक के रूप में प्रविष्ट हुए, क्योंकि विदेशों से पूर्व अपने राज्य में धर्म का प्रचार एवम् प्रसार होना आवश्यक तथा अनिवार्य था। भण्डारकर की सम्मति है कि सम्राट् जनता को शासनकाल के अंत तक दिव्यरूपों का दर्शन कराते रहे, किंतु हमारी सम्मति में यह सन्देहात्मक मालूम होता है। सम्राट् ने कुछ समय तक अवश्य इन दिव्यरूपों का प्रदर्शन करवाया, किन्तु आगे चलकर मालूम होता है, उन्होंने इन दिव्यरूपों का दिखलाना भी बन्द करवा दिया, क्योंकि ये दिव्यरूप समाज में ही प्रदर्शित किये जाते थे और बुरे समाजों के कारण अशोक को सब प्रकार के समाजों का निषेध कर देना पड़ा था। प्रथम शिलालेख लिखता है, "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने यह धर्मलिपि लिखवाई। यहाँ किसी जीव का होम न किया जाय, न समाज मनाये जायँ, क्योंकि देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी समाज में कई बुराइयों को देखता है, यद्यपि कुछ समाज ऐसे भी हैं जिन्हें देवताओं का प्रिय अच्छा समझता है।" अच्छे समाज से यहाँ पर उन्हीं समाज से तात्पर्य है, जो धर्म के अनुरूप थे अथवा जिन समाजों में पूर्वनिर्दिष्ट दिव्यरूपों का दर्शन कराया जाता था। अत: जब समाज बन्द करवा डाले गये तो दिव्यरूपों का शासन के अन्त तक प्रदर्शित किया जाना संभव प्रतीत नहीं होता। किन्तु दिव्यरूपों (विमान, हस्ति, अग्निस्कंध आदि) के प्रदर्शन से लोग यथेष्ट संख्या में बौद्ध-धर्म की ओर झुके होंगे, इसमें संदेह नहीं। साधारण जनता को स्वर्गीय दिव्यरूपों के उपहार का प्रलोभन अवश्य ही उन्हें धर्म-पथ पर खींच लाया होगा। फलत: लोग इतनी अधिक संख्या में बौद्ध-धर्म को ग्रहण करने लगे कि सम्राट् स्वयं यह देखकर आश्चर्यान्वित हो उठे (गौण-शिलालेख प्रथम, ब्रह्मगिरी)।

मोग्गलायन के संबंध में बौद्ध-साहित्य में एक कथा दी गयी है। इस कथा से व्यक्त होता है कि सम्राट् के दिव्यरूपों के प्रदर्शन का अत्यधिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रभाव पड़ना कोई असत्य एवम् अनोखी बात न थी। कथा इस प्रकार है— "मोग्गलायन बुद्ध भगवान् के प्रमुख शिष्यों में से था। वह धर्म-प्रचार के कार्य में अद्वितीय था। उसने अगणित संख्या में लोगों को बौद्ध-धर्म में परिणत किया था। इस कारण अन्य धर्मावलंबी लोग उससे ईर्ष्या करने लगे, अतः विरोधी संप्रदायवालों ने उसका अंत करना चाहा। इस प्रकार उन्होंने मोग्गलायन के वध के निमित्त एक हत्यारे को भी नियत किया था। मोग्गलायन की शक्ति देवोपम थी। अपनी इस अलौकिक शक्ति से वह स्वर्ग में जाया करता था। वहाँ पहुँचकर वह देवताओं से उनके उच्च पद पाने का कारण पूछा करता था। इसी भाँति वह नरक में भी जाया करता था और वहाँ के दुखार्त्त जीवों से उनके दुःख का कारण पूछता था। इसके अनन्तर वह पृथ्वी में लौट आता था। यहाँ आने पर वह लोगों से अपनी इस यात्रा तथा स्वर्ग और नरक के कारणों का वर्णन किया करता था। इस वर्णन का लोगों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे अगणित संख्या में बौद्ध-धर्मी हो गये।" अतः सर्वथा स्पष्ट है कि जब एकमात्र मौखिक वर्णन का ऐसा प्रभाव होता था, तो साक्षात् स्वर्गीय उपहारों और दिव्यरूपों के प्रदर्शन का कितना प्रभाव न पड़ता होगा।

धर्म-प्रचार का दूसरा उपकरण—"प्राचीन काल में देवताओं के प्रिय राजा लोग विहार-यात्रा को निकलते थे। इस विहार-यात्रा में आखेट तथा ऐसे ही मन-बहलाव की बातें हुआ करती थीं, किन्तु प्रियदर्शी राजा ने अभिषिक्त होने के दसवें वर्ष जब संबोधि (बुद्ध-गया) की यात्रा की तबसे धर्म-यात्राएँ आरम्भ हुई।" इसमें ये बातें होती हैं—"श्रमणों और ब्राह्मणों का दर्शन तथा उन्हें दान देना, वृद्धों का दर्शन और उनको सोने का दान, जनता का दर्शन उन्हें धर्म-शिक्षा देना और यदि उचित समझा जाय तो इसी धर्म पर जिज्ञासा।" इस संदर्भ से प्रकट है कि धर्म-प्रचार के हेतु सम्राट् ने धर्म-यात्राएँ प्रारम्भ कीं। धर्म-यात्रा का स्पष्टतया उद्देश्य था लोगों से धर्म जिज्ञासा और जनता में धर्म का प्रचार। सम्राट् के इस प्रकार स्वयं धर्म-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रचार करने का जो परिणाम हुआ वह चतुर्थ शिलालेख से सर्वथा प्रकट है (बहुविधि धर्माचरण बधेति)।

धर्म का प्रचार बढ़ाने के अन्य उपायों पर विचार करते हुए ७वें स्तंभ-लेख में सम्राट् कहते हैं, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, विगत काल के राजाओं की इच्छा थी कि लोग धर्म के साथ उन्नति करें। किन्तु लोगों में धर्म की उन्नति न हो सकी। इस पर देवताओं का प्रिय कहता है, मुझे यह विचार हुआ कि विगत काल में राजाओं ने इस प्रकार अभिलाषा की। किस प्रकार लोग धर्म की उन्नति के साथ आगे बढ़ें। किन्तु लोगों में धर्म की यथेष्ट उन्नति न हो सकी। फिर किस प्रकार लोगों में धर्म-प्रचार किया जाय ? किस प्रकार लोगों को धर्म सहित उन्नत बनाया जाय ? मैं उन्हें कैसे धर्म के साथ उच्च बनाऊँ ?" इस पर देवताओं का प्रिय इस प्रकार कहता है—"मैंने यह विचार किया—मैं धर्म-संदेशों अथवा अनुशासनों को प्रकाशित करवाऊँगा तथा धर्म-विधान अथवा धर्म की शिक्षा दूँगा। धर्म की इन शिक्षाओं को सुनकर लोग उन पर आचरण करेंगे और इस प्रकार वे धर्म के साथ उन्नत होंगे।"

"इसी कारण मैंने धर्मानुशासन प्रकाशित किये हैं तथा अनेक प्रकार से धर्म की शिक्षा दी है। मेरे पुरुष भी—जो हजारों मनुष्यों के ऊपर शासन के लिए नियत हैं—धर्म-प्रचार एवं प्रसार करेंगे, रज्जुक को भी जो सौ सहस्रों प्राणियों के ऊपर शासन के लिए नियत हैं—मैंने इस प्रकार शिक्षा दी है कि वे धर्मानुरक्त लोगों को धर्म की शिक्षा दें तथा उन्हें धर्म के प्रति उत्साहित करें। अतः देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि यह विचार कर मैंने धर्म-स्तम्भ, धर्म-महामात्र स्थापित किये तथा शिलालेखों को लिखाया।" अतः सुस्पष्ट है कि धर्म-प्रचार के हेतु सम्राट् ने तीन और उपायों से काम लिया—(१) धर्मानुशासन, धर्म-लिपि, धर्म-स्तम्भ, (२) धर्म-विधान, (३) धर्म-महामात्र। इनमें से धर्म-महामात्रों का धर्म-प्रचार में प्रमुख कार्य था। जिस समय धर्म-प्रचार का भार सम्राट् ने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपने स्कंध पर लिया, उस समय विभिन्न सम्प्रदायों में पारस्परिक विरोध विद्यमान था। वे परस्पर लड़ते रहते थे। यद्यपि सब धर्मों का लक्ष्य एक था, किन्तु सैद्धांतिक विषय पृथक्-पृथक् थे और यही विरोध का भी कारण था। सम्राट् को इस विषय का पूर्ण ज्ञान था कि धर्म का प्रचार और विस्तार होना तभी सम्भव हो सकता है, जबकि विभिन्न सम्प्रदायों में शान्ति रहे। तथा सर्व-धर्मों में एक दूसरे के विचारों को सुनने एवं ग्रहण करने की सहिष्णुता हो। अतः सम्राट् ने प्रथम इसी विरोध को रोकने का उद्योग किया और इसी तात्पर्य से उन्होंने धर्म-महामात्रों को प्रथमतः नियुक्ति की। पाँचवें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "पहले धर्म-महामात्र न नियत थे, किन्तु अभिषिक्त होने के १३वें वर्ष मैंने धर्म-महामात्रों को नियत किया। वे सब धर्मों अथवा सम्प्रदायों के लिए नियत हैं। वे धर्म-स्थापना अथवा धर्म की देखभाल और धर्म की वृद्धि तथा धर्म पर आचरण करने वालों के सुख एवं हित के लिए नियत हैं।" (मानसेरा)

इस प्रकार धर्म-महामात्रों का प्रथम कार्य विभिन्न सम्प्रदायों में परस्पर मेल-जोल करना तथा उनके हित का ध्यान रखना था। बौद्ध-धर्म ग्रन्थ, संयुक्तनिकाय में सार्वजनिक हित के कुछ कार्यों का निर्देश किया गया है—जैसे—रेणु-रुद्ध प्रान्तर पर पेड़ लगवाना, फल-फूलों के वृक्ष रोपना, कुएँ खुदवाना, धर्मशालाएँ बनवाना, औषधालय निर्माण करवाना आदि। इन्हीं सार्वजनिक हित के कार्यों का ७वें स्तम्भ-लेख में सम्राट् ने उल्लेख किया है। इन सार्वजनिक कार्यों के सम्पादन का भार भी धर्म-महामात्रों पर ही था। ७वाँ स्तम्भ-लेख लिखता है, "मेरे धर्म-महामात्र अनेक प्रकार के हित-कार्यों में नियुक्त हैं।" इन हित-कार्यों का तात्पर्य धर्म के प्रचार से ही था। बौद्ध धर्म की सार्वलौकिक कल्याण भावना से प्रभावित होकर लोगों का उस धर्म की ओर झुकना स्वाभाविक था। अतः सार्वजनिक हित-कार्यों से धर्म-विस्तार में यथेष्ट सहायता मिली होगी। सम्राट् के परिवार वालों के धर्म-कार्यों का भी जनता पर उत्साहवर्द्धक प्रभाव पड़ा होगा। पाँचवाँ शिलालेख कहता है,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"यहाँ (पाटलिपुत्र में) और बाहर के नगरों में, मेरे तथा भाइयों और बहिनों के अन्तःपुर-अवरोध में तथा अन्य सम्बन्धियों के यहाँ वे (धर्म-महामात्र) नियत हैं।" इसी तरह ७वाँ स्तम्भ-लेख कहता है, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, धर्म-महामात्र तथा अन्य मुख्य धर्म-कर्मचारी, मेरे तथा रानियों के दान वितरण करने के लिए नियत हैं।" अतः स्पष्ट है कि अशोक की रानियों और कुमारों ने भी उनके मार्ग का अनुसरण कर प्रचार में, प्रजा के समक्ष आदर्श उपस्थित कर, यथेष्ट सहायता प्रदान की। सम्राट् के कुटुम्बी तथा उनकी सहचारिणी रानियों ने अनेक प्रकार से सर्वमङ्गल कार्य किये। उन्होंने सम्राट् के आदर्श को लेकर स्वयं भी कुएँ, धर्मशालाएँ आदि का निर्माण करवाया। गौण-स्तम्भ लेख चतुर्थ कहता है, "देवताओं के प्रिय का सब स्थानों के महामात्रों को यह आदेश है—दूसरी रानी ने यहाँ जो कुछ दान दिया हो, चाहे आम्र-कुंज, चाहे वाटिका या धर्मशाला, चाहे और कुछ, वे सब दान देनेवाली रानी के नाम पर लिखे जायँ। (यह द्वितीय रानी तिवारा की माँ कारुवाकी की विनय है)।"

"इसी प्रकार ये धर्म-महामात्र मेरे लड़कों तथा अन्य कुमारों (देवी अथवा रानियों के पुत्र) के दान वितरण करने के लिए नियत (७वाँ स्तम्भ-लेख) हैं।" पाँचवाँ शिलालेख कहता है, "वे (धर्म-महामात्र) आर्यों तथा भटों के लिए तथा ब्राह्मणों, गृहस्थियों, अनाथों और वृद्धों के हित और सुख के लिए नियत हैं।" अतः स्पष्ट है कि धर्म-महामात्र धर्म प्रचार के लिए नियत थे। इन धर्म-महामात्रों ने बौद्ध-धर्म की अलौकिक-सार्वलौकिक कल्याण-भावना का प्रचार कर उसके विस्तार के लिए बहुत ही सराहनीय एवं अभिनन्दनीय कार्य किया।

धर्म-महामात्रों के अतिरिक्त धर्म-प्रचार के लिए अन्य कर्मचारी भी उद्योग कर रहे थे। ७वाँ स्तम्भ-लेख लिखता है, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है—ये धर्म-महामात्र तथा अन्य मुख्य कर्मचारी,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मेरे तथा मेरी रानियों के दान बाँटने के लिए नियत हैं। वे यहाँ तथा बाहर के मेरे अन्तःपुरों में अनेक प्रकार के ऐसे धर्म-कार्यों में लगे हैं, जो अनन्त सुख के देनेवाले हैं।" राज्य के प्रमुख कर्मचारी किस तरह समय-समय पर धर्म-प्रचार के लिए दौरा किया करते थे, इस सम्बन्ध में तीसरा शिलालेख कहता है—"देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, अभिषिक्त होने के १२वें वर्ष मैंने इस प्रकार अनुशासन दिया कि प्रत्येक पाँचवें वर्ष युक्त, रज्जुक और प्रादेशिक सर्वत्र, मेरे विजित राज्य में और राज्य-कार्य के अतिरिक्त धर्म-प्रचार के लिए दौरा करें" (गिरनार)। पुनः ७वाँ स्तम्भ-लेख कहता है, "धर्म-वृद्धि तथा धर्म-प्रचार के हेतु मैंने धर्मानुशासनों को प्रकाशित किया है और कई प्रकार के धर्म-विधान धर्म-प्रचार का आदेश दिया है। इसीलिये कि मेरे पुरुष भी, जो बहुत से आदमियों के ऊपर शासन के लिए नियत हैं धर्म का प्रचार और प्रसार करें। रज्जुकों को भी, जो सौ सहस्रों प्राणियों पर शासन के लिए नियत हैं, इस प्रकार आदेश दिया है कि धर्म-युक्त लोगों को धर्म के लिए उत्साहित करें।" अतः प्रकाशित है कि धर्म-प्रचार के मुख्य अधिकारी युक्त, रज्जुक, प्रादेशिक तथा पुरुष थे—(शिलालेख तीसरा और ७वाँ स्तम्भ-लेख)। इन धर्म-महामात्र तथा मुख्य अधिकारियों का कार्य सर्व-सम्प्रदायों और जनों में धर्म की वृद्धि करनी थी। इसी प्रकार धर्म-प्रचार तथा धर्म-प्रसार का शुभ और कल्याणमय कार्य सीमान्त प्रदेशों, जैसे यवन, कम्बोज, गान्धार तथा अपरन्ता के अन्य प्रदेश, राष्ट्रिक, पैठानिक, नाभाक या नाभपन्ति में भी किया जाता था। स्पष्ट है कि धर्म-प्रचार, धर्म-वृद्धि एवं सर्वमङ्गल और कल्याण ही सम्राट् अशोक ने अपना प्रथम और प्रमुख कर्त्तव्य मान रखा था।

पशु आदि जीवों के प्रति जो हित-कार्य सम्राट् ने किया, वह भी धर्म-प्रचार के रूप में बड़े महत्व का है। अतः पशुओं के प्रति जो हित का कार्य किया गया, उस पर विचार करना आवश्यक है। इस कल्याण-कार्य के दो आकार हैं; पहला प्राणियों में संयम और अहिंसा—(शिलालेख—९,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

६, ४, ३, २, १) द्वितीय पशुओं के प्रति उनके मङ्गल और स्वास्थ्य-वृद्धि या रक्षण और भरण-पोषण का कार्य—(७वाँ स्तम्भ-लेख, २ स्तम्भ-लेख ६, २ शिलालेख)।

शिलालेख प्रथम कहता है, "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने यह धर्म-लिपि लिखवाई। यहाँ (पाटलिपुत्र अथवा विजित राज्य में) कोई पशु यज्ञ अथवा होम के लिए न मारा जावे।"

तीसरे शिलालेख में धर्म के लक्षणों को बतलाते हुए सम्राट् कहते हैं—"माता-पिता की सेवा करना स्तुत्य है, मित्र, परिचितों, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति उदारता सराहनीय है तथा प्राणियों की हिंसा न करना प्रसंशनीय है।" अहिंसा-धर्म का बहुत महत्व है, यह सिद्धान्त सनातन-धर्म में सूक्ष्म-धर्म के अन्तर्गत लिया गया है। इस सर्व-हितकारी धर्म का महाभारत ने प्रसन्नता के साथ अभिनन्दन किया है। (देखिए महाभारत २६२ प्रकरण, अध्याय १०-३०—वैश्यकुलोत्पन्न धर्मार्थ तत्व-ज्ञानी तुलाधार ने जाजलि से इस प्रकार कहा—"मैं सर्व-हितकारी प्राचीन सनातन धर्म को जानता हूँ" इस प्रकार उससे धर्म-वर्णन करते हुए अन्त में कहते हैं "सारांश यह कि अहिंसा से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।" अतः सम्राट् ने इस महान् तत्व का प्रचार करने के हेतु हिंसा का निषेध करवाया। इस सिद्धान्त का प्रचार लोगों में धर्म लक्षण बतलाकर किया गया और इस पर भी जो लोग न माने, उनसे हिंसा के विरुद्ध अनुशासन निकालकर इसका पालन करवाया। पाँचवाँ स्तम्भ-लेख सम्राट् के उन उपायों का उल्लेख करता है, जिनके द्वारा हिंसा रोकने का प्रयत्न किया गया था। यह स्तम्भ-लेख इस प्रकार है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है कि अभिषिक्त होने के २६वें वर्ष मैंने निम्न पशुओं को मारने का निषेध करवाया—जैसे "तोता, मैना, अरुण, हंस, वन-हंस, नन्दीमुख, सारस (बक), जलुका (चमगीदड़), चींटी, मछलियाँ, विदर्भी (विशेष मछली), संकुच मच्छ, कछुआ, कपाट-शय्यका, प्राणशाश, बारहसिंहा, ओकपिंडा, बतक,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्वेत बतक और पालतू बतक तथा अन्य चतुष्पद जो न किसी काम में आते हैं और न खाये जाते हैं। बकरी, मेषी, शूकरी (बराही), जो नव-प्रसूता है या जो दूध देती है, न मारी जायँ तथा उनके बच्चे जो ६ महीने से कम हैं वे भी न मारे जायँ। मुर्गों को मारने की अनुज्ञा नहीं है। जिस भूसे में जीव हो, वह फूँका न जाय। बिना प्रयोजन तथा प्राणियों की हिंसा के कारण जंगल जलाये न जायँ। जीव का पोषण जीव से न होना चाहिए, तीन चातुर्मासों तथा तिष्य (पौष महीना) पूर्णिमा के दिवस मछली न तो मारी जा सकती है न वेचो जा सकती है। ऐसा तीन दिनों तक होगा, अर्थात् प्रथम पक्ष के १४वें और १५वें दिन और दूसरे पक्ष के पहले दिन तथा अन्य उपवास के दिनों में भी इस आज्ञा का पालन करना होगा।

"इन्हीं अवसरों पर हाथियों के जंगल (नागवनसी) और केवट भोग-स्तेयों में अन्य प्रकार के पशु न मारे जायँ। प्रत्येक पक्ष के आठवें, चौदहवें, पन्द्रहवें तिथि पर तथा तिष्य और पुनर्वसु दिवस के अवसर पर तथा तीन चातुर्मासों के पूर्णिमा दिवसों और उत्सवों के अवसर पर घोड़े, बैल, गाय, बकरों, भेड़ों, शूकरों तथा अन्य पशुओं को न दागा जायगा।"

इस प्रकार सम्राट् ने धर्म के परम सिद्धान्त अहिंसा (अहिंसा परमो धर्मः) का प्रचार कर, पशुओं के बध को रोकने का प्रयत्न किया, किन्तु इस निषेध विधि से अधिक सफलता न प्राप्त हो सकी। उन्हें यह प्रतीत होने लगा कि धर्म का सत्य रूप से प्रचार तभी संभव है, जब लोग स्वयं अंतर्दृष्टि से इस पर मनन करें। मालूम होता है कि अभी तक पूर्ण रूप से यज्ञादि कर्म होते ही रहते थे जिसके फलस्वरूप प्राणियों की होम के लिए हिंसा की जाती थी। इसीलिए सम्राट् चाहते थे कि लोग स्वयं अन्तर्ज्ञान से विचार कर यह देखें कि क्या सकाम होकर यज्ञ करना ठीक है या मानसिक यज्ञ करना उचित है जिससे सर्व-कल्याण की प्राप्ति हो। (महाभारत २६वाँ अध्याय—२०, ३०—ज्ञानवान ब्राह्मण अपने को यज्ञ की सामग्री समझकर, प्राणियों पर दया करने के निमित्त, मानसिक यज्ञ करते हैं)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किन्तु सकाम ब्राह्मण हिंसात्मक यज्ञ करते हैं। सम्राट् ने लोगों में अंतर्ज्ञान को उत्पन्न करने का उद्योग किया और उसमें सफल भी हुए। सातवाँ स्तंभ-लेख लिखता है, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, जनता के धर्म का प्रचार दो प्रकार से किया गया। एक धर्मानुशासनों के द्वारा और दूसरा विचार, अन्तर्विचार (मिजहनिया—निजहति वलम्) के द्वारा। किन्तु इन दोनों में से धर्मानुशासन अधिक प्रभाव पूर्ण नहीं है, लेकिन अन्तर्विचार के द्वारा धर्म का यथेष्ट प्रचार हो सकता है। धर्मानुशासन इग प्रकार से है कि मैंने आज्ञा दी कि अमुक-अमुक पशु (जीव) न मारे जावें तथा अन्य इसी प्रकार की आज्ञाएँ मैंने निकालीं। किन्तु वस्तुतः अन्तर या मानसिक ज्ञान द्वारा ही लोगों की धर्म में अधिक अनुष्ठि हुई और प्राणियों में संयम अथवा यज्ञ आदि के लिए जीवों की हिंसा का होना वन्द हुआ।

यथार्थतः स्वकामी मनुष्य ही मिथ्याधर्म पर आचरण करते हुए अपने लाभ के लिए हिंसात्मक यज्ञ किया करते हैं। ऐसे हिंसात्मक यज्ञों से पुण्य के वजाय अपुण्यात्मक कर्मों की ही उत्पत्ति होती है (महाभारत—२६३, अध्याय १०)। किन्तु जव आदमी सच्चे ज्ञान को प्राप्त होते हैं तव वे अपना ही होम करने को उद्यत रहते हैं। क्योंकि वे सकामी अथवा लोभियों की तरह स्वर्ग आदि उपहार पाने के लालच से हिंसात्मक यज्ञ के विपरीत, मानसिक यज्ञ अथवा प्राणियों पर दया करने लगते हैं (महाभारत—२६३, अध्याय १०)। इसी प्रयोजन से सम्राट् ने अहिंसा और सर्वकल्याण की भावना का प्रचार करने के लिए प्रथमतः "निजहति" (अन्तर्ज्ञान) के सिद्धान्त का प्रचार किया और इस प्रकार धर्म के सूक्ष्म सिद्धान्तों, अहिंसा और सर्वमङ्गल के पालन का भार लोगों की ही अभिरुचि एवं स्वमनन (निजहति) पर छोड़ दिया। इस तरह के प्रचार का अवश्य ही अच्छा प्रभाव पड़ा होगा। सम्राट् स्वयं कहते हैं, "अन्तर्विचार, मानसिक ज्ञान (निजहति) द्वारा ही प्राणियों में संयम या अहिंसा-धर्म का प्रचार बढ़ा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है।" अतः स्पष्ट है कि निजहति द्वारा ही सम्राट् "अनारंभी प्राणानां और अहिंसा भूतानां" के विमल सिद्धान्तों का सर्वत्र प्रचार करने में सफलीभूत हुए। यही कारण है कि सम्राट् धर्म-प्रचार करनेवाले तथा अन्य कर्मचारियों को भी निजहति के माध्यम से धर्म प्रचार करने का आदेश देते हैं।

जीवों के पालन-पोषण, रक्षण एवं स्वास्थ्य-वृद्धि के लिये जो कार्य सम्राट् ने किये, वे निःसंदेह अत्यन्त महान् और सराहनीय हैं। ७वाँ स्तम्भ-लेख कहता है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, मार्ग पर मैंने वट-वृक्षों को लगाया ताकि वे पशुओं और मनुष्यों को छाया का सुख दें, आम्र-कुंज लगवाये गये और प्रत्येक दो मील (एक कोस) पर कुएँ खुदवाये, धर्मशालाएँ बनवाईं और पेय (आपनानी) अथवा पानी पाने के स्थान सर्वत्र (यहाँ अपने विजित राज्य में तथा अन्य राज्यों में) मैंने पशु और मनुष्यों के सुख हेतु निर्माण करवाये।" अशोक की महानता उनके कार्यों से प्रकट है। वे कितने समदर्शी थे यह उनके कथन से स्पष्ट है। उनका बीजमन्त्र सर्वभूतानां था, न कि "मनुष्याणां"। अशोक ने कभी भी किसी प्राणी की उपेक्षा न की; उनके समक्ष जीवमात्र का मूल्य समान था, उनकी कृपा मनुष्य एवं पशु आदि पर एक रूप से थी। इस कथन की सत्यता द्वितीय शिलालेख में पूर्णतया स्पष्ट है। सम्राट् कहते हैं—"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के विजित राज्य में तथा जो और सीमांत प्रदेश हैं, जैसे चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी के प्रदेश तथा अन्तियोकस नामक यवन राजा और अन्य राजागण जो उस अन्तियोकस के पड़ोसी हैं—हर एक जगह देवताओं के प्रिय ने चिकित्सकों का दो तरह का प्रबन्ध किया है—मनुष्यों की चिकित्सा और पशुओं की चिकित्सा। औषधियाँ जो मनुष्यों के लिए लाभदायक हैं और जो पशुओं के लिए उपयोगी हैं, जहाँ-जहाँ नहीं हैं वहाँ-वहाँ भेजी गईं और रोपी गईं। इसी तरह जड़ें और फलों के वृक्ष भी जहाँ-जहाँ नहीं पाये जाते वहाँ-वहाँ भेजे गये और रोपे गये। मनुष्य तथा पशु दोनों के सुख के लिए सड़कों पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुएँ खुदवाये गये और पेड़ रोपे गये।" स्पष्ट है कि सम्राट् जब कभी भी किसी हित-कार्य को करते हैं, तो पशुओं का उल्लेख करना वे कभी नहीं भूलते। सम्राट् ने प्राणीमात्र को अभयदान, करुणादान और कल्याणदान प्रदान किया। सम्राट् की मौलिकता एवं एकरूपता की किसी भी शब्द अथवा वाक्य से प्रशंसा नहीं की जा सकती। उनकी मानसिक विशालता महान् थी और उनकी मौलिकता पूर्णतया नूतन थी। आज संसार अपने को पूर्ण सभ्य एवं सुसंस्कृत समझता है, किन्तु आज मनुष्य की जो दुर्गति है और वे लोग जैसे पीड़ित हैं, इसका विचार आते ही कोई भी सदय व्यक्ति दो बूँद करुणा के आँसू अवश्य बहा देगा। ऐसी अवस्था में यदि आज के पशुओं की भी दयनीय दशा है तो कोई आश्चर्यजनक घटना न समझी जानी चाहिए। आज मनुष्यों के लिए खाना तक पर्याप्त नहीं है, तब सुव्यवस्थित चिकित्सालयों का न पाया जाना असङ्गत नहीं हो सकता और पशुओं के प्रति तो कहने की भी आवश्यकता नहीं विदित होती। अतः आजकल जब सर्व-प्रकार की सुविधाओं का आधिक्य होने पर भी पशुओं और मनुष्यों के लिए सुव्यवस्थित चिकित्सालयों का पूर्णता से प्रवन्ध नहीं है, तो सर्व प्रकार की असुविधाओं के होते हुए भी ढाई हजार वर्ष पूर्व के प्राचीन काल में सम्राट् अशोक दृढ़ता एवम् व्यवस्थापूर्वक दोनों प्रकार के चिकित्सालयों द्वारा पशुओं और मनुष्यों के हितकार्य करने में दत्तचित्त थे। यह भी स्मरण रहे कि ये हितकार्य (अर्थात् पशुओं और मनुष्यों के लिए चिकित्सालय आदि का निर्माण या स्थापित करना) सम्राट् ने अपने ही राज्य में न किये, अपितु वैदेशिक राज्यों—चोड़, पांडच, सत्यपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी के राज्यों तथा अंतियोकस, यवन, कम्बोज, राष्ट्रिक, पैठानिक, नाभाति, मग, तुरमय, अलिकसुन्दर, अेंटिगोनस के यवन राज्यों (१३वाँ शिलालेख और दूसरा शिलालेख) में भी उनका प्रबंध किया। सम्राट् अशोक की विश्ववन्धुता का इससे बड़ा और क्या प्रयोग हो सकता है? महाभारत के नियोगानुसार सम्राट् पूर्ण और सच्चे ब्राह्मण थे, क्योंकि वे नित्य—"सर्व-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भूतानां अक्षतिं च समचेरां च, संयम् च, मोदवं च" का ही जाप अथवा मानसिक यज्ञ किया करते थे। महाभारत कहता है[1]—"ज्ञानवान ब्राह्मण अपने को यज्ञ की सामग्री समझकर, प्राणियों पर दया करने के निमित्त मानसिक यज्ञ करते हैं।"

विविध देशों में धर्म का प्रचार—विविध देशों में धर्म-प्रचार के आरम्भ का श्रेय, जैसा कि हम इस प्रकरण के आरम्भ में कह चुके हैं। समाट् अशोक को ही प्राप्त है। उनका कार्यक्षेत्र सीमावद्ध न था। उनका सिद्धांत ही सर्वभूतानां था, अतः विजित राज्य के अतिरिक्त इस धर्म-कार्य (सर्व कल्याण हेतु) के प्रचार का सर्वत्र वाह्य देशों में भी नियमन किया गया। वाह्य देशों में धर्म-प्रचार करने के लिए दो उपाय काम में लाये गये। प्रथम—सम्राट् ने स्वयं राजकोय कर्म्चारियों को नियुक्त किया, द्वितीय—धर्म-प्रचारक सङ्घ की स्थापना की गयी। पहली व्यवस्था के प्रमाण शिलालेख हैं, किन्तु दूसरी व्यवस्था का आधार पाली साहित्य की गाथाएँ ही हैं। यहाँ पर पहले हम शिलालेखों वाली व्यवस्था का निरूपण करेंगे। १३वाँ शिलाभिलेख इस प्रकार लिखता है—"धर्म-विजय को ही देवताओं का प्रिय प्रमुख विजय मानता है। यह विजय देवताओं के प्रिय को अपने विजित राज्य और सब सीमान्त प्रदेशों में तथा छः सौ योजन तक जहाँ यवनराज अन्तियोकस राज्य करता है तथा उसके पास जो अन्य चार राजा तुरमय, अन्टिगोनस, मग और अलिकसुन्दर हैं तथा नीचे (दक्षिण में) चोड़, पांड्य और ताम्रपर्णी के राज्य हैं, सब जगह प्राप्त हुई हैं।" इस विवरण से प्रकाशित है कि सम्राट् की इन विदेशी राज्यों में धर्म-प्रचार करने में यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई है। इस धर्म-प्रचार की सफलता के क्या कारण थे अथवा किन उपायों या उपकरणों द्वारा वे वैदेशिक राज्यों में धर्म-

---

[1]शांतिपर्व, प्रकरण २६३, अध्याय २०, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रचार कर सके ? निःसन्देह इस कार्य के लिए धर्म-प्रचार करनेवाले कर्मचारी नियुक्त किये गये होंगे। १३वाँ शिलालेख लिखता है—"देवताओं के प्रिय के धर्म का सर्वत्र अनुसरण हो रहा है। उन राज्यों अथवा देशों के लोग भी, जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जा सकते, देवताओं के प्रिय का धर्माचरण सुनकर, धर्म पर आचरण करते हैं और करेंगे। यह धर्म-विजय सर्वत्र प्रेम को देने वाली है। धर्म-विजय से ही स्नेह प्राप्त होता है।" इस कथन से प्रकट है कि विदेशों में धर्म के प्रचार के लिए 'दूत' नियत थे। दूतों के अतिरिक्त प्रथम स्तम्भ-लेख अन्त-महामात्रों का भी उल्लेख करता है। विदित होता है कि विदेशों में ये दोनों (दूत और अन्त-महामात्र) ही धर्म-प्रचार कार्य किया करते थे। उपरोक्त विवरण से यह भी विदित होता है कि विदेशों में धर्म-प्रचार कार्य बड़ी निपुणता और सक्रियता के साथ किया गया था। सम्राट् के धर्म-प्रचार के फल से बौद्ध धर्म निम्न राज्यों में पूर्ण रूप से विजय पा चुका था, जैसे—भारत (अपना राज्य), अन्तियोकस, तुरमय, अंटिगोनस, पैठानिक, राष्ट्रिक, मग, अलिकसुन्दर, कम्बोज, नाभाक, नाभपंति, आंध्र (के राज्यों), अथवा सीरिया, मिस्र, मैसीडोनिया, इपीरस, कैरीन तथा दूरस्थ दक्षिणी चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी (के राज्य)।

इन राज्यों के अतिरिक्त चीन और ब्रह्मा आदि में भी बौद्ध-धर्म ने विजय प्राप्त कर ली थी। इसका प्रमाण निम्न संदर्भ से प्राप्त होता है—"उन देशों के लोग भी जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जा सकते, देवताओं के प्रिय का धर्माचरण सुन कर, धर्म पर आचरण करते हैं और करेंगे।" (भण्डारकर—अशोक, पृष्ठ १६०)।

मालूम होता है कि धर्म-प्रचार करने वाले नवीन कर्मचारी—दूत, अंत-महामात्र और धर्म-महामात्र आदि का सरकार की ओर से एक पृथक् विभाग स्थापित किया गया था। सम्राट् की यह योजना अभूतपूर्व थी। जैसा कि पूर्वनिर्दिष्ट कर चुके हैं, इनके कार्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ये लोग (केन्द्रीय) शासन की परिधि से भी विमुक्त थे। उनके कार्य की व्यापकता पाँचवें और १३वें शिलालेख से सर्वशः स्पष्ट है। संक्षेपतः राज्य के इन कर्मचारियों को अपने "देवताओं के प्रिय" तथा वाह्य राजाओं, सबकी सेवा करनी थी। यह सब अशोक की महानता के परिचायक हैं (शिलालेख—द्वितीय)।

अशोक एक महान् ऋषि एवं पुरुष हुए हैं। अशोक की मानवता अभिनन्दनीय है और उनकी मौलिकता सराहनीय। वे प्रथम धर्म-प्रचारक थे और धर्म-प्रचारक मिशनों (दूतों) के योजक भी। अकेले अशोक ने जो धर्म-प्रचार कार्य रूप में प्रदर्शित किया तथा जितना विस्तार अशोक ने धर्म का किया, उतना आज तक किसी धर्म-मिशनरी ने भी न किया होगा; यद्यपि २०वीं शताब्दी के वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप आज आवागमन आदि अनेकों कठिनाइयाँ हल हो चुकी हैं, किन्तु अशोक धन्य हैं। उनका पराक्रम सराहनीय है, जिन्होंने प्राचीनतम काल की सम्पूर्ण विकट अवस्थाओं तथा बाधाओं की भी चिन्ता न करके दूरस्थ यवन, सीरिया, मिस्र, कैरीन आदि राज्यों पर धर्म की कल्याणमयी विजय, एक बार नहीं कितनी ही बार उपलब्ध की। (१३वाँ शिलालेख)।

सम्राट् की धर्म-विजय पर कटु आक्षेप—यूरोपीय विद्वान् सम्राट् के यवन राज्यों (अंतियोकस, तुरमय, अंटिगोनस, राष्ट्रिकों, पैठानिकों, मग, अलिकसुन्दर, कम्बोज, नाभाक आदि—१३वाँ शिलालेख) पर विजय पाना अथवा धर्म-प्रचार करना असम्भव ही नहीं, अपितु असत्य मानते हैं।

राइज़ डैविड्स अपनी पुस्तक बुद्धिस्ट इण्डिया में लिखते हैं, "यह कहना असम्भव है कि इस (धर्म-विजय) में कितना अंश राजकीय प्रलाप से भरा है। यह पूर्ण रूप से सत्य भासित होता है कि यवन राज्यों पर धर्म की विजय पाने का उल्लेख केवल अपने कार्य का महत्व बढ़ाने के लिए किया गया है, अथवा जोर देने के लिए है। वस्तुतः वहाँ पर किसी भी प्रकार का धर्म-प्रचार न किया गया और न कोई धर्म-प्रचारक अथवा मिशनरी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यवन राज्यों तक भेजे गये और यदि वे भेजे भी गये हों तो यह किसी तरह सम्भव नहीं हो सकता कि भारतीय धर्म का यूनानी धर्म पर कुछ प्रभाव पड़ा होगा। अत: सम्राट् अशोक का यवन राज्यों पर धर्म-विजय का इस भाँति परिणाम दिखलाना, उन (सम्राट्) के गर्व का सूचक है। ग्रीक जाति कभी इस बात को सहन नहीं कर सकती थी कि भारतीय जैसी असभ्य वर्बर जाति उनको धर्म की शिक्षा दे। यह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं कि एक भारतीय राजा के धर्मानुशासन पर यूनानी लोग अपने देवताओं और धर्म तत्त्वों को ठुकरा देते।''

पाश्चात्यों की सभ्यता की नाप साधारणतया शक्ति या पशुवल से की जाती है। जो जाति सबल हैं, जिसमें औरों को ठुकराने की यथेष्ट शक्ति है, उसे यूरोपीय लोग सभ्य मानने के लिए सर्वदा तत्पर हैं। किन्तु जो सरल और सदय हैं उन्हें वे निर्बल, निरा पशु समझते हैं। किन्तु स्मरण रहे कि मौर्यों के समय भारतीय केवल सरल ही नहीं सबल भी थे। उस समय पाश्चात्य म्लेच्छों के दाँत खट्टे करने वाले प्रगल्भ अभूतपूर्व पराक्रमी चन्द्रगुप्त सदृश क्षत्रियों की भुजा में उष्ण रक्त दौड़ रहा था, जिसकी वीरता ने अभिमानी सिकन्दर को भी चकित कर एवं उसके वीर जेनरल सिल्यूकस को पराजित कर, पाश्चात्य जगत को अभिभूत कर दिया था। ग्रीक जाति भारतीय सभ्यता को मान गयी और समकक्ष ही नहीं, अपितु महान् समझ कर, भारत को ग्रीक कन्या अर्पण कर गयी। इस प्रकार प्रथम मौर्य चन्द्रगुप्त की यूनानियों ने पूजा कर उसकी महानता को स्वीकार करते हुए अपना जामाता बनाया था। सिल्यूकस का राजदूत मेगस्थनीज तब भारतीय मौर्य दरबार में आकर रहने लगा (३०२ ई० पू०)। तत्पश्चात् निरन्तर यूनानी राजाओं के दूत भारत में आते-जाते रहे। तब से दूतों का आवागमन क्रमबद्ध-सा हो गया। मिस्र के राजा फिलाडेलफस ने भी अपना दूत मौर्य दरबार में भेजा था। इस प्रकार बिन्दुसार के समय दूतों का आवागमन वर्तमान था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अशोक के समय विदेशों को दूत भेजा जाना १३वें शिलालेख से प्रत्यक्ष है, किन्तु अशोक के समय इन दूतों का राजनीतिक सम्बन्ध के बजाय धर्म-सम्बन्ध से अधिक तात्पर्य था। वे धर्म-प्रचार के हेतु ही भेजे जाते रहे। विदेशों में धर्म-प्रचार करनेवाले इन दूतों को अन्त महामात्र भी कहा जाता था, (स्तम्भ-लेख प्रथम)। कलिङ्ग शिलालेख द्वितीय से सम्राट की सीमान्त नीति का हमें पूर्ण आभास मिल जाता है। इस शिलालेख में सम्राट् कहते हैं—"अविजित (अविजिता) सीमांत प्रदेश (अन्तानां) यह पूछें कि 'सम्राट् का हमारे प्रति क्या विचार (इच्छा)है ? सीमांत प्रदेशों के प्रति मेरी यही इच्छा है कि वे इस बात को समझें कि वे सम्राट् के कोप से स्वतन्त्र रहें, किन्तु मुझ पर विश्वास करें कि मेरे द्वारा दुःख के अतिरिक्त सुख ही पायेंगे तथा वे यह भी समझ लें कि सम्राट् जो क्षमा के योग्य है उसे क्षमा करेंगे, सम्राट् उनको धर्माचरण पर लाना चाहता है, जिससे वे इहलोक और परलोक दोनों में सुख को प्राप्त हों।" इस विवरण से यह भी पता चलता है कि ये सीमान्त प्रदेश यद्यपि विजित (अर्थात् राज्य के अंतर्गत) न थे, किन्तु वे सम्राट् के प्रभाव में अवश्य थे अथवा अर्द्ध-स्वतन्त्र थे और उनकी स्वतन्त्रता नियमित थी, अर्थात् धर्माचरण एवम् अच्छे या उत्तम व्यवहार पर निर्भर थी (सके छमनिवर्क्रे—जो क्षंतव्य है वह क्षमा किया जायगा अन्यथा दण्ड दिया जायगा)। इन राज्यों के लिए अपरन्ता (५वाँ शिलालेख) कहा गया है। उनके नाम इस प्रकार हैं—यवन, कम्बोज, गांधार, राष्ट्रिक, पैठानिक आदि। (शिलालेख १३वाँ) अतः अर्द्धस्वतंत्र या प्रभाव में होने के कारण ये लोग सम्राट् के धर्माचरण अथवा धर्मानुष्ठि पर आचरण करते होंगे, इसमें सन्देह नहीं (देखिए नोट—१३वाँ शिलालेख में)। इनके अतिरिक्त अन्य यवन राजा (अन्ता) जो स्वतन्त्र थे, वहाँ सम्राट् ने धर्म-विजय पायी थी। यह धर्म-विजय सम्राट् ने अपने माङ्गलिक कार्यों के फलस्वरूप प्राप्त की थी। द्वितीय शिलालेख कहता है कि सम्राट् ने इन सीमान्त राज्यों में भी पशुओं और मनुष्यों दोनों के लिए चिकित्सालय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थापित किये थे तथा अन्य धर्म-हित और धर्म से आनन्द लेनेवाले उपकरणों का नियम करवाया था (देखिए, स्तम्भ-लेख प्रथम)। उपसंहार में कह सकते हैं कि 'अपरन्ता' वालों ने सम्राट् की सुनीति और बल से प्रभावित होकर धर्म पर आचरण किया और 'अन्ता' वालों ने सम्राट् की विश्वमैत्री एवं तादात्म्य से प्रभावित होकर बौद्ध-धर्म को अंगीकृत किया। निःसन्देह सम्राट् अशोक में विश्वबन्धुता थी और इसीलिये उन्होंने सबके हित के लिए समान रूप से कार्य किया। सम्राट् जिस प्रकार अपने विजित प्रदेश को प्रजा को मानते थे और उनका हित चाहते थे उसी तरह वे सीमान्त के वैदेशिक राज्यों की कल्याण-कामना के भी अभिलाषी थे। (द्वितीय शिलालेख, १३वाँ शिलालेख और स्तम्भ-लेख प्रथम)।

सम्भव है कि हर्षातिरेक में सम्राट् ने कुछ बढ़ा-चढ़ाकर कह दिया हो, किन्तु यह कहना कि यवन अथवा यूनानी प्रदेशों में धर्म-विजय या प्रचार का उल्लेख करना केवल सम्राट् का प्रलापमात्र है, सत्य पर आक्षेप लगाना है तथा कोई भी प्रकृतिस्थ या अनुन्मत्त व्यक्ति इस प्रकार नहीं कह सकता। डेविड्स का कथन यथार्थ में गौरवर्ण की अहंकारिता का निर्देशक है, जिस रोग से पाश्चात्य लोग सर्वदा से पीड़ित रहे हैं। अतः सम्राट् ने जो कुछ कहा या लिखा है वह निःसन्देह सत्य है।

भारतीय सत्यता और संस्कृति आदि से उच्च और महान् रही है। आर्य संस्कृति ने किस पर अपना प्रभुत्व न जमाया। यूनानी, शक, हूण आदि जो भी भारत आये सबको भारतीय संस्कृति के समक्ष अपना मस्तक झुकाना पड़ा। इसके प्रति हमारे पास कई बहुमूल्य प्रमाण विद्यमान् हैं। जब सिकन्दर महान् भारतवर्ष में था, उसने एक भारतीय दार्शनिक (यूनानियों ने उसका नाम मैनडनिस दिया है) की बहुत प्रशंसा सुनकर उसे देखने की अभिलाषा प्रकट की। अतः दार्शनिक को बुलाने के लिए दूत भेजा गया। दूत ने दार्शनिक के पास जाकर कहा, "सम्राट् सिकन्दर तुम्हें बुलवाते हैं। यदि साथ चलोगे तो तुम्हें पुरस्कार दिया जायेगा अन्यथा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मृत्यु का दण्ड पाओगे।" यह सुनकर दार्शनिक ने कहा, "मुझे मनुष्य के देन की कोई चिन्ता नहीं है। मुझे धमकियों का भी कोई भय नहीं है, क्योंकि यदि जीवित रहूँगा तो मुझे भली प्रकार भोजन दे सकता है और यदि मार दिया गया तो मेरी आत्मा बन्धन रहित हो जावेगी ·····और पुनः दिव्यरूप प्राप्त होगा।" जब सिकन्दर ने यह उत्तर पाया तो वह आश्चर्यान्वित हो उठा। उसने ऐसे महान् पुरुष की अत्यन्त प्रशंसा की और उस दार्शनिक को फिर कभी न छेड़ा।[१] इस विवरण से स्पष्ट है कि मौर्यों के समय भारतीय सभ्यता एवं पौरुष का लोहा सिकन्दर सदृश यूनानियों को भी स्वीकार करना पड़ा था। ऐसी दशा में यदि अशोक के सर्व-मङ्गलकारी धर्म का यूनानियों पर प्रभाव पड़ा हो तो इस पर सन्देह न होना चाहिये। सम्राट् के धर्म से प्रभावित होने का यह भी कारण रहा है कि उन्होंने धर्म के निगूढ़ तत्त्वों "अनारंभो प्राणानां" और "अहिंसा-भूतानां" आदि का प्रचार मौखिक ही न किया, अपितु प्रयोगों द्वारा उन्हें चरितार्थ भी किया, (शिलालेख द्वितीय, ७वाँ स्तम्भ-लेख)। अतः इस सार्वभौमिक एवं सार्वलौकिक मङ्गलमय धर्म का यूनानियों पर प्रभाव पड़ना और सम्राट् की विजय (धर्म-विजय) प्राप्त करना असंगत बातें नहीं हो सकतीं।

आर्य संस्कृति से प्रभावित होकर एक यवन बौद्ध धर्म ग्रहण कर भिक्षु बन गया था। इस यवन भिक्षु का भारतीय नाम 'धर्मरक्षित' मिलता है। अपरन्ता में धर्मरक्षित द्वारा ही धर्म का प्रचार हुआ था। अतः अपरन्ता आदि यवन प्रदेशों में सम्राट् की धर्म-विजय का एक कारण यह भी था कि स्वयं यवन लोग धर्म-प्रचारक संघ में सम्मिलित होकर सहयोगी बन गये थे।

---

[१] Mc Crindle Ancient India, Megasthenese and Arian, Page 107.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यदि पश्चिमी एशियाई देशों के धार्मिक इतिहास का अध्ययन किया जाय तो प्रकट होगा कि ईसाई तथा अन्य धर्म जैसे—इस्सेनिस् थीरापन्टी आदि पाखंडों (धर्मों अथवा सम्प्रदायों) पर बौद्ध-धर्म का यथेष्ट प्रभाव पड़ा था।[1] इस वृत्त को लक्ष्य में रखकर डाक्टर भण्डारकर कहते हैं, "पश्चिमी एशियाई धर्मों पर बौद्ध-धर्म का प्रभाव पहली ई० के पूर्व तक अंकित किया जा सकता है। स्पष्ट है कि इसका कारण इन प्रदेशों में सम्राट् अशोक द्वारा (धर्म-विजय) धर्म-प्रचार किया जाना ही था।"

धर्म-विजय काल की तिथि—१३वाँ शिलालेख बहुत से स्वतन्त्र और अर्द्ध-स्वतन्त्र सीमान्त प्रदेशों तथा अन्य प्रदेशों का उल्लेख करता है, जहाँ सम्राट् के धर्म-प्रचारकों को धर्म के प्रचार करने में यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई थी। १३वें शिलालेख में यह भी कहा गया है कि यह धर्म-विजय विजित राज्य तथा सीमांत के प्रदेशों में बार-बार उपलब्ध हुई (सो च पुन लधो देवानांप्रियस् इह च सवेसु च अंतेपु)। इस शिलालेख की तिथि २५८ ई० पू० मानी जाती है। अतः प्रकाशित है कि २५८ ई० पू० से पहले ही इन सीमान्त विदेशी प्रदेशों में धर्म-प्रचार हो चुका था, क्योंकि २५८ ई० पू० की विजय कम से कम द्वितीय बार उपलब्ध हुई विदित होती है। १३वें शिलालेख में जिन यवन राजाओं का उल्लेख है वे सामूहिक रूप से २५८ ई० पू० तक अशोक के समकालीन रहे, क्योंकि उनमें से एक राजा मग (मक) की मृत्यु २५८ ई० पू० में हुई थी। अतः २५८ ई० पू० विदेशों में धर्म-प्रचार की पूर्ववर्तिनी तिथि मानी जा सकती है। महावंश से भी व्यक्त होता है कि धर्म-प्रचारक मण्डल का कार्य २५३ ई० पू० में अत्यधिक उत्साह के साथ प्रारम्भ हो चुका था।

---

[1] देखिए—Buddism and its Christian Critics, pp. 215-216 Also see V. A. Smith's Early History of India, 3rd Ed., p. 188.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विदेशों में धर्म प्रचारक मण्डल का कार्य (गाथाओं से) — महावंश आदि से मालूम होता है कि कई एक बौद्ध धर्म के आचार्य विदेशों में बड़े उत्साह एवं उद्योग के साथ धर्म का प्रचार कर रहे थे। महावंश प्रकरण ५–२८०) लिखता है कि अशोक के अभिषेक के १७वें वर्ष, पाटलिपुत्र मे, सम्राट् के रक्षण और मोग्गलिपुत्त तिस्स या उपगुप्त—जैसा कि उत्तरीय गाथा कहती हैं—की अध्यक्षता में, बौद्ध-धर्म की तीसरी महासभा हुई थी। इस सभा के विसर्जन होने पर उपगुप्त ने थ.रों को धर्म-प्रचार के लिए इधर-उधर भेजा। इन थीरों के नाम नीचे दिये जाते हैं। उनके नाम के आगे उन प्रदेशोंका भी उल्लेख कर दिया गया है, जहाँ वे भेजे गये थे[१]—

धर्म-प्रसारार्थ प्रेषितगण	प्रदेश
(१) मज्झान्तिक	कश्मीर और गान्धार[२]
(२) महादेव	महिपामण्डल[३] (मैसूर या मांधाता)
(३) महारक्षित	यवन[४] या यूनानी प्रदेश
(४) धर्मरक्षित (मूलतः यह यवन था)	अपरन्तका[५]
(५) मज्जहिमा	हिमालय प्रदेश[६]

---

[१] Lb. XII. 1—3.

[२] शिलालेख पाँचवें में इसका उल्लेख आया है।

[३] महिपामण्डल, दक्षिणी मैसूर था, शिलालेख द्वितीय में आये हुए "सत्यपुत्र" इसी प्रदेश के थे [J. R. A. S. 1966—p. 8. 39]।

[४] ५वें और १३वें शिलालेख में इनका उल्लेख आया है।

[५] शिलालेख पाँचवें में पैठानिकों को अपरंता निवासी कहा गया है।

[६] हिमालय—सम्भवतः १३वें शिलालेख में उल्लेखित नाभाक या नाभपन्ति ही हिमालय निवासी लोग थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर्म-प्रसारार्थ प्रेषितगण	प्रदेश
(६) महाधर्मरक्षिता	महाराष्ट्र[1]
(७) रक्षित	वनवासी[2] (उत्तरी कनारा)
(८) सोन और उत्तरा	सुवर्णभूमि[3] (पेगू और मौलमीन)
(९) महेन्द्र, राष्ट्रीय, उत्तरीय, संबल और भद्रासर	लङ्का (सिंहल) (महावंश, प्रकरण १२)

धर्म-प्रचारकों की कुछ भिन्नता के साथ–जे० आर० ए० एस० भी एक सूची देता है[4]—

(१) मज्झांतिक	गांधार, कश्मीर
(२) महादेव	महिषा (महिषामण्डल) ।

(किन्तु विगैनडिट कहता है कि महिषामण्डल को "रेवती" गया था ।)

(३) रक्षित	वनवासी
(४) योन धर्म-रक्षित	अपरन्तका
(५) महाधर्मरक्षित	महाराष्ट्र (मरहट्टा)
(६) महारक्षित	यवन प्रदेश

(किन्तु विगैनटिड कहता है कि यवन-प्रदेश को धर्म-रक्षित भेजा गया था) ।

[1] (शिलालेख पाँचवाँ १३वाँ)–विंध्याचल के पास बसे हुए आन्ध्र और पुलिन्द तथा राष्ट्रिकों का प्रदेश ।

[2] शिलालेखों में दक्षिणी प्रदेशों, जहाँ धर्म-प्रचारक गये थे उनका नाम स्पष्टतः चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र और केरलपुत्र दिया है ।

[3] ह्वेनसांग से वर्णित बंगाल का सुवर्ण प्रदेश या सोन नदी (हिरण्यपाद सुवर्णवाहिनी) पर स्थित था । (J R A, S., 1910, p 428).

[4] List of Missionaries sent out by Asoka, J. R. A. S , 1908,p. 8, Table IV.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर्म-प्रसारार्थ प्रेषितगण	प्रदेश
(७) मज्जहिमा, कास्सपगोत्त, दुराभिश्व और सहदेव तथा मुलकदेव	हिमवंत (हिमालय)
(८) सोन और उत्तरा	सुवर्णभूमि
(९) महिन्द (महेंद्र) और चार साथी महावंश उनके नाम देता है— इत्तीय, उत्तीय, सम्बल और भद्दसाल (भद्रसाल)	लङ्का

गाथायें कहती हैं कि प्रत्येक मुख्य धर्म-प्रचारक के साथ चार-चार साथी थे।

महावंश धर्म-प्रचारकों के कार्य का अत्यन्त सरसता के साथ उल्लेख करता है (महावंश-प्रकरण १२, अनेकानेक वैदेशिक प्रदेशों का धर्म-परिवर्तन)—"कल्याणमयी भगवान् बुद्ध के धर्म-दीपक, मोग्गलिपुत्त तिस्स (उपगुप्त) तृतीय महासभा को समाप्त कर, धर्म के भविष्य को विचारने लगे, यह समझकर कि विदेशों में बौद्ध-धर्म के प्रचार का समय आ पहुँचा है, उन्होंने कार्त्तिक के महीने में थीरों को विदेश में धर्म-प्रचार के लिए भेजा।" महावंश आगे लिखता है—"कश्मीर और गांधार में इस समय "अरावलो" नाम का एक राजा राज कर रहा था। यह राजा अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न था। अपनी शक्ति द्वारा भीषण तोयविप्लव (जलप्रलय) कर वह कश्मीर और गांधार की संपूर्ण तैयार हुई फसल को डुबा रहा था। थीरो मज्झन्तिक वायु द्वारा उड़ कर तुरन्त अरावला झील में जा उतरा। वहाँ समाधि लगाकर वह पानी की सतह पर घूमने लगा। नागों ने तब क्रोधित होकर इस घटना की राजा को सूचना दी। क्रोधित नागराज ने उसे अनेक प्रकार से भयसंकुल करना चाहा। उसके क्रोध से तूफान आक्रन्दन करने लगा और प्रलय का जल बरस पड़ा। बिजली स्फुरित होने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लगी और चारों ओर विनाशकारी वज्रपात होने लगा जिससे उत्तुङ्ग श्रेणी वाले पहाड़ मूल से टूटकर गिरने लगे। नागों ने अनेक तरह के भीषण रूप धर कर इस थीरो को आक्रान्त कर उसे भ्रष्ट करना चाहा। नागराज ने स्वयं अनेक भाँति पीड़ित करते हुए उस पर धुआँ और आग उगला। अपनी पारलौकिक शक्ति से थीरो ने सब प्रकारों के भयों पर विजय प्राप्त की। तदनन्तर अपनी अमित शक्ति को दिखाकर, थीरों ने नागराज को इस प्रकार सम्बोधित किया, "ऐ नागराज ! यदि देवतागण भी मनुष्यों से मिलकर मुझे भयाकुल करना चाहें तो उनके वे सारे उपक्रम निरर्थक सिद्ध होंगे और यदि तुम सागर और पहाड़ों समेत सारे संसार को मेरे मस्तक पर ढाहना चाहो, तब भी तुम मुझे भयार्त्त नहीं कर सकोगे। ऐ नागराज, फसल को नष्ट करने की यह क्रिया बन्द कर दो।"

थीरो के इस उत्तर को सुनकर नागराज शान्त हुआ। थीरो ने तब उसे धर्म के सिद्धान्तों को बतलाया। धर्म-ग्रहण करने के फलस्वरूप नागराज को मोक्ष प्राप्त हुई।

इस भाँति वर्फीले प्रदेश या हिमवन्त में चौरासी हज़ार (८४,०००) यक्ष, गन्धर्व, नाग और कुम्भकों ने बौद्ध-धर्म ग्रहण किया।

पंचक नामक एक यक्ष ने अपनी स्त्री हरित और पाँच सौ लड़कों सहित, धर्म की प्रथम अवस्था "सोवन" को उपलब्ध किया। इसके अनन्तर उसने अपने पुत्रों को इस तरह सम्बोधित किया, "पहले की भाँति अहंकारी और क्रोधी न रहना, किन्तु प्राणीमात्र के हित के लिए एकांतवास लेना तथा फसलों को नष्ट करने से अपने को रोककर सर्वप्राणियों (सर्वभूतानां) पर कल्याण-भाव रखना। मानवों का रक्षण करते हुए जीवन व्यतीत करना।" इन लोगों (पुत्रों) ने इसी प्रकार व्यवहार किया।

नागराज ने थीरो मज्झन्तिक को रत्न-जटित सिंहासन पर बिठाया और अपने आप आदरपूर्वक पंखा झलने लगा। नागराज के क्रोध को शान्त करने तथा फसल को विनष्ट होने से बचाने के हेतु कश्मीर और गान्धार के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

निवासी भेंट लेकर नागराज के पास पहुँचे। किन्तु जब उन्होंने अलौकिक थीरो का वर्णन सुना तो नागराज के बजाय वे थीरो के चरणों में झुके और पास ही सम्मानपूर्वक खड़े हो गये।

थीरो ने उन्हें "असीविसोपम" (बुद्ध का सिद्धान्त) समझाया। अस्सी हज़ार मनुष्यों ने उत्तम बौद्ध-धर्म को अंगीकृत किया और एक लाख (१,००,०००) मनुष्यों ने थीरो से प्रव्रज्या ग्रहण की।

तब से लेकर आज तक कश्मीर और गान्धार के लोगों की बौद्ध-धर्म के तीनों अंग (बुद्ध, धर्म और संघ) के प्रति अत्यन्त भक्ति है तथा सम्पूर्ण प्रदेश पीत-पटों (भिक्षुओं के वस्त्र) की क्रान्ति से भासमान है।

थीरो महादेव महिसामण्डल प्रदेश को गया (महिसामण्डल को स्मिथ ने मैसूर से समीकृत किया है)। वहाँ जाकर महादेव ने जनता में 'देवदूत-सुत्तन्त' का प्रचार किया। इससे ४०,००० (चालीस हज़ार) मनुष्यों ने सर्वोपरि बौद्ध-धर्म को स्वीकार (अंगीकार) किया तथा चालीस हजार (४०,०००) मनुष्यों को भिक्षु बनाया।

थीरो रक्षित वायुमार्ग से वनवास प्रदेश को गया। वहाँ जाकर उसने जनता के मध्य "अनमतग्ग" (बुद्ध-सम्वाद) का प्रचार किया। ६०,००० (साठ हज़ार) मनुष्यों ने बौद्ध-धर्म अंगीकृत किया तथा ३७,००० (सैंतीस हजार) मनुष्यों ने दीक्षा ली और भिक्षु हुए। इस प्रदेश में भगवान् गौतम के धर्म को स्थापित कर इस थीरो ने पाँच हज़ार विहार बनवाये।

थीरो योनको (यवन) धर्मरक्षित अपरन्तका प्रदेश में गया। वहाँ जनता के मध्य उसने "अग्गिक्खन्धोपम् सुत्त" (बुद्ध का संलाप) का प्रचार किया।

यह थीरो (आचार्य) धर्म और असत्य धर्म के सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझता था। अतः एकत्रित हुए ७०,००० (सत्तर हज़ार) लोगों को इसने सत्य धर्म के सरस रस की घूँट पिलाई। विशुद्ध क्षत्रिय वंश के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१,००० (एक हज़ार) पुरुष और उससे भी अधिक महिलाएँ, धर्म से उत्साहित होकर, भिक्षु-संघ में प्रविष्ट हुए।

पवित्र (पुण्यात्मा) आचार्य (थीरो) महाधर्मरक्षित मरट्ठा (महाराष्ट्र) प्रदेश को गया। वहाँ उसने भगवान् बुद्ध के "महा-नारद कस्सप जातक" का प्रचार किया। ८४,००० (चौरासी हज़ार) मनुष्यों ने सत्य बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया तथा १३,००० (तेरह हज़ार) मनुष्यों को भिक्षु बनाया।

थीरो (आचार्य) महारक्षित यवन प्रदेश को गया। वहाँ उसने "कलक-राम-सुत्त" (बुद्ध का संवाद) का प्रचार किया। १,००,७०,००० (एक करोड़ सत्तर हज़ार) मनुष्यों ने बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया तथा १०,००० (दस हज़ार) लोगों ने दीक्षा ली।

थीरो मज्जहिमो, चार अन्य थीरों सहित (कस्सपो, मलिकदेवो, धुन्धि-मुनसो और सहसदेवो हिमवन्त प्रदेश में पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने "धम्म-च्छको" (बुद्ध का सम्वाद) का प्रचार किया। अस्सी करोड़ मनुयों ने सत्य बौद्ध-धर्म को अंगीकृत किया। इन पाँच थीरों ने अलग-अलग हिमवन्त के पाँच विभागों में धर्म-प्रचार किया।

प्रत्येक थीरों के समाज में १,००,००० (एक लाख) मनुष्यों ने अलौ-किक बुद्ध भगवान् की भक्ति से प्रेरित होकर दीक्षा ली और संघ में प्रवेश किया।

आचार्य सोन, आचार्य उत्तर समेत सुवर्णभूमि को गया। इस समय वहाँ यह हाल था कि ज्योंही बच्चा उत्पन्न होता, एक जल-पिशाचिनी समुद्र से निकल कर उसे निगलती और अन्तर्हित हो जाती थी। इसी समय (धर्म-प्रचारकों के वहाँ पहुँचने पर) राजगृह में एक बालक जन्मा। वहाँ के निवा-सियों ने भिक्षुओं को देखकर उन्हें राक्षसी (पिशाचिनी) का सहायक समझा। अतः उन्होंने घेरा डालकर उन्हें विनष्ट करना चाहा। थीरो ने अपना उद्देश्य जताकर उन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया—"हम धर्म के आचार्य हैं, राक्षसी के सहायक वर्ग नहीं!" इसी समय राक्षसी अपने सहा-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यकों सहित समुद्र से निकली। यह देखकर लोगों की भीड़ भयार्त्त हो चिल्ला उठी। थीरो ने अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा, राक्षसों की एक दूसरी सेना तैयार की। यह सेना भक्षण करनेवाली राक्षसी के दुगुनी थी। इस सेना ने राक्षसी की सेना को घेर लिया। वह इन अगणित राक्षसों क: देख कर, भयार्त्त हो भाग खड़ी हुई। इस प्रकार धर्म की रक्षा स्थापित कर, लोगों को एकत्रित हुई भीड़ (समाज) को "ब्रह्मजालसुत्त" (बुद्ध का संलाप) का प्रचार किया। असंख्य लोगों ने बौद्ध-धर्म को स्वीकृत किया। ६,००,००० (छः लाख) मनुष्य धर्म के सिद्धान्तों से पूर्णतया भिज्ञ हो गये। २५,००० (पचीस हजार) लोगों ने दीक्षा ली, भिक्षु हुए और १,५०० (एक हजार पाँच सौ) विभिन्न जाति (वर्ण) की महिलाएँ और पुरुष भिक्षु-संघ में प्रविष्ट हुए।

उस समय के पश्चात् राजगृह में, जो भी राजकुमार जन्मा, उसका नाम (सोनो और उत्तरों के नाम पर) सोनोत्तरो रखा गया (महावंश—प्रकरण १०वाँ)।

अनेक विद्वद्गण परम्परागत रूढ़ियों की चमत्कारपूर्ण एवम् सरस साहित्यिक शैली को देखकर उन्हें सहसा असत्य कहने में देर नहीं लगाते, किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि इन आख्यानों में भी अमूल्य ऐतिहासिक तथ्य छिपा रहता है। शिलालेख के बहुत से प्रदेशों को हम गाथाओं के प्रदेशों से पहले ही निर्दिष्ट कर चुके हैं। अतः गाथाओं के उल्लेखों को हम निरी गप्पें नहीं कह सकते। तिब्बती तथा चीनी बौद्ध-ग्रन्थ भी इस बात को अंगीकृत करते हैं कि मज्झन्तिक ने कश्मीर में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था। मज्झन्तिक के कश्मीर में धर्म-प्रचार का तिब्बती ग्रन्थों में महावंश के अनुरूप ही उल्लेख मिलता है। ह्वेनसाङ्ग ने भी कश्मीर में बौद्ध-धर्म-प्रचार का उल्लेख किया है। वह लिखता है—"प्राचीन काल में भगवान् बुद्ध जब एक राक्षस को पराजित कर लौट रहे थे, तो वायुमार्ग से होते हुए वे कश्मीर पहुँचे। वहाँ आनन्द को सम्बोधित कर भगवान् बोले,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"यहाँ पर मेरे निर्वाण के बाद मज्झन्तिक बौद्ध-धर्म का प्रचार करेगा।" विभिन्न बौद्ध-गाथाओं के वर्णन की एकरूपता इन आख्यानों की सत्यता का प्रमाण है।"

महावंश के अतिरिक्त "समन्तपसादिका" भी कुछ भिन्नता के साथ इन धर्म-प्रचारकों का उल्लेख देता है। इसके अनुसार मज्जहिमा, कास्सपगोत्त, अलकदेव, दुन्धुभिस्सार और महादेव को साथ लेकर हिमवन्त प्रदेश को गया। ये पाँचों वहाँ पहुँचकर पाँच राष्ट्रों अथवा मण्डलों में विभक्त हो गये, किन्तु दीपवंश कास्सपगोत्त कोतिपुत्त को प्रमुख आचार्य कहता है और मज्जहिमा, दुन्धुभिस्सार, सहदेव और मूलकदेव को उसके साथी वतलाता है। इन थीरों ने ८०,००,००० (अस्सी लाख) मनुष्यों को बौद्ध वनाया। इसी प्रकार यवन धर्मरक्षित ने अग्गिखन्धोपम् सुत्त का प्रचार किया और अपरन्ता के ३७,००० (सैंतीस हज़ार) मनुष्यों का धर्म-परिवर्तन किया। मज्जहन्तिक ने कश्मीर और गांधार में, "आसीरिसूपमासुत्त"[१] का प्रचार कर, ८०,००० (अस्सी हज़ार) लोगों को बौद्ध बनाया। महादेव ने महिषामंडल में "देवदूतसुत्तंत"[२] का प्रचार कर ४०,००० (चालीस हज़ार) बौद्ध वनाये। रक्षित ने वनवासी में "महानारद कस्सप जातक" का प्रचार कर ८४,००० (चौरासी हज़ार) बौद्ध बनाये। महारक्षित ने योनरथ्थाम् में "कालकारामसुत्त"[3] का प्रचार किया। सोन और उत्तरा ने सुवर्णभूमि में

---

[१]"सर्प का निर्दशन्" (अंगुत्तरा, पृष्ठ ११०-१११)।

[२]"देवताओं के दूतों का संलाप" इस सुत्त में वृद्धावस्था, रोग तथा मृत्यु का यम के दूतों के रूप में वर्णन दिया गया है।

(मज्जहिमा, III पृष्ठ १७८, १८७ और अगुत्तरा, I पृष्ठ १३८—१४२)।

[3]कहा जाता है कि बुद्ध भगवान् ने "कालकाराम" नामक स्थान पर इस सुत्त का उपदेश दिया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाकर "ब्रह्मजालसुत्त"[१] का प्रचारकर ६०,००० (साठ हज़ार) लोगों को बौद्ध-धर्म में परिवर्तित किया।

अतः प्रकट है कि तृतीय महासभा की सम्मति होते ही धर्म-प्रचार का कार्य प्रबलता से होने लगा था। १३वें शिलालेख के धर्म-दूतों का कार्य तथा द्वितीय शिलालेख से वर्णित सर्व-कल्याण के कार्य और महावंश में वर्णित थीरों अथवा धर्म के आचार्यों के कार्य में तुल्यता स्पष्ट है।

गाथाओं में दिये गये थीरों के नाम की वास्तविकता पहली-दूसरी ई० पू० के साँची स्तूपों में पाये गये लेखों से भी प्रमाणित होती है।

साँची के नम्बर दो स्तूप में एक शव-सम्पुट पाया गया है। इस सम्पुट के एक ओर ब्राह्मी लिपि में यह लेख लिखा है—"अरहत कास्सपगोत्त, अरहत वाच्छि सविजयत्त में प्रारम्भिक सब आचार्यों (अरहतों) के अवशेष (मृतक शरीर)।" सम्पुट के भीतर चार अन्य मंजूषा थीं, जिनमें मनुष्य की हड्डियों के अवशेष मिले हैं। मंजूषा के पटल पर लिखित लेखानुसार ये अवशेष निम्नलिखित आचार्यों के थे :—

१—कास्सगोत्त, हिमवन्त (वर्फीले, हिमालय) प्रदेश का आचार्य थीरो।
२—मज्जहिमा
३—हरितपुत्र
४—वाच्छि सुविजयत्त (वातसी सुविजयत)
५—महावान्य
६—आपगीव
७—कोंदिनीपुत्त (कुन्दिनीपुत्र)
८—कोसिकपुत्त
९—गोतिपुत्त
१०—मोगलिपुत्त (मोग्गलिपुत्र)।

---

[१] "धर्म्म का जाल", देखिए—दिग्गनिकाय, पृष्ठ १ ii

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन उद्योग आचार्यों में से कास्सपगोत्त और मज्जहिमा हिमालय प्रदेश में प्रचार हेतु गये थे। इनके अतिरिक्त अन्य थोरों ने बौद्ध-धर्म की तृतीय वहासभा में भाग लिया था। यह महासभा अन्तिम मोगलिपुत्त अथवा मोगालीपुत्र तिस्स की अध्यक्षता में हुई थी। नं० २ मज्जहिमा का उल्लेख सोनारी के नम्बर दो स्तूप में पाये गये शवसम्पुट लेख में भी किया गया है। इसी स्तूप में कास्सपगोत्त का "कोसिमपुत्त" नाम से उल्लेख किया गया है। एक तृतीय कलश या कुम्भ-लेख में नं० ६ गोतिपुत्त का दुन्धुभिस्सार समेत उल्लेख दिया गया है।

इस प्रकार महावंश, दीपवंश, समन्तपसादिका[1] आदि गाथाओं में आये हुए निम्न तीन--मज्जहिमा, कास्सपगोत्त और दुन्धुभिस्सार के नाम साँची-स्तूप के लेखों से भी प्रमाणीकृत हो जाते हैं।[2] अतः हम यथेष्टतया गाथाओं के धर्म-प्रचार पर १३वें शिलालेख की विदेशों में बारम्बार धर्म-विजय की सत्यशीलता पर श्री राइज़ डेविड्स के सदृश आक्षेप नहीं लगा सकते।

लंका में धर्म का प्रचार—शिलालेखों में महेन्द्र के लंका जाने का कोई उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु गाथाओं से पता चलता है कि लंका और अशोक के मध्य समागम का प्रथमतः उपक्रम देवानांप्रिय तिस्स (लंकाधिप) ने किया और तत्पश्चात् महेन्द्र धर्म-प्रचार हेतु लङ्का गया। लङ्का और साम्राज्य के मध्य प्रथम समागम का महावंश निम्न उल्लेख देता है—"आठ प्रकार की मुक्ताएँ, हय (अश्व), गज, रथ, मालक, वलय (करभूषण—वलयं), अंगुलीवेलका (अंगुलीयकं, वलयं अथवा अंगुली-मुद्रा), ककुद्‌फल, पकातिका (प्रायिकी साधारण), समुद्र से निकलीं और किनारे पर खड़ी हो गईं।

"..........इन अलौकिक उपहारों को देख कर, पुण्यात्मा राजा ने

[1]श्री राधाकुमुद मुकर्जी से यह समन्तपसादिका का सन्दर्भ लिया गया है।
[2]देखिए, Sir John Marshall's Guide to Sanchi, Ch. X.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विचारा, "मेरे मित्र धम्माशोक के अतिरिक्त अन्य कोई इन रत्नों का अधिकारी नहीं है, मैं इस उपहार को उन्हें दूँगा।"

यद्यपि ये दो राजा देवानांप्रिय तिस्स और धम्माशोक आपस में परिचित न थे, किन्तु बहुत काल से मित्रता के सूत्र में ग्रथित हो चुके थे।

"लङ्का के अधिपति ने चार दूतों को इस कार्य के लिए भेजा। इन चार में से प्रथम राजा का भानजा (भागिनेयं, भागिनियं) महाअरिथो था तथा ब्राह्मण (हाली पर्वत-निवासी), मल्ला (राज-मन्त्री) और तिस्सो ये तीन भी साथ थे। इन चारों के साथ एक शक्तिशाली सैन्य भी थी, जिनके पास रत्न सौंपे गये थे। ये लोग जम्मूकीलो से जहाज में बैठ कर एक सप्ताह में ताम्रलिप्ति पहुँचे और वहाँ से और सात दिन यात्रा करके पाटलिपुत्र पहुँचे। यहाँ पहुँच कर इन लोगों ने धम्माशोक को रत्न आदि भेंट किये।"

इसके बदले में महावंश लिखता है कि सम्राट् अशोक ने भी अनेकानेक बहुमूल्य वस्तुएँ लङ्काधिप को भेजीं तथा लङ्काधिप के भेजे हुए दूतों को राजकीय पदों से सम्मानित किया। अरिथो को सम्राट् ने सेनापति बनाया, ब्राह्मण को राजपुरोहित, मंत्री को दण्डनायक तथा तिस्सो को "सेठित्तो" का पद दिया। अशोक ने जितने अमूल्य उपहार भेजे उनमें—गंगाजल, (अभिषेक के लिये यह काम में लाया जाता था) और एक सुन्दर राजकुमारी भी थी।

महावंश पुनः लिखता है, "देवानांपिय तिस्सो के दूत पाँच महीने तक वहाँ ठहरे। वैशाख के प्रथम उज्ज्वल दिवस को वे पाटलिपुत्र से विदा हुए। ये लोग ताम्रलिप्ति से जहाज पर बैठे और जम्बूकीलो पर जा के उतरे। तदनन्तर वे लंका के राजा के पास पहुँचे।" इस भाँति लंका और अशोक के साम्राज्य के मध्य प्रथम संगम हुआ। इसके बाद महावंश महेन्द्र के लंका गमन का इस प्रकार वर्णन देता है—"अपने अपुण्य चरित्र के कारण वह प्रथम अशोक चण्डाशोक कहलाया, किन्तु पीछे पुण्यात्मा होने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर उसका नाम धर्माशोक पड़ा। अलौकिक शक्ति द्वारा उसने रत्नाकर-वेष्ठित जम्बूद्वीप के चारों ओर 'विहारों' को स्थापित हुए देखा। इन विहारों को देखकर वह अत्यन्त हर्षित हुआ। तदनन्तर उसने आचार्यों से प्रश्न किया, "भदन्त, भगवान् के काल से अब तक कौन सर्वमहान् दानी हुआ?" इस पर मोगालिपुत्त ने उत्तर दिया, "कल्याणमय भगवान् के समय में भी आपके सदृश कोई दानी न था।" यह सुनकर अशोक अत्यन्त हर्षित हुआ और उसने पुनः पूछा, "क्या मैं बुद्ध के शासन योग्य हो सकता हूँ?" थीरो ने महेन्द्र तथा संघमित्रा (अशोक के पुत्र और पुत्री) में धर्म की पूर्णता निरख कर तथा यह सोचकर कि ये दोनों धर्म-प्रचार में यथेष्ट सहायक होंगे, राजा से इस प्रकार कहा, "राजन्! तुम्हारे सदृश धर्म का उपकार करनेवाले तुम्हीं कहला सकते हो, किन्तु जो व्यक्ति निज पुत्र और पुत्री को प्रव्रज्या ग्रहण करा सके, वह दायक ही नहीं, वह धर्मशासन के भी योग्य हो सकता है।" (महावंश, प्रकरण ५वाँ)।

यह सुनकर सम्राट् ने जो महेन्द्र को उपशासक बनानेवाले थे धर्म के हेतु संघमित्रा समेत भिक्षु बनवा दिया। इस समय महावंश के अनुसार महेन्द्र की आयु बीस वर्ष और संघमित्रा की अठारह वर्ष की थी। मोगाल[1] कुमार का आचार्य हुआ। थीरो महादेव ने उसे प्रथम भिक्षु पद दिया। थीरो मज्जहन्तिक ने "कम्मवचन" किया और तदनन्तर महावंश लिखता है कि महेन्द्र अरहत हो गया। महावंश के अनुसार संघमित्रा की आचार्या भिक्षुणी धम्ममती थी और आयुपाली राजकुमारी की उपदेशिका थी। कुछ समय पश्चात् महावंश लिखता है, वह (राजकुमारी) भी अरहत पद को प्राप्त हो गयी। ये दोनों (अशोक के पुत्र-पुत्री सङ्घमित्रा और महेन्द्र) धम्माशोक के अभिषेक के ६वें वर्ष सङ्घ में प्रविष्ट हुए थे। इन दोनों ने भगवान् के धर्म का उज्ज्वल प्रकाश चारों ओर विकीर्ण किया (महावंश, प्रकरण ५वाँ)

[1]मोगलिपुत्त = पुत्र, आचार्य उपगुप्त।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महावंश १३वाँ प्रकरण लिखता है कि अपने आचार्य मोगाली के पुत्र तथा अन्य भिक्षुगणों के साथ लङ्का में धर्म-प्रचार के लिए जाते हुए महेन्द्र ने अपने पिता से आज्ञा ली और चार थीरों तथा समनरो सुमनो (सङ्घमित्रा का पुत्र) को साथ लेकर दक्षिणगिरी को चला गया । यहाँ से वह चैत्यगिरी पहुँचा । यहाँ पर उसकी माता रहती थी । यहाँ रहने के कुछ दिन पश्चात् वह ज्येष्ठ के महीने लङ्का जाने का विचार करने लगा । उसने यह भी सोचा कि मेरे पिता द्वारा भेजे हुए बौद्ध-धर्म के तीन सिद्धांतों[1] को लङ्का का राजा अब अच्छी तरह समझ गया होगा, अतः अब धर्म-प्रचार में कठिनाई न होगी ।

इसी समय महिन्दो (शको = इन्द्र देवताओं का राजा) महेन्द्र के पास आया और उससे बोला—"लङ्का में धर्म-प्रचार के लिए जाओ । भगवान् बुद्ध द्वारा बोधि-वृक्ष के नीचे की गयी भविष्यवाणी को पूर्ण करने का समय आ पहुँचा है । हम भी वहाँ पर तुम्हें सहायता पहुँचायेंगे ।"

इसी समय महारानी देवी (महेन्द्र की माता) की छोटी बहिन का लड़का बन्धु भी बौद्ध हुआ । यह बन्धु महेन्द्र का शिष्य बना । इस प्रकार महेन्द्र, सुमन और बन्धु तथा चार अन्य थीरों, सब आकाशमार्ग द्वारा लंका में मिस्सा पर्वत की अम्वाथलो चोटी पर जा उतरे । इस समय लंका का राजा देवानांप्रिय तिस्सो "सलिना" त्योहार मनाकर नगरवासियों का मनोरंजन कर रहा था । त्योहार से निबटकर वह चालीस हजार परिचायकों को साथ लेकर मृग के शिकार के लिए निकला और आखेट खेलते-खेलते मिस्सा पर्वत के नीचे जा पहुँचा । इस पर्वत के एक देव की इच्छा हुई कि

---

[1]सम्राट् अशोक ने लङ्कापति देवानांप्रिय को यह लिख भेजा था—"बुद्धं च धम्मं च सङ्घं च" अर्थात् मैं बुद्ध, धर्म और सङ्घ की शरण में चला गया हूँ, मैंने शाक्य-मुनि का धर्म अपनाया है, तुम भी इसे अपनाकर बोध प्राप्त करो ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन धर्म-प्रचारकों को लंकाधीश से मिला दूँ। अतः वह मृग बनकर चरने लगा। राजा उसके पीछे हो लिया। जब राजा मृग का पीछा करता हुआ थीरो के पास पहुँचा तो देव अंतर्हित हो गया। थीरो महेन्द्र अन्य भिक्षुओं को पीछे छोड़कर अकेले राजा से मिलने आया। राजा उसे देखकर चकित हो उठा। थीरो ने उससे कहा, "तिस्सो, यहाँ आओ।" उसे केवल तिस्सो पुकारता हुआ सुनकर राजा ने उसे यक्ष समझा। इस पर महेन्द्र ने उसे बतलाया कि वे जम्बूद्वीप से धर्म-प्रचार के लिए आये हैं। जब राजा को यह विदित हुआ कि वे उसी के मित्र धम्माशोक के आदमी हैं, तो वह निश्चिन्त हो गया। भयरहित हो उसने धनुष-बाण को अलग फेंक दिया और थीरो के पास जाकर बैठ गया। महावंश कहता है कि राजा ने जब थीरो के असंख्य प्रचारक-मण्डल को देखा तो वह चकित हो पूछने लगा, "क्या जम्बूद्वीप में ऐसे अन्य और भिक्षुगण हैं?" इस पर थीरो ने उत्तर दिया कि जम्बूद्वीप पीत वस्त्रों से प्रकाशमान है। राजा के प्रश्नों का उत्तर दे चुकने पर थीरो ने राजा से कई प्रश्न किये।

"राजा, इस पेड़ का क्या नाम है?"

"यह अम्बो का पेड़ कहलाता है।"

"क्या इसके अतिरिक्त भी कोई अम्बो का वृक्ष है?"

"बहुत से अन्य अम्बो के पेड़ हैं।"

"इस अम्बो तथा अन्य अम्बो के अतिरिक्त क्या और भी कोई पेड़ पृथ्वी पर हैं?"

"भद्र, अम्बो के अतिरिक्त अन्य कई पेड़ हैं।"

"क्या अम्बो तथा और अम्बो के अतिरिक्त तथा अन्य वृक्षों के सिवाय भी कोई पेड़ पृथ्वी पर है?"

"भदन्त, यह अम्बो वृक्ष।"

"नरपति, तुम ज्ञानी हो।"

"राजा, क्या तुम्हारे सम्बन्धी हैं?"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"भद्र, कई हैं।"

"क्या तुम्हारे सम्बन्धियों के अतिरिक्त अन्य लोग भी हैं ?"

"बहुत से मेरे सम्बन्धी नहीं हैं।"

"तुम्हारे सम्बन्धियों को छोड़कर तथा जो तुम्हारे सम्बन्धी नहीं हैं उन्हें छोड़कर, क्या और भी कोई प्राणी है ?"

"भद्र ! मैं स्वयं हूँ !"

"नरपति, साधु, तुम ज्ञानी हो !"

इस प्रकार बुद्ध के धर्म को समझाकर महेन्द्र ने राजा और उसके चालीस हजार साथियों को बौद्ध-धर्म में परिवर्तित किया। इसके पश्चात् महावंश कहता है कि लंका के राजा ने बन्धु को अलग से बुलाकर उससे यह मालूम किया कि महेन्द्र उसके मित्र धम्माशोक का लड़का है। इसके अनन्तर राजा चला गया। राजा के जाने के बाद बन्धु भी प्रव्रज्या ग्रहण कर अरहत हुआ। इसके अनन्तर थीरो ने समनरो सुमनो (सुमन) को पूजा का निर्देश करने की आज्ञा दी। उसने अपनी अलौकिक शक्ति के द्वारा धर्म-घोष को पूर्ण ताम्रपर्णी अथवा लंका में प्रतिध्वनित किया। इस घोष को सुनकर ऊपर (स्वर्गलोक) से भी देवता घोष करने लगे और उनको प्रतिध्वनि मिलकर ब्रह्मलोक को पहुँची। इस प्रकार महावंश लिखता है सब देवता भगवान् बुद्ध की उपासना के लिए एकत्रित हो आये। प्रातः राजा ने इन्हें बुलाने के लिए रथ भेजा, पर ये लोग न आये। इसके अनन्तर थीरों ने अपने निवास पर एक चैत्य (डगोबा) का निर्माण किया। राजा फिर उन्हें आदरपूर्वक महल में ले गया। वहाँ सम्मानपूर्वक थीरो को जिमाया गया। इसके अनन्तर राजा ने उप-शासक महानागो (राजा का छोटा भाई) की स्त्री अनुला को बुलवाया। अनुला पाँच सौ स्त्रियों सहित वहाँ आई और आदरपूर्वक पास ही बैठ गई। थीरो ने उन्हें बुद्ध का धर्म बतलाया। वे सब भी तब बौद्ध हो चलीं। जब नगरवासियों ने थीरो के प्रति यह बात सुनी तो वे महल अथवा प्रासाद के द्वार पर आकर चिल्लाने लगे। राजा ने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसका कारण जानकर उनसे कहा, "प्रासाद में बहुत कम जगह है, शाही गजशाला को ठीक करो, वहाँ ही नगर के लोग थीरो से भेंट कर सकते हैं। इसके अनन्तर गजशाला में जाकर थीरो ने "देवदूत-सुत्त" नगरवासियों को समझाया। बुद्ध का यह सम्वाद सुनकर लोग अत्यन्त हर्षित हुए। उनमें से एक हजार (१,०००) ने धर्म ग्रहण किया। अन्त में महावंश लिखता है, "इस प्रकार उस (महेन्द्र) ने लङ्का का दीपक बनकर वहाँ धर्म का प्रकाश फैलाया।"[१]

आगे महावंश, (प्रकरण १५), लिखता है कि लोगों ने राजकीय उद्यान में थीरो के लिए बैठने को वेदी बनाई। इस नन्दनवन में थीरो (महेन्द्र) ने "बालापणदित्य-सुत्त" का प्रचार किया, इस समय १,००० (एक हजार) स्त्रियों ने बौद्ध-धर्म ग्रहण किया। तत्पश्चात् राजकुमारी अनुला पाँच सौ स्त्रियों सहित थीरो के पास आयी। यह राजकुमारी दीक्षा लेकर संघ में प्रविष्ट होना चाहती थी, किन्तु थीरो ने अपनी असमर्थता प्रकट की। उसने राजा को बतलाया कि पाटलिपुत्र में मेरी छोटी बहिन संघमित्रा है। वह भिक्षुणी है, अतः "हमारे पिता को ऐ राजा, एक पत्र भेजो और प्रार्थना करो कि संघमित्रा को बोधिवृक्ष की दाईं शाखा समेत यहाँ भेजिये। जब वह थेरी आयेगी, तभी ये स्त्रियाँ दीक्षा पा सकती हैं।"

थीरो के निर्देशानुसार लङ्का के राजा ने एक प्रतिनिधि-मण्डल "महाअरिह" की अध्यक्षता में अशोक के पास संघमित्रा और बोधिवृक्ष की शाखा को लाने के लिए भेजा। जब यह समाचार अशोक ने सुना तो उसने संघमित्रा से इस प्रकार कहा, "अम्मा (माता) ! पुत्रों, पौत्रों और तुमसे भी जुदा होकर मैं कैसे अपने दुःख को शान्त कर सकूँगा ?"

संघमित्रा भिक्षुणी ने उत्तर दिया, "भाई के वचन गुरु हैं और प्रव्रज्या लेनेवाले भी असंख्य हैं, अतः मेरा वहाँ जाना आवश्यक है।" इसके अनन्तर

---

[१] महावंश, प्रकरण १४वाँ।

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

बड़े यत्न के साथ बोधिवृक्ष की शाखा काट कर निकाली गयी। संघमित्रा तब बोधिवृक्ष की शाखा तथा अन्य लोगों को साथ लेकर लङ्का के लिए चल पड़ी (महावंश, प्रकरण १९वाँ)। इस प्रकार दूसरा धर्म-प्रचारक मण्डल लङ्का को गया। गाथाओं के अनुसार यह मण्डल अशोक के अभिषेक के १८वें वर्ष लङ्का गया था (महावंश, प्रकरण २०वाँ)।

एक तीसरा मिशन सुमन (अशोक का पोता) के नेतृत्व में पाटलिपुत्र से लङ्का गया था। इस मिशन का तात्पर्य भगवान् के अवशेषों को भारत से लङ्का ले जाना था। महावंश इस मिशन का इस तरह उल्लेख देता है—राजा ने महेन्द्र के अवशेषों के लाने के बारे में पूछा। महेन्द्र ने कहा, सुमन से सलाह लो। इसके अनन्तर राजा ने सुमन से इस प्रकार कहा, "भद्र सुमन, पाटलिपुत्र जाकर, धम्माशोक को मेरा यह सन्देश कहना—महाराज, तुम्हारा मित्र देवानांप्रिय तिस्स एक डगोबा—स्तूप—बनाना चाहता है। तुम्हारे पास (शाक्य) मुनि के कई अवशेष हैं, उनमें से कुछ अवशेष तथा भगवान् के खाने का पात्र मुझे दे देने की कृपा करो!"

इस प्रकार सुमन पाटलिपुत्र धम्माशोक के पास पहुँचा और वहाँ से कुछ अवशेष लंका को ले गया।[1]

इन गाथाओं की सत्यता पुराने गुफा-चित्रों से भी साबित होती है। अजन्ता गुफा की दीवार के एक मण्डोदकचित्र (Fresco) में गाथाओं में उल्लेखित घटनाओं का चित्रण है। शिलालेखों में भी लंका में धर्म-प्रचार का उल्लेख मिलता है। शिलालेख द्वितीय तथा त्रयोदश शिलालेख में ताम्रपर्णी का उल्लेख किया गया है, जहाँ सम्राट् अशोक ने अपने दूतों को धर्म-प्रचार के लिए भेजा था। इसी ताम्रपर्णी (ताम्बपनी) को गाथाओं में लंका द्वीप कहा गया है (१४वाँ प्रकरण—महावंश)। ताम्रपर्णी को अशोक ने स्वयं उन देशों की नामावली में दिया है, जहाँ सम्राट् को धर्म-विजय

---

[1] महावंश, प्रकरण १७वाँ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपलब्ध हुई थी। द्वितीय शिलालेख से यह भी प्रकट होता है कि सम्राट् ने ताम्रपर्णी में सर्वकल्याण के कार्य करवाये थे। वहाँ मनुष्य और पशु दोनों के हितार्थ चिकित्सालय स्थापित कराये गये थे। वहाँ की सड़कों पर पेड़, कुएँ आदि की (मनुष्य और पशु दोनों के कल्याणार्थ) व्यवस्था भो करायी गयी थी। इस प्रकार २५८, २५७ ई० पू० से ही लंका मे सम्राट् का धर्म-कार्य होने लगा था। किन्तु महेन्द्र का उल्लेख शिलालेख में नहीं है। सम्भव है महेन्द्र द्वारा लंका में धर्म के प्रचार का कार्य उक्त शिलालेख के प्रकाशन के वाद अर्थात् २५२ ई० पू० में हुआ था। किन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि सम्राट् के पूर्व कार्यों के कारण महेन्द्र को लंका में धर्म-प्रचार के लिए यथेष्ट सहयोग प्राप्त हुआ। इसका निर्देश स्वयं महावंश कहता है—"देवानांपिय तिस्सो और धम्माशोक ये दो राजा, यद्यपि व्यक्तिगत रूप से आपस में अपरिचित न थे, किन्तु इस समय के पूर्व ही वे मित्रता के सूत्र में वँध चुके थे।" (महावंश, प्रकरण ११वाँ)।

धर्म-प्रचार एवं संसार के प्रति अशोक की सन्देह-निवृत्ति— सम्राट् को अपने धर्म-प्रचार के प्रति परितोष था, यह हम उनके शिलालेखों की तृप्ति से मालूम कर सकते हैं। गौण शिलालेख प्रथम ब्रह्मगिरी कहता है, संघ की यात्रा करने के एक वर्ष से अधिक "मैंने अत्यन्त पराक्रम किया। अतः इस समय के भीतर जम्बूद्वीप के वे लोग जो देवताओं से सम्बन्धित न थे, वे देवताओं से सम्बन्धित हुए। पराक्रम का ही यह फल है।" इसी प्रकार अपने धर्म-प्रचार के प्रति सन्देह की निवृत्ति करते हुए सम्राट् चतुर्थ शिलालेख में कहते हैं, "जैसा सैकड़ों वर्ष पहले न हुआ था, वैसा देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन द्वारा आज जीवों की अहिंसा, पशुओं का मारा न जाना, सम्बन्धियों से उचित व्यवहार और वृद्ध-जनों की सेवा बढ़ रही है। यह तथा धर्म के अन्य आचरण बढ़ गये हैं तथा देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस धर्माचरण को और उन्नत करेगा।" इससे सर्वथा प्रकट है कि सम्राट् को अपने धर्म की अभिवृद्धि देखकर तृप्ति

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हो रही थी, किन्तु सम्राट् की आकांक्षा उन्हें और आगे खींचे ले जा रही थी। उनकी इस आकांक्षा की तृप्ति हम महेन्द्र, संघमित्रा, सुमन आदि थोरो अथवा आचार्यों के धर्म-प्रचार में पाते हैं। इसी प्रकार प्रथम स्तम्भ-लेख, सातवाँ स्तम्भ-लेख और १३वें शिलालेख में सम्राट् ने अपने धर्म-प्रचार के प्रति परितोष प्रकट किया है। प्रथम स्तम्भ-लेख कहता है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है, अभिषिक्त होने के २२वें वर्ष मैंने यह धर्म-लिपि लिखवाई। बिना धर्म-कामना, परीक्षा, अनुज्ञा और बिना उत्साह के इहलोक और स्वर्गलोक (परलोक) को पाना कठिन है, किन्तु निःसन्देह मेरे धर्मानुशासन के कारण, धर्माचरण तथा धर्मानुष्ठि में दिन-दिन बढ़ती हुई है और होगी !"

सातवाँ स्तम्भ-लेख लिखता है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि जो कुछ पुण्य-कार्य अथवा धर्म का पालन मैंने किया है, उसका लोगों (प्रजा) ने भी अनुसरण किया है तथा लोग मेरे धर्म-नियमों पर चलते हुए उन्नति करने लगे हैं, और माता, पिता गुरु की सेवा तथा वृद्धों, ब्राह्मणों, श्रमणों, गरीबों, असहायों, दास एवं नौकरों के प्रति उचित व्यवहार करते हुए धर्म में बढ़ेंगे।"

१३वाँ शिलालेख कहता है—"धर्म-विजय को ही देवताओं का प्रिय प्रमुख विजय मानता है। यह धर्म-विजय, अपने विजित राज्य में तथा सभी सीमान्त प्रदेशों में छः सौ योजन तक जहाँ यवन राजा अंतियोकस तथा उससे भी दूर जो अन्य चार राजा तुरमय, अंटिगोनस, मग (मक) और अलिक-सुन्दर हैं तथा नीचे दक्षिण में चोड़, पांड्य और ताम्रपर्णी तक के राज्यों में प्राप्त हुई है। इसी प्रकार सम्राट् के विजित-राज्य में यवनों, कम्बोजों, नाभाक और नाभपन्तियों, पैठानिकों, आन्ध्रों, पुलिन्दों के राज्य में सर्वत्र लोग देवताओं के प्रिय के धर्माचरण का अथवा धर्मानुशासन का अनुसरण कर रहे हैं। वहाँ के लोग भी जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकते, देवताओं के प्रिय का धर्माचरण, धर्मानुशासन, धर्म-प्राप्ति (धर्म-विधान) को सुनकर उस पर आचरण करते हैं और आचरण करते रहेंगे।"

निःसन्देह सम्राट् अशोक ने, धर्म के कल्याणकारी शस्त्रों—अहिंसा और स्नेह के द्वारा सम्पूर्ण भारत और पश्चिमी देशों के अनेक प्रदेशों पर विजय प्राप्त कर संसार को अमानवी क्रूरताओं और हिंसा की जगह प्रेम से विजय प्राप्त करने का मार्ग दिखलाया। इस प्रकार की विजय को सम्राट् ने धर्म-विजय कहा है और उसे इहलोक और परलोक दोनों में सुख देनेवाली बतलाया है। क्यों ? इसी कारण कि सम्राट् की यह विजय धर्म से की गयी थी और उसमें स्वार्थ, दम्भ, पाखण्ड और क्रूर अमानुषिक अत्याचारों का लेशमात्र भी सहयोग न था। इसीलिए महाभारत में भी कहा गया है कि राजा को विजय अवश्य करनी चाहिए, किंतु दम्भ और पाखंड से नहीं।[1]

---

[1] सर्वविद्यातिरेकेण जयमिच्छेन्महीपतिः न मायया न दम्भेन यः इच्छेद्भूतिमात्मनः ॥ महाभारत शांतिपर्व, राजधर्म-अध्याय ९६, २४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सातवाँ प्रकरण

सम्राट् अशोक-कालीन भारत की सामाजिक और धार्मिक स्थिति

अशोक-कालीन भारत की अवस्था का पूर्ण रूप से पता लगाना कठिन है। इसके लिए हमारे पास बहुत थोड़ी-सी सामग्री सम्राट् के शिलालेखों से ही उपलब्ध होती है। यद्यपि धर्मलिपियाँ केवल धर्म-प्रचार के लिए ही लिखवाई और प्रेषित को गई थीं; फिर भी अकस्मात् उन लेखों में कुछ ऐसे उल्लेख मौजूद हैं, जिनसे उस समय के भारत की सामाजिक और धार्मिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। द्वितीय पाली साहित्य की बौद्ध-गाथाओं से भी हमें उस समय की अवस्था को समझने में बहुत कुछ सहायता मिलती है। इस प्रकार हमारे पास अशोक-कालीन भारत की सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था को जानने के लिए दो उपकरण हैं—

(१) शिलालेख (२) बौद्ध-गाथाएँ।

प्रथम हम धार्मिक अवस्था का ही उल्लेख करेंगे। सम्राट् शिलालेखों में बार-बार धर्म की परिभाषा देते हुए कहते हैं—"ब्राह्मण और श्रमणों की सेवा करना उत्तम है।" (तृतीय शिलालेख)। ब्राह्मण और श्रमणों को कुछ विद्वानों ने एक ही माना है। राइज़ डेविड्स ब्राह्मण और श्रमणों का इस प्रकार अर्थ करता है—"जीवन की साधुता से हुए ब्राह्मण।" किन्तु पाली-साहित्य में ब्राह्मण और श्रमण का अलग-अलग लेकिन एक साथ उल्लेख किया गया है तथा दोनों—ब्राह्मण और श्रमण—उत्तम आदर के समान अधिकारी बताये गये हैं।[१] इससे मालूम होता है कि

---

[१] L. A. 1891, p. 263.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्राह्मण और श्रमण दो पृथक् संप्रदाय के थे। श्रीभंडारकर लिखते हैं, "ब्राह्मण-गण संन्यासी अथवा परिव्राजक थे, जिनका धर्म वैदिक-धर्म से सम्बन्धित था, किन्तु श्रमणों का धर्म और सिद्धांत ब्राह्मण-धर्म-ग्रन्थों से अलग था। ये दोनों (ब्राह्मण और श्रमण) विभिन्न धर्म के होने पर भी, साधुता का जीवन-यापन करें तथा अन्य लोगों से सम आदर-सत्कार पावें, इसी भावना से प्रेरित होकर सम्राट् अशोक ने दोनों का उचित आदर किया तथा अन्य लोगों को भी इसी प्रकार उनके प्रति आचरण करने का आदेश दिया।" ७वें स्तम्भ-लेख में अन्य तीन सम्प्रदायों के नाम भी मिलते हैं। इस लेख में सम्राट् कहते हैं, "मेरे धर्म-महामात्र बहुत प्रकार के उपकार के कार्यों में लगे हैं—जो संन्यासी और गृहस्थ दोनों से सम्बन्धित हैं। वे सभी सम्प्रदायों के लिए नियुक्त हैं। मैंने उन्हें संघ के लिए, ब्राह्मणों के लिए, आजीविक संन्यासियों और निर्गन्थों तथा अन्य सम्प्रदायों के लिए नियुक्त किये हैं।"

इस प्रकार ब्राह्मणों और श्रमणों के अलावा संघ, आजीविक और निर्ग्रन्थ तीन सम्प्रदाय प्रमुख थे। इनके अलावा अन्य सम्प्रदायों का भी उल्लेख है लेकिन उनके नाम नहीं दिये गये हैं; इससे मालूम होता है कि ये अन्य सम्प्रदाय प्रमुख सम्प्रदायों में से न थे। शिलालेख में आये 'संघ' से तात्पर्य बौद्ध-संघ से है। सम्राट् अशोक स्वयं बौद्ध थे, इसलिए प्रथम संघ का उल्लेख किया जाना ठीक ही है। अशोक के समय बौद्ध-धर्म में मतभेद होने प्रारम्भ हो गये थे और इसलिए संघ में फूट पड़ने का अंदेशा पैदा हो गया था। अतः संघ की रक्षा के हेतु सम्राट् ने कड़े नियमों का निर्माण किया—"संघ का विच्छेद किसी से भी नहीं किया जा सकता। जो कोई भिक्षु वा भिक्षुणी संघ का भेद करे उसे सफेद वस्त्र पहिना कर विहार से अलग कर दिया जाय[1]।" निगलिव स्तम्भ-लेख से मालूम होता

[1]स्तम्भ-लेख, सारनाथ।

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

है कि अशोक के समय के प्राग्भूत-बुद्ध बोद्धिसत्वों की पूजा भो वर्तमान थी। सम्राट् कोनाकामन (बुद्ध) की यात्रा को गये थे और कोनाकामन स्तूप का जीर्णोद्धार भी किया था। इसका उल्लेख सम्राट् ने इस तरह किया है—"देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने अभिषिक्त होने के १४वें वर्ष बुद्ध—कोनाकामन—के स्तूप को द्विगुणित किया और अभिषिक्त होने के २०वें वर्ष स्वयं आकर पूजा की तथा (वहाँ पर) आदरार्थ एक पाषाण-स्तम्भ स्थापित किया।" कोनाकामन यह चौवीस बुद्धों में से एक बुद्ध का नाम है जो गौतम बुद्ध से पूर्व तीसरा बुद्ध हुआ है।

बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण—मूलतः बौद्ध-धर्म मूर्ति-पूजक न था। स्वयं बुद्ध भगवान् ने मूर्ति न पूजने का आदेश दिया था, किन्तु कालान्तर में तथागत के भक्तों की श्रद्धालुता भगवान् की मूर्तियों के निर्माण करने का कारण वनी और सर्वत्र मन्दिरों में उनको पूजा की जाने लगी। लेकिन यहाँ पर हमें यह विचार करना है कि क्या अशोक के समय बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण हो चुका था या नहीं ? सम्राट् अशोक के स्मारकों पर, जैसे चैत्य, स्तूप, स्तम्भ, शिलालेख, कहीं भी बुद्ध भगवान् की मूर्ति अंकित नहीं है। कालसी शिला-प्रस्तर के उत्तर ओर हाथी की रेखांकित प्रतिकृति है, जिसके लिए 'गजोत्तम' (उत्तम हस्ती) लिखा है। (६वाँ शिलालेख) धौली में भी 'सेती' (सफेद हस्ती) लिखा है तथा १३वें गिरनार शिलालेख में ये वाक्य खुदे हैं—"शुभ्र हस्ती विश्व के कल्याण को लाने वाला है।" इससे मालूम होता है कि गिरनार शिला पर भी हाथी का चित्र अंकित रहा होगा।

निःसन्देह शुभ्र हस्ती शाक्य मुनि भगवान् बुद्ध का द्योतक है, क्योंकि बौद्ध गाथाओं के अनुसार बोधिसत्व (आगामी गौतम बुद्ध) ने स्वर्ग को परित्यक्त कर विश्वकल्याण के लिए शुभ्र हस्ती के रूप में अपनी माता मायादेवी के गर्भ में प्रवेश किया था।[१] फलतः अशोक के समय बुद्ध की

[१] 2 A, V. 257-58.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मूर्तियों का निर्माण न हुआ था, इसलिए तब बुद्ध के प्रतीक जैसे शुभ्र हस्ती ही पूजे जाते थे !

आजीविक सम्प्रदाय—श्रीभण्डारकर आजीविक को ब्राह्मण का विशेषण मानते हैं। उनका कहना है कि आजीविक कोई अलग सम्प्रदाय न था, किन्तु जैन-साहित्य से मालूम होता है कि आजीविक एक पृथक् सम्प्रदाय था जिसका मुखिया गोसाल था। गोसाल पहले जैन-धर्म के प्रवर्तक महावीर का शिष्य रह चुका था। आजीविक नग्न संन्यासी होते थे। ये लोग इन्द्रिय-निग्रह को धर्म का लक्षण नहीं मानते—यही कारण था कि महावीर ने पार्श्वनाथ के चार जैन-सिद्धान्तों में पवित्रता और ब्रह्मचर्य--संयम, इन दो सिद्धान्तों का भी समावेश किया। गोसाल का सिद्धान्त नियति अथवा दैवपरता था। उसका कहना था कि प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक घटना नियति अथवा भवितव्यता के अनुरूप ही होती है। अस्तु, किसी भी प्रकार की घटना के लिए मनुष्य उत्तरदायी नहीं और इसलिए नियति का दास मनुष्य हर प्रकार के इन्द्रिय-निग्रह या धार्मिक बन्धनों से मुक्त है।"[1]

निर्ग्रन्थ—ये लोग महावीर के अनुगामिन थे। जैनियों का दूसरा नाम निर्ग्रन्थ है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है—जिसकी ग्रन्थियाँ मुक्त हो चुकी हैं, अर्थात् जो संसार के बन्धनों से मुक्त हो चुका है अथवा 'इन्द्रियजीत' या 'जिन' जिन शब्द का अभिप्राय जैन से ही है। जैन-धर्म को सम्राट् के पोते सम्प्रति का संरक्षण प्राप्त था। फलतः अशोक के समय के उगते हुए धर्मों में से जैन-धर्म प्रमुख धर्मों में से था।

विभिन्न सम्प्रदायों के लिए अशोक ने पाषडपि अथवा पासंडम्हिह या पासंड शब्द का प्रयोग किया है। १३वें प्रज्ञापन—शिलालेख में सम्राट् कहते हैं—"नथि चा वे जनपदे यथा नथि इमे निकाया, आनंता येनेष

[1] The Heart of Jainism—Mrs. Sinclair Stevenson.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्रह्मने चाषभने, चा नथि, चा कुवापि जनपदषि तथा नथि मनुषानं एकतलषि पि पाषडषि नो नाम पषाडे।" अर्थात् ऐसा कोई जनपद नहीं है जहाँ ब्राह्मण, श्रमण आदि के सम्प्रदाय न हों। ऐसा कोई जनपद नहीं है जहाँ मनुष्यों की किसी न किसी धर्म में प्रीति न हो।" इस प्रकार प्रकट है कि अशोक के समय संप्रदाय अथवा धर्म के लिये 'पासंड' शब्द का प्रयोग किया जाता था। 'पासंड' संस्कृत शब्द पापण्ड का अपभ्रंश है। किन्तु श्री भण्डारकर की सम्मति में पासंड संस्कृत शब्द पापण्ड नहीं वरन् 'पार्षद' वा पार्षण्ड का विकृत रूप है। पार्षण्ड शब्द अन्य संस्कृत ग्रन्थों में नहीं मिलता है, किन्तु सम्भवतः यह शब्द अशोक के समय बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त होता रहा हो।[१]

पापंड से अभिप्राय जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, 'धर्म' से भी है। अस्तु, इस धर्म का तात्पर्य क्या है? इस 'धर्म' से सम्राट् का तात्पर्य उन्हीं सद्वृत्तियों से है जिन्हें वे सब धर्मों के अन्तर्गत समझते हैं तथा जिनको सर्व पापंड, ब्राह्मण अथवा श्रमण सभी समान तौर पर मानते और अंगीकार करते हैं तथा उन धर्म नियोगों पर आचरण करते हैं। इसी से तो सम्राट् ७वें शिलालेख में कहते हैं, "देवताओं के प्रिय की अभिलाषा है कि सभी सम्प्रदाय एक ही स्थान पर रहें, क्योंकि वे सब आत्मा की शुद्धता एवं संयम चाहते हैं।" इसी प्रकार सम्राट् १२वें शिलालेख में एक दूसरे के धर्म को श्रवण करने का आदेश करते हैं। फलतः अशोक के समय सम्प्रदायों के अच्छे सिद्धान्तों, नियमों अथवा शुद्ध संयमित आचरण का दूसरा नाम ही धर्म था। इस धम्म वा धर्म का लक्षण जानने के लिये द्वितीय गौण शिलालेख को देखिए—"देवताओं का प्रिय कहता है, माता और पिता की आज्ञा का पालन होना चाहिये। इसी भाँति अन्य जीवधारियों का आदर भी अनिवार्य है। सत्यभाषी होना अच्छा है, ये ही धर्म के लक्षण हैं जिनका अवश्यमेव अनुशीलन होना चाहिए।"

[१] Bhandarkar's Asoka, P. 179.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रोफेसर जॉली का कहना है कि "संस्कृत साहित्य में 'धर्म' एक प्रच्छन्न तथा प्रमुख शब्द है। भारयीय आलोचकों के सार 'आत्मा' के विकास का मूल है धर्म पर आचरण करना। धर्म स्वर्गिक उपहारों एवं सुख का प्रदायक तथा मोक्षदायक है।" इस प्रकार धर्म उन शिव, सुन्दर, साधु और दैवी अथवा सद्वृत्तियों का निर्मल समूह है जिन पर आचरण करने से मनुष्य इहलोक और परलोक दोनों पर विजय प्राप्त कर सच्चे सुख का भागी हो सकता है। इस कारण सम्राट् अशोक कहते हैं कि प्रत्येक सांसारिक या साम्प्रदायिक रीति-रिवाज सन्देहात्मक तथा निरर्थक हैं, क्योंकि उनसे सच्चे सुख का लाभ होना कठिन है, किन्तु जो फल धर्ममङ्गल से होता है वह अक्षय सुख का प्रदायक है। इस धर्ममङ्गल से सबसे बड़ा सुख अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ये धर्ममङ्गल क्या हैं? ९वाँ शिलालेख कहता है—"धर्ममङ्गल में निम्न बातें होती हैं, दास और नौकरों से उचित व्यवहार, वृद्ध तथा गुरुजनों की पूजा, अहिंसा व प्राणियों में संयम, (प्राणियों में संयम का अर्थ है हिंसा से अलग रहना, किसी जीव को अपने सुख के लिए नष्ट न करना, सर्वप्राणियों की रक्षा करते हुए, अहिंसा व्रत का पालन करना), श्रमणों और ब्राह्मणों को दान देना तथा इसी प्रकार के अन्य कर्म धर्ममङ्गल के कर्म (कार्य) हैं। इस धर्ममङ्गल से यहाँ (इस संसार में) मनचाहा फल मिलता है और परलोक में भी अनन्त पुण्य का देनेवाला है।"

धर्म की उपरोक्त व्याख्या से हम कह सकते हैं कि सम्राट् अशोक 'कर्म' पर अधिक जोर देते थे। कर्म अच्छे होने चाहिए चाहे मनुष्य किसी विशेष देवता का अथवा धर्म का उपासक क्यों न हो। उनका विश्वास था कि कोई भी मनुष्य किसी संप्रदाय में न रह कर भी साधु अथवा गृहस्थ हो सकता है। इन सब वातों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सम्राट् सुन्दर प्रवृत्तियों को उत्पन्न करने और सुन्दर नियमों पर आचरण करने को ही प्रधान धर्म समझते थे। इसी कारण वि० स्मिथ ने अशोक के धर्म

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को बिना ईश्वर का धर्म कहा है।[१] अशोक के समय संभवतया कर्मवाद का सिद्धांत साधारण उपासक से लेकर सभी पाषण्डों, सम्प्रदायों आदि में जोर पकड़ने लगा था। लोगों में यह विश्वास घर करने लगा था कि सद्-वृत्तियों एवम् सुन्दर कर्मों के विकास से ही उनके इहलोक और परलोक दोनों शुद्ध होंगे और उन्हें परम सुख की प्राप्ति होगी। सम्राट् सद्वृत्तियों पर अनुशीलन करने का परिणाम, 'समाज' में दिव्यरूपों अर्थात् स्वर्गीय उपहारों (विमान, अग्निस्कंध, शुभ्र हस्ति आदि) को दिखलाकर स्पष्टत: व्यक्त करते जाते थे। इस प्रचार के फलस्वरूप सुन्दर कर्म के सिद्धांत अथवा नियमों को ही लोग अपने देवता समझकर उनकी (सिद्धांतों की) पूजा करने लगे। इस प्रकार मालूम होता है कर्मवाद या कर्मयोग अशोक-कालीन भारत का धर्म हो चला, परंतु यह न समझना चाहिए कि अशोक-कालीन सम्पूर्ण जनता ज्ञाननिष्ठ या तत्त्वविद् हो चली थी। उस काल में भी आजकल की भाँति बहुत से अंधविश्वास समाज में प्रचलित थे। विशेषत: जैसा कि आज भी देखने में आता है, उस समय भी सशङ्कित हृदय वाली स्त्रियाँ संभवत: अंधविश्वासी हुआ करती थीं। अशोक-कालीन स्त्रियों में मिथ्याधर्म का कितना प्रचार था—इस बात को सम्राट् ने ९वें शिलालेख में कहा है—"देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है, जनता में बहुत से मङ्गल मनाये जाते हैं। किसी के बीमार होने पर, लड़के और लड़कियों के ब्याह के अवसर पर, बच्चों के जन्मोत्सव पर, घर से बिदा होते समय आदि सभी अवसरों पर लोग बहुत प्रकार के मङ्गल मनाते हैं, किंतु ऐसे अवसरों पर माँ और पत्नियाँ बहुत तथा विभिन्न प्रकार के मूढ़ उत्सव या मङ्गल मनाती हैं। मङ्गल अवश्य मनाने चाहिए, किन्तु उपरोक्त मङ्गल बहुत कम लाभप्रद हैं। जो मङ्गल धर्म से संबद्ध हो वह अत्यन्त फलदायक होता है। इस धर्म-मङ्गल में निम्न बातें होती हैं—वेतनभोगी और दासों

---

[१] वि० स्मिथ अशोक, पृष्ठ ३३-३४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से उचित व्यवहार, गुरुओं का आदर-सत्कार, अहिंसा (प्राणियों में संयम), ब्राह्मणों और श्रमणों की सुश्रूषा—इन्हें और ऐसे ही अन्य मङ्गल धर्म-मङ्गल कहलाते हैं।" इस विवरण से प्रकट है कि आजकल अशिक्षित जनता और अशिक्षित स्त्रियों में जिस प्रकार बहुत से मूढ़ तथा अन्ध-विश्वास—जैसे भूत, प्रेत आदि की पूजा प्रचलित है, इसी प्रकार अशोक के समय भी अशिक्षित स्त्री-समाज और जनता में अनेक प्रकार के अन्ध-विश्वास फैले हुए थे। इस मिथ्याधर्म के कारण उस समय के समाज में—यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, नाग, सुपसी, हस्ति, अश्व, काक आदि की उपासना जाग उठी थी। बौद्ध-ग्रन्थ सुत्तपिटक-निद्देश में अनेक प्रकार के सम्प्रदायों का उल्लेख है जैसे—जटिल, अवरुद्धक, परिव्राजक, हस्ति-पूजक, अश्व और गौ के उपासक, कुत्ता और कौआ के उपासक, यक्ष, गन्धर्व, चन्द्र, सूर्य, पुण्णभद्द, मणिभद्द, वासुदेव, बलदेव, ब्रह्मा, इन्द्र तथा विभिन्न दिशाओं के उपासक। इस तरह के मिथ्याधर्म अथवा अन्धविश्वासों को मिटाने के लिए ही सम्राट् ने धम्ममङ्गल को अन्य मङ्गलों से सर्वोत्तम कहा है।

जाति-निरोध—अशोक के समय जाति-पाँति के नियम कड़े न थे। उस समय का धर्म संकुचित न होकर विशाल था। जनता जातिगत दारुण नियमों से बँधी न थी। विभिन्न जातियों में पारस्परिक हेल-मेल था। जाति के नियमों की कर्कशता लोगों को एक दूसरे से पृथक् न किये थी। छूत-छात का पूर्णतया अभाव था। सम्राट् के प्रतापी पितामह ने यवनकुमारी हेलेन का प्रेम-अंचल स्वच्छंदतापूर्वक अंगीकार किया था।

जाति की उच्चता और नीचता के अन्तर न होने के कारण ही यवन-राज तुषास्प अशोक के सौराष्ट्र का अधिनायक था। प्राचीन काल में आर्य मिशन यवन प्रान्त—सीरिया, मिश्र, कैरीन, मैसिडोनिया और इपीट्स—में धर्म का प्रचार कर रहे थे।[१] सामुद्रिक अथवा वैदेशिक यात्रा पर तब

[१] महाभारत, अ० १२, ६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कोई प्रतिबन्ध न था। इस प्रकार उस ससय का समाज जाति के बन्धनों और छुआछूत के घृणित प्रतिबन्धों आदि से बिलकुल मुक्त था।

सामाजिक अवस्था—सम्राट् अशोक के समय लोगों में मांस-भक्षण काफी प्रचलित था। प्रथम शिलालेख में सम्राट् कहते हैं कि राजकीय पाक-शाला में कई सहस्र प्राणी शोरबे के लिए मारे जाते थे। बहुत पशु ऐसे भी थे जिनका मारा जाना पाप-कृत्य समझा जाता था। ५वें स्तम्भ-लेख में सम्राट् कई प्रकार के पशु और पक्षियों के मारने का निषेध करते हैं जिन्हें वे, "पटिभोगमिनो इति" कहते हैं जो 'न काम में आते हैं और न खाये जाते हैं।" धर्म-शास्त्र और धर्म-संहिता में कई ऐसे पशु-पक्षियों का नाम दिया है जिनका मारना पाप बतलाया गया है। कई जानवर सम्राट् ने ऐसे भी दिये हैं जिनका मारना वे निषेधात्मक बतलाते हैं, किन्तु याज्ञवल्क्य, गौतम, मनु, वशिष्ठ आदि उनकी हिंसा का निषेध नहीं करते जैसे गंडक और खड्गधेनु।

अशोक के समय होम, बलि और यज्ञ आदि की प्रथा का भी काफी प्रचार था। इस बलि प्रथा के कारण जनता में हिंसा का भाव बढ़ चला था। शिलालेख चतुर्थ लिखता है, "बहुत समय बीता, सैकड़ों वर्ष हो गये कि जीवों का यज्ञ के लिए बलि होना, जीव-हिंसा और सम्बन्धियों, श्रमणों तथा ब्राह्मणों का अनादर बढ़ता ही गया, किन्तु आज देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण से भेरीघोष धर्मघोष में परिवर्तित हो चला।" इस बढ़ती हुई जीवहिंसा को रोकने के लिए सम्राट् को राजकीय आज्ञाएँ प्रेषित करनी पड़ीं।

जीवहिंसा बढ़ाने का दूसरा कारण आखेट की प्रथा थी। अशोक से पूर्व के राजागण बहुधा विहारयात्रा को निकला करते थे। इन विहारयात्राओं में शिकार खेलते हुए वे मनोरंजन किया करते थे। इस प्रकार जीवहिंसा बढ़ती जाती थी। आखेट में होनेवाली जीवहिंसा को रोकने का भी सम्राट् ने प्रयत्न किया। आठवाँ शिलालेख लिखता है, "विगत समय में राजा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लोग विहारयात्रा को निकलते थे। इस (विहारयात्रा) में शिकार आदि मनोरंजन हुआ करते थे, किन्तु देवताओं के प्रिय ने अभिषिक्त होने के १०वें वर्ष सम्बोधि की यात्रा को—जब से कि ये धर्मयात्राएँ आरम्भ होती हैं। इस धर्मयात्रा में भिन्न बातें हुआ करती हैं—ब्राह्मणों का दर्शन, श्रमणों का दर्शन और उन्हें दान देना, गुरुजनों का दर्शन और उन्हें सोने का दान देना, जनपद के लोगों का दर्शन, उन्हें धर्म की शिक्षा देना और यदि उचित समझा जाय तो उनके साथ धर्म पर जिज्ञासा करना है (शाहबाजगढ़ी) !" इस प्रकार विहारयात्रा को धर्मयात्रा में बदल कर सम्राट् ने लोगों का हिंसा के मार्ग से हटाकर धर्म-पथ पर ले जाने का प्रयत्न किया। जीवहिंसा को रोकने का अन्य अहिंसात्मक आजीविक, जैन आदि सम्प्रदायों ने भी इस दिशा में काफी प्रयत्न किया। जीवहिंसा को रोकने के लिए सम्राट् ने और भी बहुत से प्रयत्न किये। (चतुर्थ स्तम्भलेख)।

स्त्री-समाज—स्त्रियों के विषय में शिलालेखों से हमें बहुत कम ज्ञान होता है। ९वें शिलालेख से इतना अवश्य मालूम होता है कि उस समय की स्त्रियों में अन्धविश्वास बहुत था, जैसा कि अशिक्षित स्त्री समाज में आज भी है।

पर्दा-प्रथा—श्री भण्डारकर की सम्मति में अशोक-कालीन स्त्रियों में प्राचीन काल से पर्दा की प्रथा विद्यमान थी। इसके प्रमाण में वे 'अवरोधन' शब्द देते हैं। उनका कहना है कि अशोक ने अपनी रानियों के महल के लिये अवरोधन शब्द प्रयुक्त किया है, इनसे मालूम होता है कि अशोक की रानियाँ बन्द पर्दे में रहा करती थीं। इसके प्रमाण में वे कौटिल्य के 'अन्तःपुर' को भी देते हैं। श्री सत्यकेतु ने भी भण्डारकर जी के मत का समर्थन करते हुये स्वीकार किया है कि प्राचीन समय में पर्दा-प्रथा का रिवाज था।

पर्दा-प्रथा की विवेचना करने से पहले हमें पर्दा का अर्थ पूर्णतया समझ लेना चाहिये। 'पर्दा' के दो अर्थ हैं। प्रथम 'गोपनीयता' के लिए पर्दा,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दूसरा 'पर्दा' जैसा कि 'बुर्के' के अर्थ में विद्वानों ने लिया है। यदि कोई व्यक्ति किसी बात को पर्दे में गोपनीयता के साथ करना चाहता है तो क्या वह व्यक्ति पर्दा-प्रथा का अनुगामी कहा जायेगा ? यदि रानियों का अन्तःपुर गुप्त या अलग स्थान में बनांया जाता था तो क्या इसका अर्थ पर्दा-प्रथा के रूप में लेना चाहिए ? अवरोध या अन्तःपुर को अवश्य अवरुद्ध रहना चाहिये, क्योंकि यह तो निजी गुप्तता (Privacy) के लिए किया जाता है। यदि कौटिल्य राजकीय अन्तःपुर का निर्माण सुरक्षित जगह पर करने को कहें जहाँ कोई पर-पुरुष अथवा विदेशी आक्रमणकारी न पहुँच सके, तो उचित ही है। स्त्रियाँ कोमल-हृदय की होती हैं, उनमें पुरुषों की-सी हिंसा, पटुता तथा पौरुषता का अभाव रहता है, फलतः विदेशी आततायी, आक्रमणकारी तथा षड्यन्त्रकारियों से उनकी रक्षा करने के लिए सुरक्षित अवरोधन या अन्तःपुरों का निर्माण अनिवार्य था। इसलिये अवरोधन तथा अन्तःपुर शब्दों को पर्दा-प्रथा के प्रमाण रूप में देना भूल है। उस समय पर्दा था, किन्तु उतना ही जहाँ तक मर्यादा कहती है। रानियों के अन्तःपुर गुप्त या एकान्त स्थान में होते थे, इसलिये नहीं कि पर्दा का रिवाज था, किन्तु इसलिये कि वे मर्यादा और नियमों के अन्नर्गत रहना चाहते थे। गुप्तता और पर्दा ये दो भिन्न चीजें हैं। श्री भण्डारकर ने अपने पक्ष की प्रबलता के लिए पाणिनि के सूत्र 'असूर्यम्पश्या' को पेश किया है, जिसका अर्थ कासिकाकार ने "असूर्यम्पश्या राजदारा" "राजा की स्त्री" किया है। यह "असूर्यम्पश्या" कौमुदी महोत्सव नाटक में भी एक राजकुमारी के लिए प्रयुक्त किया गया है। श्री भण्डारकर कहते हैं कि "राजा की स्त्रियाँ या रानियाँ इतनी निर्दयता और दृढ़ता के साथ बन्द रहती थीं कि सूर्य भी उनको न देख पाता था।" किन्तु खेद है कि बिना विवेचना के ही "असूर्यम्पश्या" का सरल अर्थ लगा कर उसका अनर्थ किया गया है। साधारणतया असूर्यम्पश्या का अर्थ "जिनको सूरज नहीं देख पाता" ही लिया जाता है, किन्तु वस्तुतः उसका भाव यह कि है "वे (स्त्रियाँ) इतनी पतिव्रता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होती थीं कि परपुरुष का मुख देखना तो असम्भव ही है वे सूर्य के मुख को भी न देखती थीं।"[1] ब्राह्मण धर्म में स्त्रियों के लिये सूर्य को अर्घ्य देना नहीं लिखा है, इसलिये भी शायद वे असूर्यम्पश्या कहलाती थीं। संस्कृत साहित्य के इस श्लोक को भी देखिये, "ललाट तप्तसूर्य्यं तु ताऽसौंदर्य विघातक मुखमेचकिमोत्पादकत्वेन न पश्यन्ति" स्त्रियाँ इतनी कोमलांगी होती थी, उनका सौन्दर्य इतना तरल और स्निग्ध था कि सूर्य की तीखी किरणों के भाले उनके लावण्य कुसुम को विदीर्ण करदेते थे। इस अलंकारिक भाव के अनुसार सौन्दर्य की रक्षा के हेतु ही वे सूर्य को न देखती थीं जिसके फलस्वरूप उनका 'असूर्यम्पश्या' नाम पड़ा। फलतः असूर्यम्पश्या शब्द स्त्रियों की पवित्रता, चारित्र्य की उज्ज्वलता तथा कोमलता का बोधक है, पर्दा-प्रथा का नहीं। प्राचीन काल की स्त्रियों में पाश्चात्य ढङ्ग की स्त्रियों की-सी फैशन का चुलबुलापन न था किन्तु सतीत्व की मर्यादा अवश्य थी जो उन्हें सूर्य के मुख तक देखने से रोकी थी। पर्दा शब्द से भ्रम में पड़ना चाहिये, हम पहले ही कह चुके हैं कि पर्दा के दो अर्थ हैं—गुप्तता (Privacy) और बुर्का (veil)। हमने पर्दा का अर्थ गुप्तता से लिया है, जिससे अभिप्राय भीतरी गुप्तता, मर्यादा और संयम का पालन करने से हैं; और बुर्का का अर्थ हैं सर्वत्र, बाहर-भीतर पिंजरे में बन्द पक्षी की तरह पर्दे की कैद में पड़ा रहना।

सत्यकेतु जी ने एक और शब्द 'अनिष्कासिनी' को पेश कर कहा है कि, "क्योंकि कौटिल्य ने स्त्रियों के लिए अनिष्कासिनी (बाहर न निकलने वाली) शब्द का प्रयोग किया है, इसलिये सिद्ध है कि स्त्रियों में प्राचीन काल से पर्दा की प्रथा कायम थी।"[2] हमारी राय में यह शब्द

---

[1] सूर्य दर्शनस्य पातिव्रत विधानकत्वे तु अथैनां सूर्यमुदीक्षयति इति गृहसूत्रोक्तकर्मणाऽकरणेऽङ्गवैगुण्यमेव स्यादिति केचित्।

[2] मौर्य-साम्राज्य का इतिहास, पृष्ठ ६०९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर्दा-प्रथा का कतई प्रमाण नहीं है। 'अनिष्कासिनी' कौन हुआ करती थीं? और कहना न होगा कि राजरानियाँ जिनके लिये कौटिल्य आदि प्राचीन ग्रन्थकारों ने यह शब्द प्रयुक्त किया है अनिष्कासिनी कहलाती थीं। अनिष्कासिनी शब्द ऐश्वर्य और वैभव का द्योतक है। सम्राज्ञियों को बाहर निकलने की क्या आवश्यकता, जब कि उनके लिए भोग और ऐश्वर्य के सभी उपकरण पास ही रहते हैं। फलतः अनिष्कासिनी असीम ऐश्वर्य का लाक्षणिक है। माँ सीता के लिये भी इस अनिष्कासिनी शब्द का प्रयोग किया गया है। सीता जी भगवान् राम की सहचारिणी थीं जिन्होंने कभी पलँग से नीचे पाँव भी न रखा था, वही सीता वनवास के समय विना पदत्राण के पैदल रामजी के साथ वन को गयी थीं। यदि सीता पर्दे के अर्थ में अनिष्कासिनी होतीं तो वे किस प्रकार वन को जा सकती थीं? लेकिन जब आर्य कवि उनके ऐश्वर्य का उल्लेख करता है—सीता वन जाने से पहले, अनिष्कासिनी थीं क्योंकि ऐश्वर्य और वैभव की विपुलता के कारण उन्हें पलँग से नीचे पाँव रखने की तब कोई आवश्यकता ही नहीं थी। हमें मालूम है कि प्राचीन काल में यज्ञ करते समय स्त्रियाँ भी साथ रहा करती थीं। लंका विजय करने के पश्चात् रामचन्द्रजी ने अश्वमेध यज्ञ किया था। इस राजसूय-यज्ञ के समय सीता जी पुनः राम से परित्यक्त हो वन में रहा करती थीं। उस यज्ञ को करते समय धर्मपत्नी के रूप में सीता जी की उपस्थिति अनिवार्य थी। अस्तु, रामचन्द्रजी को सीताजी की एक स्वर्ण-प्रतिमा बनवानी पड़ी, तभी यज्ञ प्रारम्भ हो सका। जब सीताजी ने यह वृत्तांत सुना तो वे व्याकुल हो उठीं। महाकवि लिखता है—

"वृन्तान्तेन श्रवणविषय प्रणिना तेन भर्त्तः
सा दुर्वारं कथमपि परित्याग दुःखे विषेहे॥" रघुवंश, ८७।

महाराज रामचन्द्र के पूर्वज श्री दिलीप नृपति को जब कोई पुत्र न हुआ तो राजकार्य छोड़ दिलीप और उनकी धर्मपत्नी सुदक्षिणा मुनि वशिष्ठ के आश्रम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में जाकर, कामधेनु की उपासना करने लगे। वहाँ रात को गाय की आराधना कर चुकने पर जब कामधेनु सो जाती थी तो दोनों राज-पति-पत्नी गुरु और गुरु-पत्नी की सेवा में संलग्न हो जाते थे। महा कवि कालिदास ने इसका बड़ा ही रोचक वर्णन किया है। उनके एक-दो श्लोक यहाँ पर उद्धृत किये जाते हैं—

"अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयातौ पुत्रकाम्यया।
तौ दम्पती वशिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम्॥
तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तिनीया।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिमन्वगच्छत्॥"

(रघुवंश, १-३५)

इसी प्रकार कालिदास के नाटक शकुन्तला आदि में भी पर्दा-प्रथा नहीं पायी जाती। शकुन्तला की सखियाँ प्रियम्वदा और अनसूया दुष्यन्त से खुल कर वार्तालाप करती हैं। भास के नाटक में भी वासवदत्ता अपने राखीबन्ध भाई के साथ विदेश यात्रा को निकल जाती है। इन प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते है कि प्राचीन काल में पर्दा-प्रथा का प्रचलन न था। हमारी प्राचीन चित्रकला, पाषाण-शिल्पकला भी साक्षी हैं। प्राचीन काल की ज़ितनी भी चित्रकारी हैं, किसी पर पर्दा (बुर्का) का चिह्न अंकित नहीं है। मौर्य काल में स्त्रियाँ सैर के लिए ही नहीं, आखेट के लिये भी बाहर निकला करती थीं। मेगास्थनीज ने लिखा है कि आखेट को जाते हुए चन्द्रगुप्त के साथ पुरुष योद्धाओं के अलावा अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित स्त्रियों का भी एक दल साथ होता था। "अस्त्र-शस्त्रों से सजी-धजी ये स्त्रियाँ ऐसी मालूम देती थीं मानो किसी युद्ध में जा रही हों।" अशोक के समय स्त्री अध्यक्ष-महामात्र भी नियत किये गये थे। अतः मालूम होता है कि स्त्रियाँ राजकार्य, धर्मकार्य, आखेट आदि सभी विभागों में नियुक्त थीं। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार स्त्रियाँ शिल्प-शालाओं में भी काम किया करती थीं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्राज्ञियों का बाहर आना दिव्यावदान से भी प्रमाणित है। दिव्यावदान लिखता है कि अशोक अपनी ईर्षान् रानी तिष्यरक्षिता के साथ बोधिवृक्ष के दर्शन करने गये थे। यह बोधि-वृक्ष तिष्यरक्षिता के कुमन्त्र के कारण झुलस उठा था। सम्राट् उसे सुगन्धित जल से सींचना चाहते थे। इस वृक्ष की यात्रा का चित्र सांची-स्तूप पर दिया गया है।[1]

अशोक-काल में स्त्रियाँ पुरुषों की भाँति संघ में भी सम्मिलित हुआ करती थीं। पुरुष और स्त्रियों में कोई धार्मिक तथा सामाजिक अंतर न था। स्त्रियाँ पुरुषों की तरह प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षुणी हो सकती थीं। धर्म के प्रचार में स्त्रियों ने भी यथेष्ट प्रयत्न किया था। सम्भवत: स्त्रियों के मिशन अथवा धर्म प्रचारक मण्डल पृथक् हुआ करते थे। महेन्द्र के प्रव्रज्या ग्रहण करने के दो वर्ष पश्चात् संघमित्रा भी प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षुणी बन गयी थी। उस समय संघमित्रा की आयु केवल बीस वर्ष की थी। धर्म-प्रचार के लिए वह भी अपने भाई के साथ लङ्का गयी थी। राजा तिस्स ने सङ्घमित्रा के लिए लङ्का में एक विहार का निर्माण करवाया था। सङ्घमित्रा ५९ वर्ष तक लङ्का में रही और ७९ वर्ष की अवस्था में वहीं शरीर-त्याग किया। महावंश के अनुसार, "थीरो मोगाली राजकुमार महेंद्र का आचार्य था और आयुपाली सङ्घमित्रा की याजिका (आचार्य) थी। धर्म को उज्ज्वल करने वाले ये दोनों व्यक्ति धम्माशोक के अभिषिक्त होने के ६ठे वर्ष परिव्राजक हुए थे। जिस प्रकार सूर्य और चाँद विश्व को प्रकाशमान करते हैं उसी तरह सङ्घमित्रा और महेंद्र ने गौतम के धर्म को प्रकाशमान किया।"[2]

समाज—अशोक के समय अनेक वर्ग विद्यमान थे। ५वें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "ये (महामात्र) भियेषु, ब्राह्मण, अभेषु और गृहस्थियों, अनाथों (निराश्रयों), बुड्ढों तथा धर्मगामिन् लोगों के सुख और रक्षा के लिए

[1] दिव्यावदान, पृष्ठ ३९७-३९८

[2] महावंश, प्रकरण पाँचवाँ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नियत किये गये हैं।" स्पष्ट है कि उस समय का समाज, ब्राह्मण, भियेषु या वैश्य, भट और उनके अधिपति (अधिनायक) क्षत्रिय, दास वेतनभोगी (शिलालेख ९, ११ और १३ तथा स्तम्भलेख ७वें में इनका उल्लेख है) अथवा शूद्र आदि विभिन्न वर्गों या जातियों में विभाजित था।

ये विभिन्न जातियाँ साम्राज्य के सभी प्रदेशों में पायी जाती थीं। केवल यवनों का प्रदेश ही एक ऐसा प्रदेश था जहाँ सम्राट् कहते हैं— "यवनों के जनपद प्रदेश को छोड़कर, कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है जहाँ ये जातियाँ (ब्राह्मण, श्रमण, साधु, क्षत्रिय आदि जो ऊपर लिखी हैं) न पाई जाती हों।"

भियेषु—यह शब्द एक बार केवल उपनिषद् में आया है, किन्तु पाली साहित्य में यह कहीं नहीं पाया जाता।[१] महानारद-कश्यप जातक में भियेषु को गहपति या गृहपति कहा गया है। गृहपति का अर्थ तृतोय वर्ग अर्थात् वैश्यों से लिया जाता है। इस वर्ग का समाज में यथेष्ट स्थान था, क्षत्रियों के बाद यही वर्ग विशिष्ट वर्ग समझा जाता था।

क्षत्रिय—अशोक के शिलालेख क्षत्रियों का कुछ भी उल्लेख नहीं करते हैं, किन्तु मानना पड़ेगा कि क्षत्रिय उस काल में एक शासक जाति थी। सम्राट् अशोक स्वयं अभिजात मौर्य क्षत्रिय कुल के थे। अशोक ने अपने संबंधियों तथा भाइयों आदि का शिलालेख में उल्लेख किया है। शिलालेख में सीमांत के क्षत्रिय दक्षिणी राजाओं का भी उल्लेख किया गया है। भट और उनके अधिनायकों का भी शिलालेख में उल्लेख है। इन वृत्तों के आधार पर कह सकते हैं कि शायद शासकवर्ग होने के कारण सम्राट् ने क्षत्रियों का पृथक् रूप से उल्लेख नहीं किया है, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से उनका अवश्य उल्लेख किया गया है।

---

[१] Bhandarkar's Asoka, p. 190.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शूद्र—शूद्रवर्ग पूर्णतया अवस्थित वर्ग न था। समाज के इस निकृष्टतम वर्ग में भृत्य और दास भी शामिल थे। इन भृत्यों और दासों के प्रति अच्छा व्यवहार करने का सम्राट् बार-बार आदेश करते हैं तथा भृत्य और दासों के प्रति किये गये अच्छे व्यवहार को सम्राट् धर्म का लक्षण मानते हैं। मालूम पड़ता है कि दास और भृत्यों से लोग अच्छा बर्ताव न करते थे। इसीलिए सम्राट् को दास और भृत्यों के प्रति अच्छा व्यवहार करने का जनता को आदेश और उपदेश देना पड़ा।

अशोक के दूसरे शिलालेख से भी उस समय की सामाजिक अवस्था पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। दूसरा शिलालेख कहता है—"देवताओं के प्रिय ने सर्वत्र दो प्रकार के चिकित्सालयों की स्थापना की है, मनुष्यों के चिकित्सालय और पशुओं के चिकित्सालय। औषधियाँ भी जो मनुष्यों के लिए फलदायक हैं और जो पशुओं के लिए लाभदायक हैं—जहाँ-जहाँ वे नहीं पाई जातीं और पैदा नहीं होतीं, वहाँ-वहाँ भेजी गयीं और रोपी गयीं हैं।" इस वृत्त से प्रकट है कि उस समय का समाज हर प्रकार से एक विशिष्ट समाज था। उस समय के लोगों के हृदयों में प्राणियों का मूल्य समान था, जीव रूप में मनुष्य तथा अन्य प्राणियों—में कोई अन्तर न समझा जाता था। यही कारण है कि मनुष्य और पशु दोनों के लिए एक ही प्रकार से चिकित्सालयों का प्रबन्ध किया जाता था। मनुष्यों की मुफ्त चिकित्सा होती थी और स्वतन्त्रतापूर्वक दवाइयों का वितरण किया जाता था। इसी तरह पशुओं के लिए भी प्रबन्ध था। असहाय पशुओं तथा बीमार जानवरों के लिए अलग अस्पताल मौजूद थे। सम्राट् किस प्रकार औषधियों का स्वतंत्र और उदारता के साथ वितरण किया करते थे, यह महावंश की निम्न कथा से स्पष्ट है। महावंश लिखता है—"पाटलिपुत्र का एक यात्री जंगल में भ्रमण कर रहा था। इसी समय एक युवती कुन्तीकिन्नारया (एक काल्पनिक पशु) से उसका सम्बन्ध हो गया। इस सम्बन्ध से उनके दो पुत्र हुए—ज्येष्ठ का नाम तिस्सो था और कनिष्ठ का नाम सुमींतो था। ये दोनों समय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बीतने पर थीरो महावरुणी की शिष्यता ग्रहण कर संघ में सम्मिलित हुए। पाँव में काँटा चुभने के कारण तिस्सो के घाव हो चला। इस घाव के लिए शुद्ध नवनीत की आवश्यकता थी, किन्तु वह नियत समय पर न मिल सका। बीमारी बढ़ती गई और थीरो अन्त में चल बसा। जब सम्राट् (अशोक) ने थीरो तिस्स के कारुणिक अन्त का हाल सुना तो वह अपने परिचारकों के सहित थीरो के निवास पर गया और उसके अवशेषों को एकत्र करवाया। इसके पश्चात् थीरो के अवशेष राजकीय हाथी पर रखे गये और उनके सम्मान में उत्सव मनाया गया। उत्सव मना चुकने के पश्चात् सम्राट् ने पूछा कि यह थीरो किस बीमारी से मरा था ? जब सम्राट् को मालूम हुआ कि थीरो की मृत्यु समय पर औषधि उपलब्ध न होने के कारण हुई, तो उन्होंने नगर के चारों द्वार पर शुभ्र चूने के चार तड़ाग बनवाये और उन्हें औषधीय, रोगहारिन पेय (पानीयं) से भरते हुए कहा—"भिक्षुगणों को प्रति दिवस औषधि देने में कभी कमी न रहने पावे।"

अशोक के समय प्रत्येक चिकित्सालय की अपनी-अपनी आयुर्वेदिक वाटिकायें हुआ करती थीं। इन वाटिकाओं में जगह-जगह से लाकर औषधि के वृक्ष लगाये जाते थे। इस प्रकार चिकित्सालय स्वयं औषधियाँ उगाया करते थे। फलस्वरूप चिकित्सालयों को कभी औषधियों की कमी न रहा करती थी। सम्राट् इन वानस्पतिक वाटिकाओं की देख-रेख किया करते थे। उन्हें औषधियों की कमी का हर समय ध्यान रहता था। जहाँ जिस औषधि के वृक्ष न पाये जाते थे वहाँ उस औषधि के बिरवों आदि के भेजने का प्रबन्ध किया जाता था। दूसरे शिलालेख में सम्राट् कहते हैं—"औषधियाँ जो मनुष्यों के लिए गुणकारी हैं और जो जानवरों के लिए उपयोगी हैं, जहाँ-जहाँ नहीं हैं वहाँ भेजी गईं और रोपी गई हैं। इसी तरह जड़ें और फलों के वृक्ष भी जहाँ-जहाँ नहीं पाये जाते वहाँ-वहाँ भेजे गये और रोपे गये।" यह सम्राट् के महान् कार्यों में से एक महान् कार्य था। जिस समय गौरांग प्रदेशों तथा पश्चिमी एशियाई प्रदेशों में मनुष्यों को ही औषधियाँ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राप्त न थीं, सम्राट् पशुओं को भी स्वतन्त्र रूप से औषधियाँ वितरण किया करते थे। उनके राज्य में मनुष्यों के लिए विशाल चिकित्सालय और पशुओं के लिए पिंजरापोलों की कमी न थी। ये दोनों प्रकार के औषधालय सम्राट् के विजित या अपने ही राज्य में न थे, अपितु यवन प्रदेशों में भी सम्राट् ने इन दो प्रकार की चिकित्साओं का प्रबन्ध करवाया था।

अशोक-काल में विद्या की अभिवृद्धि—अशोक के समय दो प्रकार की लिपियाँ प्रचलित थीं—(१) ब्राह्मी लिपि और (२) खरोष्ट्री लिपि। शाहवाजगढ़ी और मानसेरा के चतुर्दश शिलालेख खरोष्ट्री लिपि में लिखे गये हैं। इनके अलावा अन्य शिलालेखों की लिपि ब्राह्मी है। बुलेर का कहना है कि खरोष्ट्री लिपि के नाम का मूल खरोष्ट्र (खरओष्ट्र) से है। इस लिपि का प्रवर्तक खरोष्ट्री नामक एक साधु था, जिसके कारण इस लिपि का नाम खरोष्ट्री पड़ा। डा० सिलमन के अनुसार यह लिपि मूलतः खरोष्ट्र प्रदेश में प्रचलित थी, जिस कारण इस लिपि का नाम उक्त प्रदेश के नाम पर खरोष्ट्री पड़ा। खरोष्ट्र प्रदेश भारत के समीपस्थ एक बाह्य प्रदेश का नाम था।

ब्राह्मी लिपि—प्राचीन लोगों का विश्वास था कि यह लिपि साक्षात् ब्रह्मा से प्रसूत हुई थी, जिसके परिणाम स्वरूप इसका नाम ब्राह्मी लिपि रखा गया। खरोष्ट्री लिपि की लेखन-शैली दाएँ से बाएँ थी, किन्तु ब्राह्मी लिपि के लिखने का ढङ्ग आजकल की अंग्रेजी और हिन्दी लेखन प्रणाली की तरह बाईं से दाहिनी ओर था। खरोष्ट्री लिपि का प्रचार उत्तर-पश्चिम भारत के सीमान्त प्रदेशों से लेकर चीनी तुर्किस्तान तक था, किन्तु ब्राह्मी-लिपि भारतवर्ष में सर्वत्र प्रचलित थी। खरोष्ट्री लिपि ५वीं शताब्दी के लगभग भारत से लुप्त हो गई।

ब्राह्मी लिपि कालान्तर में सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं की माता बनी। सीलोन, ब्रह्मा और तिब्बत की भाषाओं की भी ब्राह्मी ही प्रसूतिनो कही जाती है। ब्राह्मी लिपि के प्रति बहुत से यूरोपियनों के विभिन्न मत हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वेबर और बुलेर का मत है कि ब्राह्मी लिपि का मूल फ़िनिसियन वर्णमाला से है। फ़िनिसियन वर्णमाला का समय आठवीं शती ई० पू० के लगभग कहा जाता है, किन्तु कनिंघम इसके सामी-मूल को स्वीकार नहीं करता। कनिंघम का कहना है कि ब्राह्मी लिपि सेमेटिक न थी, क्योंकि उसकी लेखन-प्रणाली हमेशा बाईं से दाहिनी ओर रही है। इन सब विवादों को देखकर श्री भण्डारकर कहते हैं, "यह अनुमान करना अधिक नीतियुक्त है कि ब्राह्मी लिपि स्वदेशीय है। ब्राह्मी लिपि आठवीं ई० पू० के सोमिटिक वर्णमाला से उद्‌भूत न हुई थी, अपितु उसे प्रागैतिहासिक काल का मानना चाहिए।"

अशोक के शिलालेखों में वर्ण-विन्यास अथवा अक्षर-विन्यास की विचित्रता पायी जाती है। शिलालेखों में कहीं भी समान व्यंजन द्विगुणित नहीं किये गये हैं। इस काल में दो प्रकार की भाषाओं का व्यवहार किया जाता था। ७वें स्तम्भ-लेख की भाषा तथा चतुर्दश शिलालेखों के धौली, जौगडा और कालसी प्रज्ञापनों की भाषा सर्वतः एक ही है, किन्तु शाहवाजगढ़ी, मानसेरा और शिलालेखों की भाषा में भिन्नता और निजी विचित्रताएँ पायी जाती हैं, यद्यपि स्तम्भ-लेख की भाषा के बहुत से लक्षण उनमें भी विद्यमान हैं। इस प्रकार इस काल में दो प्रकार की भाषाओं का प्रयोग किया जाता था। स्तम्भ-लेखों की भाषा का भारतवर्ष में बहुलता से प्रचार था। यह भाषा सम्पूर्ण मध्यदेश, बिहार, उड़ोसा और देहरादून तक प्रचलित थी। इससे मालूम होता है कि बोलचाल की साधारण भाषा स्तम्भ-लेखों की भाषा ही रही होगी। शिलालेखों और स्तम्भ-लेखों का उद्देश्य जनता को धार्मिक शिक्षा देना था। अतः उन लेखों का साधारण जनता की बोलचाल की भाषा में लिखा जाना स्वाभाविक था। श्री भण्डारकर के अनुसार मौर्य-दरबार की राजकीय भाषा भी वही थी। विद्वानों ने इस भाषा का मूल 'मागधी' को माना है। विद्वानों का कहना है कि स्तम्भ-लेखों की भाषा की भाँति मागधी भाषा में भी 'ल' का 'र' और उनका 'उ' का 'ई' होना पाया जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मागधी की यह शाब्दिक विचित्रता रामगढ़ पहाड़ी के जोगीनारा लेख से स्पष्ट विदित है (तीसरी ई० पू०)। रामगढ़ पहाड़ी बिहार में है। अस्तु, स्तम्भ लेखों की भाषा मगध की राजकीय भाषा थी तथा सर्वत्र मध्यदेश और कलिंग तक इसी भाषा का प्रचार था। अतः कह सकते हैं कि यह भाषा उस समय की राष्ट्र-भाषा थी।[१] किन्तु उत्तरापथ के शाहबाजगढ़ी और मानसेरा के लेखों की भाषा तथा दक्षिणापथ के गिरनार की भाषा में अंतर है। इन लेखों की भाषा पर प्रान्तीय भाषाओं की छाप पड़ी है। मध्य-देशादि की भाषा की तरह यहाँ (उत्तरापथ-दक्षिणापथ) की भाषा में 'ल' का 'र' होना नहीं पाया जाता। उत्तरापथ और दक्षिणापथ की भाषाओं में भी कुछ-कुछ अन्तर पाया जाता है।

ध्वनि-शास्त्र—एक बात और ध्यान देने की है। कालसी और गिरनार की भाषाओं की ध्वनि का निरीक्षण करने से मालूम होता है कि कालसी की भाषा में, गिरनार की भाषा से अधिक ध्वनिशास्त्र में अपकर्ष है। संस्कृत रूप 'सर्वत्र' को गिरनार—'सर्वत' और कालसी 'सर्वता' लिखता है। इसी तरह 'सुकृत' (संस्कृत) को गिरनार, 'सुकतं' और कालसी 'सुकट' लिखता है। गिरनार संस्कृत शब्द 'कर्त्तव्य' को कतव्य और कालसी 'कतविय' लिखता है। इस 'ध्वनि-अपकर्ष' का निरीक्षण कर प्रो० निकलसन कहते हैं, "कालसी की भाषा गिरनार की भाषा से उत्तर-कालीन है।" अशोक के समय विद्या तथा ज्ञानोत्कर्ष के प्रमुख केन्द्र बिहार तथा संघ आदि ही थे। इन धार्मिक मठों में धर्म की व्याख्या तथा धर्म की जिज्ञासा हुआ करती थी। दार्शनिक तत्त्वों का भी यहीं निर्माण और पालन होता था। विद्या और संस्कृति की स्वर्ण-किरणें मठों से उदित होकर सम्पूर्ण भारत को ज्ञान के प्रकाश से निर्मल कर गईं। साधारण जनता में भी दिनानुदिन ज्ञान का उत्कर्ष बढ़ता गया और लोग अधिक से अधिक संख्या में

---

[१] Bhandarkar's Asoka, p. 207.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिक्षित होने लगे । अशोक-कालीन जनता अपनी शिक्षा के वल पर ही सम्राट् के साथ धर्म पर जिज्ञासा करने के योग्य हो चली थी । आठवें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "बहुत समय बीता प्राचीन राजा लोग विहार-यात्रा को निकलते थे । इस विहार-यात्रा में आखेट तथा ऐसे ही अन्य मनोविलास के विषय थे, किन्तु देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा को, अभिषिक्त होने के १०वें वर्ष सम्यक्-ज्ञान की (या बौद्धधर्म की तीर्थयात्रा की) प्राप्ति हुई, तव से इस धर्म-यात्रा का आरम्भ हुआ । इस धर्म-यात्रा में निम्न वातें हुआ करती हैं—श्रमणों, ब्राह्मणों का दर्शन और उनको दान देना, बुड्ढों का दर्शन और उन्हें स्वर्ण दान देना, जनपद राज्य के लोगों से मिलना और उनसे धर्म के विषय पर जिज्ञासा करना आदि ।"

विद्या की अत्यधिक उन्नति में—धर्म के विषय पर जिज्ञासा, दार्शनिकों, ज्ञानियों आदि का परस्पर वाद-प्रतिवाद, विभिन्न पाषंडों (धर्मों) का एक दूसरे के धर्म का श्रवण, पारस्परिक भावों का एक दूसरे से आदान-प्रदान (विनिमय) आदि सवने मिलकर यथेष्ट रूप से सहायता पहुँचाई होगी । अशोक के लेखों से प्रकट है कि साधारण जनता में शिक्षा का काफी प्रचार था । गौण-स्तम्भ लेख सारनाथ में सम्राट् कहते हैं—"ऐसा (धर्म-लेख) एक लेख 'विहार' में स्थापित किया जाय और दूसरा वैसा ही लेख उपासकों (साधारण जनता) के लिए लिखा जाय । जिससे हर एक व्रत (उपवास) के दिन जनता इस लेख को पढ़ने के लिए एकत्र हो सके ।" इस प्रकार लेखों को जनता के लिए स्थापित करवाना, जिससे जनपद के लोग एकत्र होकर उन धर्म-लेखों को पढ़ें तथा उन धर्म के सिद्धान्तों पर आचरण कर सकें, इस बात की पुष्टि करता है कि सम्राट् के समय जनता में शिक्षा का यथेष्ट रूप से प्रचार रहा होगा ।

विद्या की उन्नति में प्रमुख कार्य विहार, संघ आदि ने किया था । श्री राधाकुमुद मुकर्जी कहते हैं, "विहार तथा मठों ने जिस सरलता और कुशलता के साथ शिक्षा को उन्नति दी, उनका साक्षात्कार आज अवनत अवस्था

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में पड़े हुए वर्मा के मठों की शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति को देखकर किया जा सकता है। वर्मा के इन मठों में प्रति हजार मनुष्यों में ३७८ पुरुष और ४५ स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी हैं। जब कि १९०१ की गणनानुसार संयुक्त प्रान्त को—जिसमें कई ऐतिहासिक राजनगरियाँ और भीमकाय नगर बसे हैं—शिक्षा की दर प्रति १००० में ३७ पुरुष और दो स्त्रियाँ हैं।''[१] श्री वि० स्मिथ के अनुसार ''अशोक के समय सामान्यतः शिक्षा की प्रतिशत दर आज के ब्रिटिश राज्य के कई प्रान्तों से बढ़कर थी।[२]

गृहस्थ-जीवन—अशोक-कालीन गृहस्थ-जीवन या पारिवारिक जीवन शुद्ध और निर्मल था। स्नेह, सद्व्यवहार और कल्याण-कामना, ये तीन ही पारिवारिक जीवन के आधारस्तम्भ थे। कुटुम्ब ही 'धर्म' के प्रमुख शिक्षालय थे। गृहस्थ-जीवन की साधुता और स्नेह—'धर्म का प्रथम तथा प्रमुख लक्षण था'। परिवार के लोगों को माता-पिता की सेवा करने, मित्र-परिचितों के प्रति उदारहस्त होने, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों, श्रमणों की सेवा और प्राणियों का संयम आदि की शिक्षा घर में ही दी जाती थी (गिरनार-शिलालेख तीसरा)। सम्बन्धियों, मित्रों और परिचितों के अलावा पशुओं, दास और नौकरों आदि का भी पूरी तरह से ध्यान रखा जाता था।

ब्राह्मण तथा श्रमण साधु और परिव्राजक आदि (जो सत्य की खोज में सब कुछ त्याग कर धर्मानुरत थे) का भार भी गृहस्थों को ही वहन करना पड़ता था। गृहस्थवर्ग इन साधु-सन्तों का आदर करते थे। इन साधुओं की संख्या कम न थी। ये लोग विहार, मठ, संघ तथा गुफाओं और जंगलों में रहा करते थे। सम्राट् ने स्वयं आजीविक साधुओं के लिए गुफाओं (निगरोध—खानाटित गुफायें) का निर्माण करवाया था। बहुत से साधु सामाजिक-कार्यों में भी (धर्म मानकर) भाग लिया करते थे।

[१] R. K. Mukerji's Asoka, p. 102.
[२] Ibid.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अशोक के मिशन कार्य अथवा धर्म-प्रचार में कई साधुओं ने अमूल्य सहायता प्रदान की थी।

अशोक के समय बहु-विवाह या बहुभार्यत्व की प्रथा भी पाई जाती है। शिलालेख से हमें अशोक की दो रानियों का उल्लेख मिलता है। पाली-साहित्य के अनुसार तिष्यरक्षिता और देवी (महेन्द्र और संघमित्रा की माँ) और प्रधान रानी संघमित्रा का उल्लेख मिलता है। बहु-विवाह के अलावा बाल-विवाह भी हुआ करते थे। अशोक का पहला विवाह अठारह वर्ष की वय में हुआ था। सम्राट् की पुत्री संघमित्रा १४वें वर्ष में ब्याही गई थी और २०वें वर्ष में वह भिक्षुणी हुई थी (महावंश)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आठवाँ प्रकरण

अशोक-कालीन कला, वास्तु निर्माण कौशल तथा कृतियाँ

मानव कलात्मक कृतियाँ ही मानव-सभ्यता के दर्पण हैं, जिन पर देखने से स्पष्टतः प्रकाशित होता है कि उस समय का समाज कितना उन्नत था। जो देश अथवा जाति जितनी ही उन्नतिशील होगी वैसी ही उन्नत उसकी कला भी होगी। जीवन की सूक्ष्मतम अनुभूतियों, हृदय की स्निग्ध-मयी भावनाओं और मस्तिष्क के उच्चतम विचारों का एक विवेचनात्मक प्रदर्शन ही कला है। अतः कला की उत्कृष्टता समाज की उत्कृष्टता है, मानव-हृदय की चारुता है, बुद्धि की विशालता है और सौन्दर्यमयी अनु-भूतियों की उदात्त अभिव्यक्ति है।

इस प्रकरण में हम अशोक-कालीन कला पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। अशोक कला का एक उच्चतम प्रेमी था। प्राचीन गाथाओं से मालूम होता है कि अशोक ने असंख्य स्तूपों, विहारों एवम् अनेक नगरों तथा प्रासादों का निर्माण करवाया था। दिव्यावदान में अशोक आचार्य उपगुप्त से प्रतिज्ञा करता है, "भगवान् बुद्ध के सब निवास-स्थानों की मैं यात्रा करूँगा और भावी सन्तान के हेतु वहाँ पर स्मारकों का निर्माण कराऊँगा" (२७वाँ प्रकरण)। आगे दिव्यावदान कहता है कि अशोक ने बड़ी स्फूर्ति के साथ चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण करवाया। महावंश के अनुसार अशोक ने तीन वर्ष के भीतर ही चौरासी हजार विहार बनवा दिये थे। ह्वेनसाङ्ग ने भी अशोक के बनाये चौरासी हजार विहारों का उल्लेख किया है। इन वृत्तों से मालूम होता है कि अशोक स्तूपों आदि का एक महान् निर्माण-कर्त्ता था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गाथाओं के अनुसार अशोक ने दो नगरों का भी निर्माण करवाया था—श्रीनगर और देवपट्टन। श्रीनगर कश्मीर की राजनगरी थी। कहा जाता है, यहाँ पर अशोक ने ५०० विहार बनवाये थे। ह्वेनसाङ्ग लिखता है, "अशोक ने सम्पूर्ण कश्मीर को बौद्ध-विहार के हित दान कर दिया था।"[१] चीनी यात्री ने यह भी लिखा है कि अशोक के बनाये चार स्तूपों तथा एक सौ विहारों को उसने स्वयं भी देखा था।

देवपट्टन—यह नगर सम्राट् ने नैपाल में बनवाया था। कहते हैं अशोक स्वयं अपनी पुत्री चारुमती समेत नैपाल यात्रा के लिए गये थे। इस यात्रा में चारुमती का पति भी साथ था। चारुमती के पति देवपाल ने वहीं बसने की इच्छा की, अतः उसने वहाँ पर भिक्षु तथा भिक्षुणियों के लिए मठ बनवाया। अशोक ने भी अपनी यात्रा की स्मृति के उपलक्ष में वहाँ देवपट्टन नगर बसाया और साथ ही चार स्तूपों का भी निर्माण करवाया।[२] अशोक नगर-निर्माणकर्त्ता से अधिक स्तूपों और विहारों का निर्माता माना जाता है। महावंश लिखता है कि अशोक ने एक समय अपने आचार्य मोगालीपुत्त तिस्स से यह प्रश्न किया, "भगवान् का धर्म कितना महान् है।" इस पर मोगालीपुत्त ने उत्तर दिया—"भगवान् के धर्म के ८४,००० खंड हैं।" इस पर अशोक ने कहा—"मैं प्रत्येक के अर्थ एक-एक विहार अर्पण करूँगा।" तदनुसार अशोक ने अपने अधीनस्थ सब राजाओं को विहार बनवाने का आदेश दिया और स्वयं पाटलिपुत्र में 'अशोकाराम' नामक विहार बनवाया। फाहियान ने भी लिखा है कि अशोक बुद्ध के अवशेषों पर बनाये गये आठ स्तूपों को तोड़कर उनकी जगह चौरासी हजार स्तूपों को बनवाना चाहता था,[3] किन्तु हमें इन चौरासी हजार स्तूपों के ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते हैं। पुरातत्त्व-विभाग अशोक के बहुत थोड़े ही स्तूपों तथा विहारों को

---

[१] Watters, p. 276.

[२] Cambridge History, p. 501.

[3] Leggs. p. 89.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खोज सका है। शिलालेखों से हमें केवल निगलिव के कोनाकामन स्तूप तथा आजीविकों के लिए बनाई गई तीन गुफाओं का उल्लेख मिलता है, किन्तु पुरातत्त्व विभाग की खोज से इतना और पता लगा है कि साँची-स्तूप तथा भरहुत-स्तूप (इस पर अशोक-लिपि में लेख खुदे हैं) भी अशोक के ही बन-वाये हुए थे। भरहुत स्तूप अब नष्ट हो चुका है।

७वीं शताब्दी में ह्वेनसाङ्ग भारत आया था। इस चीनी यात्री ने अशोक के लगभग ८० स्तूपों और विहारों तथा कश्मीर के पाँच सौ विहारों का वर्णन किया है। ह्वेनसाङ्ग ने अशोक के स्तूपों का इस प्रकार उल्लेख किया है—(१) कपिसा—(काफिरिस्तान)–यहाँ पर अशोक ने एक सौ फीट ऊँचा पीलासुर-स्तूप बनवाया था; (२) नगर (जलालाबाद); (३) उदयान—(यहाँ पर भगवान् बुद्ध ने राजा शिवि के रूप में कबूतर को छुड़ाने के लिए बाज को अपना मांस दिया था); (४) तक्षशिला—(यहाँ पर बुद्ध ने अपना सिर दान दिया था। यहीं सौतेली माँ के कुचक्र के कारण कुणाल की आँखें भी निकाली गई थीं; (५) सिंहपुर—(यहाँ से ४०-५० ली दक्षिण-पूर्व में २०० फीट ऊँचा पत्थर का स्तूप था—इस स्थान पर बुद्ध भगवान् ने एक भूखी बाघिन को अपना शरीर खिलाया था); (६) उरस; (७) कश्मीर—यहाँ पर चार स्तूप थे; (८) थानेश्वर—यहाँ पर ३००फीट ऊँचा स्तूप था; (९) श्रुयन; (१०) गोविसन—(जहाँ बुद्ध ने धर्म का प्रचार किया); (११) हयमुख—यहाँ पर एक स्तूप था; (१२) प्रयाग—(यहाँ पर सौ फीट ऊँचा स्तूप था। इस जगह पर भगवान् बुद्ध ने शास्त्रार्थ करने वालों को हार दी थी); (१३) कौसांबी—(यहाँ बुद्ध ने धर्म-प्रचार किया था); (१४) कपिल-वस्तु—इसके उत्तर में एक स्तूप था, जिसके सामने शिला-स्तंभ गड़ा था। इस स्तम्भ के सिरे पर शेर की मूर्ति बनी थी और स्तूप लगभग २० फीट ऊँचा था; (१५) श्रावस्ती—यहाँ पर ७० फीट ऊँचा स्तम्भ था; (१६) रामग्राम—(इस स्थान पर बुद्ध ने अपने बालों को कटवाया था और यहीं से सारथी छंदक को वापिस लौटाया था।); (१७) कुशीनगर–

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यहाँ पर २०० फीट ऊँचा स्तूप था (इस स्थान पर आठ राजाओं के मध्य भगवान् बुद्ध के अवशेषों का बँटवारा हुआ था।); (१८) सारनाथ; (१९) गाजीपुर; (२०) महाशाल–यहाँ पर कुम्भ-स्तूप था; (२१) वैशाली–यहाँ पर ५०, ६० फीट ऊँचा स्तूप था; (२२) वज्जी (यहाँ पर भगवान् बुद्ध ने धर्म का प्रचार किया था); (२३) गया, (२४) बौद्ध गया—(इस स्थल पर एक घास काटने वाले ने भगवान् बुद्ध को बैठने के लिए घास दी थी); (२५) पाटलिपुत्र, (२६) राजगृह; (२७) ताम्रलिप्ति—नगर के एक ओर स्तूप था; (२८) कर्नसुवर्न—यहाँ पर बहुत से स्तूप थे; (२९) उड़ीसा—१० स्तूपों से भी अधिक स्तूप यहाँ पर थे; (३०) दक्षिण कोशल; (३१) चोल प्रदेश; (३२) द्रविड़ और काँची-प्रदेश—(यहाँ पर बहुत से स्तूप थे); (३३) वल्लभी—यहाँ पर बहुत से स्तूप थे; (३४) महाराष्ट्र—यहाँ पर पाँच स्तूप थे; (३५) मुल्तान के पास चार स्तूप थे; (३६) अफन्त–(सिन्ध के पास); (३७) सिन्ध में बहुत से स्तूप थे; (३८) चीनपटी—यहाँ २०० फीट ऊँचा स्तूप था; (३९) मथुरा; (४०) पाटलिपुत्र में अशोकाराम या कुक्कुटाराम विहार था।

विहारों और स्तूपों के अतिरिक्त सम्राट् प्रस्तर-स्तम्भों के भी महान् निर्माणकर्त्ता थे। फाहियान ने ६ स्तम्भों का उल्लेख किया है। इनमें से दो स्तम्भ श्रावस्ती में जेतवन विहार के दरवाजे के दोनों तरफ थे। तीसरा स्तम्भ संकाश्य में था। यह ५० हाथ ऊँचा था। इसके सिरे पर शेर की मूर्ति बनी थी। इसके चार भागों पर भगवान् बुद्ध की मूर्तियाँ बनी हुई थीं। पाँचवाँ स्तम्भ पाटलिपुत्र में था। छठा स्तम्भ भी पाटलिपुत्र के पास ही था। यह स्तम्भ ५० फीट ऊँचा था तथा सिरे पर शेर की मूर्ति बनी थी। फाहियान के विपरीत ह्वेनसांग ने ६ स्तम्भों की जगह १५ स्तम्भों का उल्लेख किया है। उसने अशोक के स्तम्भों को निम्न स्थलों पर देखा था—(१) सनकस्सा—यह स्तम्भ चमकीला पाटल रंग का था तथा सिरे

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पर शेर की मूर्ति बनी थी (इस शेर को फाहियान ने भी देखा था)[१] (२, ३) श्रावस्ती के जेतवन विहार में दो स्तम्भ थे—इनको लम्बाई ७०-७० फीट थी; (४) कपिलवस्तु के पास भी एक स्तम्भ था। यह स्तम्भ ३० फीट ऊँचा था और सिरे पर शेर की मूर्ति बनी थी; (५) कपिलवस्तु में एक और स्तम्भ था। यह स्तम्भ २० फीट ऊँचा था। यह स्तम्भ शायद निगलिव के पास पाया गया स्तम्भ हो सकता है; (६) लुम्बिनी-वन—(वर्तमान रुमिनन्दी, जो नैपाल में है) यहाँ पर भी एक स्तम्भ था। इस स्तम्भ के सिरे पर अश्व की मूर्ति बनी थी। ह्वेनसांग कहता है कि वज्र गिरने के कारण यह बीच में से टूटा हुआ था; (७) कुशीनगर—इस स्तम्भ पर बुद्ध के निधन का उल्लेख था। इस स्तम्भ का अभी कुछ पता नहीं चला है; (८) यहीं पर एक और स्तम्भ मिला है; (९) सारनाथ के रास्ते पर भी एक स्तम्भ था—यह स्तम्भ चिकने हरे पत्थर का बना था। यह स्तंभ निर्मल और दर्पण की तरह चमकीला था, जिसमें भगवान् बुद्ध का प्रतिबिंब निरन्तर दिखलाई पड़ता था। इस स्तम्भ को वि० स्मिथ ने बनारस की लाट से मिलाया है। यह लाट १९०८ वाले दंगे में तोड़ दी गयी; (१०) सारनाथ—यहाँ पर ७७ फीट ऊँचा एक स्तम्भ था। यह स्तम्भ बहुत चिकना और चमकीला था। यह स्तम्भ वहाँ पर था, जहाँ ज्ञान अथवा बोध पाने के अनन्तर भगवान् बुद्ध ने पहले-पहल धर्म की शिक्षा दी थी। सारनाथ में एक स्तम्भ पाया गया है, जिसके सिरे पर चार शेर बने थे, किन्तु यह स्तम्भ ७० फीट के बजाय केवल ३० फीट ऊँचा है; (११) महाशाल—यहाँ पर एक स्तम्भ स्तूप के सामने मिला है। इस स्तम्भ पर एक लेख खुदा था, जिसमें भगवान् बुद्ध द्वारा राक्षसों को शान्त कर उन्हें धर्म में परिवर्तित करने का उल्लेख है; (१२) वैशाली—यहाँ पर ५० फीट ऊँचा एक स्तम्भ था। इस स्तम्भ को कनिंघम ने बखुरा गाँव के पास के अशोक स्तम्भ से मिलाया है; (१३) पाटलिपुत्र—यहाँ पर ३० फीट ऊँचा स्तम्भ

[१] Watters, I, 334.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

था। इस स्तम्भ पर भी लेख खुदा था। इस स्तम्भ के कुछ हिस्से मिले हैं। (१४) एक और स्तम्भ पाटलिपुत्र में मिला था, यह स्तम्भ अशोक के "नरक" के स्थल को बतलाता है, (१५) राजगृह—यहाँ पर भी एक स्तम्भ था। यह स्तम्भ ५० फीट ऊँचा था और उसके सिरे पर हाथी की मूर्ति बनी थी। इस स्तम्भ पर भी एक लेख खुदा था।

राजगृह जाते समय रास्ते में ह्वेनसांग को दो और स्तम्भ मिले थे। इन दो स्तम्भों में से एक उस स्थल पर था, जहाँ पर बुद्ध-कश्यप समाधि लगाकर बैठे थे और दूसरा स्तम्भ एक "तिर्थिका" से सम्बन्धित था।[१] इन स्तम्भों को ह्वेनसांग ने अशोक के स्तम्भों के रूप में नहीं लिया है।

अब तक अशोक के स्तम्भ तोपरा, मेरठ (तोपारा और मेरठ के दोनों स्तम्भों को सुलतान फीरोज़ तुग़लक सन् १३५६ ई० के लगभग दिल्ली हटा ले गया था), इलाहाबाद (यह स्तम्भ मूलतः कौसाम्बी में था जिसे शायद अकबर इलाहाबाद हटा ले गया), लौरिया-अरराज, लौरिया नन्दनगढ़—(इन स्तम्भों के सिरे पर शेर की मूर्ति हैं), रामपुरवा (इसके सिरे पर उल्टा कमल और शेर की मूर्ति है), साँची (इसके सिरे पर चार शेर हैं), सारनाथ (इसके सिरे पर चार शेरहैं), रुमिनिन्दी—(इसके सिरे पर उल्टा कमल है और निगलिव में पाया गया है; किन्तु यह बात निश्चयात्मक रूप से नहीं कही जा सकती कि ये सब स्तम्भ सम्राट् के अपने ही बनाये हुए थे। सम्राट् स्वयं कहते हैं, "ये लेख चट्टानों पर खोदे जायँ। यहाँ पर दूरस्थ स्थानों में जहाँ शिला-स्तम्भ हों, इन लेखों को शिला-स्तम्भों पर लिखो।" इसी तरह सातवें स्तम्भ-लेख में सम्राट् कहते हैं, "देवताओं का प्रिय कहता है कि यह धर्म-लिपि जहाँ कहीं शिलास्तम्भ तथा प्रस्तर हों, वहाँ लिखवाई जाय जिससे वह चिरजोवी हो।" अतः स्पष्ट है कि कुछ स्तम्भ अशोक के पहले से हो स्थित थे। साथ ही यह बात भी ध्यान देने

---

[१] Watters, ii, 141.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की है कि अशोक ने सभी स्तम्भों से काम न लिया था। रामपुरवा के दो स्तम्भों में से एक स्तम्भ पर कोई लेख नहीं खुदा है। स्तम्भों की भाँति कुछ स्तूप भी अशोक के पहले से विद्यमान थे। निगलिव-स्तम्भ लेख में सम्राट् ने कहा है कि उन्होंने बुद्ध-कोनाकामन के स्तूप को द्विगुणित किया था।

अशोक-कालीन कृतियाँ, उनकी बनावट और आकार की विशेषताएँ—साँची स्तूप यथेष्ट बड़ा था, किन्तु अब वह एक गोलाकार खण्ड मात्र रह गया है। पूर्णावस्था में इसकी पूरी ऊँचाई ७७$\frac{१}{२}$ फीट रही होगी, आधार के पास इसका व्यास ११० फीट के है। यह स्तूप ईंटों का वना है। साँची स्तूप के दक्षिणी द्वार पर एक शिला-स्तम्भ के कुछ भाग भी मिले हैं।

भरहुत—यह जगह इलाहाबाद से ९५ मील की दूरी पर है। सबसे प्रथम कनिंघम ने सन् १८७३ ई० पू० इसका अन्वेषण किया था। भरहुत स्तूप भी ईंटों का वना था। स्तूप का व्यास ६८ फीट था। स्तूप के चारों ओर से एक पाषाण-वेष्ठिनी थी। यह पाषाण वेष्ठिनी लगभग ७ फीट ऊँची थी जिस पर बहुत-सी बौद्ध-गाथाएँ चित्रित की हुई थीं। ये चित्र मौर्य चित्रकला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। यह स्तूप अब प्रायः नष्ट हो गया है। इसकी पाषाण-वेष्ठिनी का कुछ भाग कलकत्ता म्यूज़ियम में है।

श्री मार्शल तथा वि० स्मिथ का कहना है कि साँची स्तूप अशोक के समय का नहीं है—वह अशोक के लगभग १०० वर्ष पश्चात् बनाया गया होगा, क्योंकि अशोक-कालीन ईंटों और इस स्तूप की ईंटों में अन्तर है, किन्तु ईंटों के द्वारा अथवा ईंटों के आकार से शिल्प के काल का ठीक-ठीक पता नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि पहले की निर्मित ईंटों और बाद की निर्मित ईंटों में तथा मौर्यकालीन ईंटों में परस्पर अन्तर पाया गया है—मौर्य-काल की बनी हुई भीता की ईंटों का नाप है—१६$\frac{१}{२}$ × १२$\frac{१}{४}$ × २$\frac{१}{४}$ इंच और १७$\frac{१}{२}$ × ११$\frac{३}{४}$ × २$\frac{३}{४}$; मथुरा की ईंटों का नाप है–१३$\frac{१}{२}$ × १२$\frac{१}{४}$ × ३

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इंच तथा कटरा की ईंटें ११ × ८$\frac{१}{३}$ × २$\frac{१}{३}$ इंच नाप की हैं। सारनाथ अशोक-स्तम्भ के आधार पर की ईंटों का नाप है—१६$\frac{३}{४}$ × ११ × २$\frac{३}{४}$ इंच, किन्तु अन्य भागों की ईंटें इस नाप की हैं—१५$\frac{१}{२}$ × ६$\frac{१}{२}$ × २$\frac{१}{२}$ और ८ × ६$\frac{१}{२}$ × २$\frac{१}{२}$ इंच, आधार पर की ईंटें सबमें बड़ी हैं। पीछे के अर्थात् बाद के बने हुए भीतर गाँव के मन्दिर की ईंटें करीब मौर्य-कालीन ईंटों के बराबर बड़ी हैं। इन ईंटों की लम्बाई १८ × ६ × ३ इंच है। अतः स्पष्ट है कि ईंटों के नाप से हम शिल्प-काल का समय निश्चयात्मक रूप से निर्धारित नहीं कर सकते।

मौर्य-कालीन गुहा-भवन—अशोक-कालीन सात गुहा-भवन प्राप्त हुए हैं। ये गुहा-भवन गया के पास बराबर और नागार्जुन पहाड़ियों पर मिले हैं। गुहा-भवन पहाड़ियों को काट कर बनाये जाते थे। इन सात गुहा-भवनों में से तीन अशोक के पौत्र दशरथ के बनाये हैं। गुहा-भवनों में से सबसे बड़ा गुहा-भवन गोपिका-गुहा है। इस गुहा के दोनों किनारे अर्द्ध-गोलाकार हैं। इसकी लम्बाई ४० फीट ५ इंच तथा चौड़ाई १७ फीट २ इंच है, इसकी ऊँचाई १० फीट ६ इंच है। बराबर पहाड़ी पर की तीन गुफाएँ अशोक की हैं जिन पर उनका लेख खुदा है। प्रथम गुहा का नाम कर्ण-चौपर गुहा है। इस गुहा-भवन की लम्बाई ३३ फीट ६ इंच, चौड़ाई १४ फीट और ऊँचाई १० फीट ९ इंच है। दूसरी गुहा—सुदामा गुहा है। इस गुहा-भवन के बाहरी और भीतरी दो कोष्ठ हैं—भीतरी कोष्ठ गोलाकार है तथा छत अर्द्धगोलाकार है। बाहरी कोष्ठ दीर्घाकार है, जिसकी लम्बाई ३२ फीट ९ इंच और ऊँचाई १२ फीट २ इंच है। तीसरी लोमशऋषि गुहा है। इस गुफा पर अशोक का कोई लेख नहीं है। इस पर मौखरी सम्राट् अवन्तिवर्मन का लेख खुदा है। चौथी गुहा—विश्वामित्र गुहा है। इस गुहा के भी दो कोष्ठ हैं जो अच्छी प्रकार पूरे नहीं हो सके हैं।

इन सब गुफाओं अथवा गुहा-भवनों पर मौर्य शिल्पकला की विशेषताएँ पूरी तरह से अंकित हैं। गुहा-भवनों की दीवालों तथा छतों पर चम-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कीली पालिश है। इनमें से अभिलिखित गुफाएँ अथवा गुहा-भवन आजीविकों को भेंट की गयी हैं। ह्वेनसांग के अनुसार अशोक ने पाटलिपुत्र में कई गुहा-भवन अपने आचार्य 'उपगुप्त' को भेंट किये थे।[१] महावंश आदि गाथाओं के अनुसार सम्राट् अशोक ने अपने भाई महेन्द्र तथा अन्य "अर्हतों" के लिए भी गुहा-भवनों का निर्माण करवाया था।

अशोक-कालीन वास्तु-निर्माण-कौशल को देखने से ज्ञात होता है कि इस काल में कला कितनी विशालता को पहुँच चुकी थी। इस समय की कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने स्तूप, शिला-स्तम्भ और गुहा-भवन हैं जिन पर सम्राट् की धर्म-लिपियाँ अंकित हैं। फरगुसन लिखता है—"The noblest and most perfect examples of it are the works of the Emperor Asoka" अर्थात् कला के रूप में सर्वसुन्दर और पूर्ण उदाहरण सम्राट् अशोक की कृतियाँ हैं।[२]

ललित-कला के क्षेत्र में मौर्यों की प्रमुखता शिला-स्तम्भों के निर्माण-कौशल में है। ये शिला-स्तम्भ एकमेव स्थूलाकार या पिंडाकार हैं। इन स्तम्भों की लम्बाई ४० फीट से लेकर ५० फीट तक है और सामान्यतः इनका व्यास २ फीट ७ इंच से लेकर ४ फीट १½ इंच तक है। ऊपरी भाग का व्यास १ फीट ६ इंच से लेकर २ फीट ११ इंच तक है। ४ फीट वर्गाकार और ५० फीट लम्बा पाषाण-स्तम्भ आजकल के वैज्ञानिकों को भी हैरान कर देता है। २०वीं शताब्दी की विज्ञान-विद्या को भी इस कला के समक्ष मस्तक झुकाना पड़ता है। स्तम्भ का ऊपरी भाग घंटाकार है। सर्व-सुन्दर स्तम्भ इस समय लौरिया-नन्दनगढ़ का है। इस स्तम्भ के सिरे पर शेर की मूर्ति बनी है। इसके ऊपर-नीचे कई चौकोर पत्थर सुन्दर हंसों से चित्रित हैं। हंस दाना चुगते हुए दिखाये गये हैं। ये बुद्ध के शिष्यों के प्रतीक

[१] Watters, ii, 96.

[२] Cambridge History, Volume I, p. 618.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं। रामपुरवा और कोलुहा (बखर) के स्तंभों पर केवल सिंह की मूर्ति है, किन्तु साँची तथा सारनाथ स्तम्भ पर आगे-पीछे चार सिंहों की मूर्तियाँ बनी हैं। सारनाथ के सिरे पर बनी हुई सिंहों की चार मूर्तियाँ बहुत ही सुन्दर और सहज स्वाभाविक हैं।[१] इस स्वाभाविकता को चित्रित करने में ही कलाकार की महान् कुशलता है—सिंहों के निर्माण में उनकी पुष्ट पेशियों को अङ्कित करने तथा प्राकृतिक शौर्य प्रदर्शित करने में कलाकार की कुशलता कला की सीमा को पार कर गई है। सिंहों की आँखें मूलतः मणि-युक्त थीं जैसी कि बहुत से विद्वानों की धारणा है। सिंह की मूर्तियों के नीचे चार चक्र बने हैं, इन चक्रों के मध्य हस्ती, बैल तथा अश्व के चित्र अङ्कित हैं। नीचे का भाग विशाल घण्टाकार है। यह स्तम्भ बलुए पत्थर का बना है। सन्किस के स्तम्भ के सिरे पर हस्ती की मूर्ति है। रामपुरवा स्तम्भ के सिरे पर बैल की मूर्ति है तथा लोरिया-अराराज स्तंभ के सिरे पर गरुड़ की मूर्ति है (वि० स्मिथ), किन्तु श्री राधाकुमुद मुकर्जी इस मूर्ति को गरुड़ के बजाय अकेले सिंह की मूर्ति बतलाते हैं।

फाह्यान और ह्वेनसाङ्ग के अनुसार सन्किस, कपिलवस्तु के दो स्तंभों, महाशाल और वैशाली तथा पाटलिपुत्र के स्तम्भों के सिरे पर सिंह की मूर्तियाँ थीं और श्रावस्ती-स्तम्भ के सिरे पर बैल की मूर्ति, लुम्बिनी-स्तम्भ के सिरे पर अश्व की मूर्ति और राजगृह-स्तम्भ के सिरे पर हस्ती का मूर्ति बनी थी। अतः स्पष्ट है कि अशोक-कालीन स्तम्भों के सिरे पर बहुधा, सिंह, हंस, हस्तो, बैल, गरुड़, चक्र और अश्व की प्रतिमूर्तियाँ अङ्कित रहा करती थीं।

स्तंभों की एक और प्रधान विशेषता उनके शीर्ष तथा आधार शिलाओं की सजावट है। आधार शिला पर कमल, चक्र, पशु आदि क्रम से अङ्कित किये जाते थे। स्तंभों के निर्माण-कौशल का निरीक्षण कर मार्शल कहते हैं—

---

[१] The capital is one of the most magnificent specimen of art. (Catalogue, Sarnath Museum, p. 293.)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

"These sculptures are masterpieces in point of both style and technique—the finest earning, indeed, that India has yet produced and unsurpassed, I venture to think by anything of their kind in the ancient world."[१]

स्तम्भों पर चमकीली कान्तियुक्त पालिश हैं। पालिश करने की यह कुशलता मौर्य कलाकारों की उत्कृष्टता का सर्वसुन्दर प्रमाण है। वि० स्मिथ की सम्मति में इस काल के पाषाण-कलाकारों की हस्तकुशलता पूर्णता को प्राप्त हो चुकी थी। उनकी पूर्णता का सर्वोच्च प्रमाण यही है कि उन्होंने कला की वे वस्तुएँ निर्माण कर रखी हैं, जिनका निर्माण करना आज २०वीं सदी की शक्ति के भी बाहर है। निःसन्देह ४० और ५० फीट के भीमकाय पाषाण-स्तम्भों को परम लालित्य, सुरुचि और सूक्ष्मता के साथ मंडित करना कला की पराकाष्ठा का उज्ज्वल दृष्टांत है। चमकीली पालिश की उज्ज्वलता के कारण पहले बहुत लोगों का यह विचार था कि ये स्तम्भ धातु के बने हैं। १७वीं सदी के लगभग टॉम कॉयरेट ने दिल्ली अशोक-स्तंभ को देखकर उसे पीतल का बना बतलाया था।[२] स्तम्भों पर पूर्णतया यही स्निग्ध पालिश है, किन्तु भूमि में गड़े हुए स्तम्भ के भाग मण्डित अथवा पालिश नहीं किये गये हैं।

अशोक के स्तम्भों में दिल्ली-तोपरा स्तम्भ पर केवल ३५ फीट तक पालिश मिलती है, जब कि सम्पूर्ण स्तम्भ ४२ फीट ७ इंच लम्बा है। रामपुरवा का स्तम्भ लगभग ८ फीट ९ इंच के मण्डित नहीं है, जब कि पूरा स्तम्भ ४४ फीट ९$\frac{1}{2}$ इंच है। इसी तरह लौरिया नन्दनगढ़ स्तम्भ भूमि के नीचे ८ फीट तक मण्डित नहीं है—यह आठ फीट का निचला भाग कठोर है, जिस पर तक्षणी के चिह्न अंकित हैं। यह स्तम्भ ३९ फीट ७$\frac{1}{2}$ इंच ऊपर की ओर लम्बा है और १० फीट जमीन के अन्दर गड़ा है।

[१] A. S. R. 1904-5, p. 36.

[२] V. Smith's Oxford History, p. 113

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस स्तम्भ के खोदने पर एक चार इंच की मयूर-प्रतिमा पायी गयी है। इससे मालूम होता है कि सम्भवतया मयूर या मोर मौर्यों का राजकोय चिह्न था, जैसा "गरुड़" गुप्तों का राज-चिह्न रहा है।[1]

अशोक के स्तम्भ एकाकार पाषाण के हैं। ये स्तम्भ चुनार पत्थर के बने हैं। अनुमानतः चुनार में ही ये शिला-स्तम्भ काटकर बनाये गये थे और वहीं से इधर-उधर भेजे गये। सामान्यतः ये स्तम्भ ५० फीट ऊँचे हैं और इनका व्यास भी सामान्यतः ५० इंच का है। इन स्तम्भों का वजन कनिंघम ने लगभग ५० टन बतलाया है। स्तम्भों की भीमकाय लम्बाई, चौड़ाई और वजन को देखकर आश्चर्य ही नहीं होता, अपितु हमारे सामने यह समस्या खड़ी होती है कि ये भीमकाय स्तम्भ उस काल में किस विधि से एक जगह से दूसरी जगह हटाये या ले जाये जाते रहे होंगे। निस्संदेह उस काल के इंजीनियर दैवी शक्ति वाले थे। अशोक के कलाकारों का हस्तकौशल श्लाघ्य है; उसके इंजीनियरों का स्तम्भों के गढ़ने तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का उपक्रम और विधि योजना भी अद्वितीय एवं अभिनन्दनीय है। इन स्तम्भों को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ी होंगी, उसका अनुमान शम्से-सिराज के उल्लेख से किया जा सकता है। सिराज ने फीरोजशाह द्वारा अशोक के तोपरा स्तम्भ को दिल्ली ले जाने का उल्लेख करते हुए लिखा है—"थाटा से लौटने पर सुल्तान फीरोज देहली के आस-पास भ्रमण किया करते थे। इस प्रदेश के भाग में दो शिला-स्तम्भ थे। इनमें से एक स्तम्भ सलुरा और खिजराबाद जिले के तोपरा नामक गाँव की एक पहाड़ी पर था और दूसरा स्तम्भ मिरथ कस्बे के पास था। इन स्तम्भों को देखकर फीरोजशाह ने बहुत तारीफ़ की और उन्हें विजय-स्तम्भ के रूप में दिल्ली हटा ले जाने का विचार व्यक्त किया।.......................................

लाट उखाड़ने का विचार होने पर, दोआब के निवासियों तथा सब पैदल

[1] A. S. R. xxii 46, 47

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और घुड़सवार सैनिकों को फ़र्मान भेजे गये कि सब वहाँ इकट्ठे हों। इसके बाद सेमल की रूई मँगवाने का हुक्म हुआ। यह रूई स्तम्भ के चारों ओर रखी गई······और ज़मीन खोदने के पश्चात् स्तम्भ आहिस्ता से रूई पर लिटा दिया गया। स्तम्भ के नींव की जाँच करने पर एक चौकोर पत्थर मिला। यह पत्थर भी बाहर निकाल लिया गया। इसके बाद सारा स्तम्भ ऊपर से नीचे तक कच्ची खाल और घास से लपेट दिया गया, जिससे स्तंभ पर कोई खरोंच न आ सके। तब ४२ पहियों की एक गाड़ी बनवाई गई जिसके हर पहिये पर रस्सियाँ बँधी थीं। रस्सियों को खींचने के लिए हज़ारों मनुष्य जुटाये गये और बड़ी मेहनत और कठिनाई से स्तम्भ गाड़ी पर रखा गया। हर पहिये को खींचने के लिए २०० आदमी तैनात हुए।" अर्थात् ४२ पहियों को ४२ × २०० = ८,४०० (आठ हज़ार चार सौ) मनुष्यों ने खींचा था। "इस प्रकार हज़ारों आदमियों के प्रयत्न से गाड़ी खींचकर यमुना के किनारे पहुँचायी गयी, जहाँ पर नावों की एक बड़ी संख्या पहले से ही इकट्ठी कर दी गयी थी। इन नावों में से कोई नाव ५,००० और कोई ७,००० मन नाज ले जाने के योग्य थी और छोटी से छोटी नाव २,००० मन तक नाज ले जा सकती थी। बड़ी होशियारी से लाट तब उन नावों पर रखकर फीराजाबाद पहुँचाई गई।"[1] फ़ीरोजशाह अशोक के मध्यम श्रेणी वाले कुल तीन स्तम्भों को उनके पूर्व-स्थित स्थान से हटाकर १५० मील की दूरी पर ले गया था, किन्तु सम्राट् को वैसे ही तथा उनसे भी बड़े-बड़े ३० स्तम्भों को निर्माण-स्थान से १५० मील से कहीं अधिक दूरी पर ले जाना पड़ा था। इस वृत्त से सर्वथा स्पष्ट है कि अशोक-कालीन कलाकार ही कला-कौशल में अद्वितीय न थे, अपितु उस समय के वास्तुविद्या-विशारद भी अपनी प्रतिभा में अद्वितीय थे। इन यन्त्रकारों की अद्वितीयता स्तम्भों को दूर-दूर सुगमता और सरलता सहित ले जाने तथा स्थापित करने में प्रत्यक्ष है।

[1] Elliot—History of India III, 350

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अशोक से पहले वास्तुनिर्माण-कला का साधन लकड़ी रहा है। काठ की जगह पाषाण द्वारा वस्तुनिर्माण करने का श्रीगणेश भी अशोक से प्रारंभ होता है। सम्राट् की अभिलाषा थी कि उनकी धर्म-लिपियाँ चिरस्थायी हों, (ध्रमदिपि लिखित चिरठितिकं होतु—६वाँ शिलालेख, मानसेरा), किंतु यदि काठ काम में लाया जाता तो धर्म-लेखों का चिरस्थायी होना सम्भव न था, अतः सम्राट् को यह काम पाषाणों द्वारा कराने का विचार आया। फलतः धर्मलिपियों के खुदवाने के हेतु शिला-स्तम्भ पाषाण चट्टानों आदि का उपयोग प्रारम्भ किया गया। अन्यथा इससे पहले लकड़ी ही का बहुत प्रयोग किया जाता था। मेगस्थनीज़ ने पाटलिपुत्र का उल्लेख करते हुए कहा है कि राजा का प्रासाद लकड़ी का बना था। जातकों में भी अधिकतर लकड़ी के भवनों का उल्लेख मिलता है।

सिंचाई योजना—मौर्य युग में सिंचाई के लिए बहुत ही सुन्दर प्रवन्ध था। उस काल की सुदर्शना झील की सुन्दरता और सुरम्यता को प्राचीन कलाविदों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। रुद्रदाम के लेख से स्पष्ट है (१५० ई०) कि यह झील रैवतिक और ऊर्जयत पहाड़ियों पर स्थित थी, यह झील पलासिनी आदि नदियों के बहाव को रोककर चन्द्रगुप्त के प्रांतीय शासक पुष्यगुप्त द्वारा निर्मित की गयी थी। अशोक के समय यवन-राज तुहषाष्प ने पानी के निकास के लिए मार्ग बनाकर झील को और भी सुंदर बना दिया, क्योंकि झील का जल अब सुगमता से स्वच्छ किया जा सकता था। झीलों से सिंचाई का काम लिया जाता था। सिंचाई-विभाग के लिए मेगस्थनीज़ के कथनानुसार अलग कर्मचारी नियुक्त थे। इन कर्मचारियों का कार्य भूमि नापना तथा जलद्वार (जहाँ से नहरों में पानी दिया जाता था) की रक्षा करना था। सुदर्शना झील का वर्णन स्कंदगुप्त के एक लेख में भी पाया जाता है।[१] यह झील गुप्त-साम्राज्य के पश्चिमी प्रदेश अथवा सौराष्ट्र

[१] No. 14 of Fleet's Gupta Inscriptions dated, 458.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में थी। उस समय सौराष्ट्र का अधिपति पर्णदत्त था। पर्णदत्त ने अपने पुत्र चक्रपालित को गिरनार का शासक नियुक्त किया। उसके समय में एक वार बहुत अधिक पानी वरसने के कारण झील टूट गई। चक्रपालित को तव बहुत व्यय लगाकर झील की मरम्मत करानी पड़ी।

आभूषण और मणिकार-कला—आभूषणों के निर्माण में मौर्य कलाकार अत्यन्त कुशल थे। इन आभूषण बनानेवाले तथा मणिकारों को कुशलता धातु की वस्तुओं पर वीजाकार रूप देने तथा निपुणता के साथ अविधेयपाषाण को काटकर उसे मंडित करने तथा स्निग्ध बनाने में है। मौर्य-काल के सुवर्ण और चाँदी के वने आभूषणों के सर्वोच्च प्रमाण आभूषणों के वे दो टुकड़े हैं जो डायोडोटस के सिक्कों के साथ तक्षशिला में प्राप्त हुए थे। इन आभूषणों की प्रशंसा करते हुए सर जॉन मार्शल लिखते हैं—"The art of the jeweller had at all times appealed strongly to Indian genius, and throughout Indian History, has exercised a deep influence upon the national sculpture and painting "[१]

पाषाण-कलाकारों की सुन्दरतम कला के कुछ अन्य उदाहरण भी मिले हैं। विरैल में पाई गई शत्र-मंजूषा और भाटिप्रोलु तथा पिपरहवा स्तूप पर वने पाषाण-सितमणि (Rock-crystals) पाषाण-कला के उत्कृष्ट प्रतीक हैं।[२] वेसनगर में मौर्य-काल की बनी पत्थर की एक स्त्री की मूर्ति पाई गई है। पटना और दीदारगंज में भी दो मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, किन्तु ये मूर्तियाँ कला की दृष्टि से अच्छी नहीं हैं। श्री कुमारस्वामी इन्हें ग्रामीण कला की प्रतीक मानते भी हैं।[3]

मौर्य-कालीन नगर—मौर्य-कालीन इंजीनियर अथवा वास्तु-विद्या-विशारद नगर बनाने में भी अत्यन्त कुशल थे। अजातशत्रु के पौत्र उदयन ने

---

[१] Cambridge History, Volume, I p. 623.

[२] Cambridge History, p. 623.

[3] History of Indian and Indonesian Art. p. 16.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाटलिपुत्र की नींव डाली थी। पाटलिपुत्र आगे चलकर मौर्य- सम्राटों की राजधानी बना। चन्द्रगुप्त के समय पाटलिपुत्र उन्नति के शिखर पर पहुँच गया था। पाटलिपुत्र का उल्लेख करते हुए मेगस्थनीज़ लिखता है—"गङ्गा नदी की चौड़ाई १०० स्टैडिया और गहराई न्यून से न्यून २० फ़ैदम है। इसी गङ्गा तथा सोन नदी के संगम पर पालीबोथरा (पाटलिपुत्र) नगर बसा है। यह नगर लम्बाई में ८० स्टैडिया और चौड़ाई में १५ स्टैडिया है, (अर्थात् ९$\frac{1}{2}$ मील लम्बा और १$\frac{1}{2}$ मील चौड़ा है) इसका आकार समानांतर चतुर्भुज का है। यह नगर चारों ओर काठ की दीवाल से वेष्टित है। इन दीवालों पर तीर चलाने के लिए छेद बने हैं। सामने की तरफ रक्षा हेतु एक बड़ी खाई खुदी है।[1] मेगस्थनीज़ आगे फिर लिखता है—"पाटलिपुत्र की इस काष्ठ नगरी में राजा का भव्य प्रासाद है। यह संसार के राजकीय भवनों में सबसे सुन्दर है। इस प्रासाद के सामने सुसा और इकबताना के राजप्रासादों का वैभव भी तुच्छ प्रतीत होता है। इस प्रासाद के मण्डित स्तम्भों पर स्वर्णिम अंगूरी लतिकाएँ खचित हैं, जिन पर चाँदी की चिड़ियाँ कल्लोल करती हैं। प्रासाद के पास मछलियों के लिए सरोवर बने हैं—जिनकी शोभा को उत्कीर्ण करने के लिए कई सजावटी वृक्ष, कुंज तथा झाड़ियाँ लगा दी गई हैं।"

इसी राजप्रासाद को देखकर गुप्त-काल में फाह्यान भी आश्चर्यचकित हो उठा था। उसकी समझ में ही नहीं आया कि वह अद्वितीय राजप्रासाद मनुष्यों का बनाया हुआ है या देवताओं का ! वह लिखता है—(यह लेख अशोक के बाद ६५० वर्ष का है)—"राजप्रासाद और कमरे जो अभी तक वैसे ही नगर के मध्य में स्थित हैं—यक्षों द्वारा बनाये गये थे ····· यह राजप्रासाद ऐसी सुन्दरता और भव्यता के साथ बनाया गया है जैसा कि इस संसार की मानवीय कला कभी नहीं बना सकती।"[2]

[1] Mc Crindle Ancient India, Megasthenese and Arian, 65-66

[2] Leggs, p. 77.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुरातत्वविदों की खोज के फलस्वरूप मौर्य-सम्राट् के कुछ अवशेष उपलब्ध हुए हैं। इस खोज का कार्यारम्भ श्री पी० सी० मुकर्जी ने किया था। उनकी खोज के परिणामस्वरूप अशोक के स्तम्भों के कुछ खंड प्राप्त हुए थे। कुछ वर्षों के पश्चात् डाक्टर स्पुनर ने फिर से खोज-कार्य प्रारंभ किया। इस खोज से चुनार के बलुए पत्थर के बने कुछ स्निग्ध चमकीले स्तंभ प्राप्त हुए। ये स्तंभ प्रत्येक २० फीट ऊँचे और आधार पर ३$\frac{१}{२}$ इंच व्यास के थे। ये स्तम्भ समानान्तर श्रेणी में १५ फीट के फासले पर स्थित थे। इससे ज्ञात होता है कि मौर्य प्रासाद के भीतर ११० स्तम्भों का एक विशाल दालान अथवा हाल रहा होगा। बहुत से विद्वानों का मत है कि मौर्य राजप्रासाद डेरियस् के ऐचिमिनियन प्रासाद की नक़ल है तथा वह पर्शिया के कलाविदों द्वारा बनाया गया था, किन्तु इस धारणा की उपेक्षा करते हुए भारतीय कला के प्रमुख कलाविज्ञ श्री हैवेल लिखते हैं, "स्तम्भों की बनावट को परसिपोलस के अपादान से मिलाकर जल्दी में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि चन्द्रगुप्त ने पर्शियन शैली का प्रासाद बनाने के लिए विदेशी कारीगरों को बुलवाया था। हो सकता है कि चन्द्रगुप्त की प्रशंसा सुनकर बहुत से कलाकार आकर्षित हो चले हों, किन्तु भारतीय इतिहास चन्द्रगुप्त से ही प्रारम्भ नहीं होता तथा भारतीय निर्माण-कला काफी प्राचीन है एवं उस काल की है जब पाटलिपुत्र कीं नीव डाली गई थी। इस वृत्त से कि इण्डो-आर्यन (भारतीय आर्य) प्रासाद तथा इरानियन प्रासाद सामान्यतः मिलते-जुलते हैं—यह निष्कर्ष निकालना चाहिये कि भारतीय संस्कृति को ईरान ने भी अपनाया था, न कि चन्द्रगुप्त इच्छापूर्वक डेरियस् के प्रासाद की नकल कर रहा था।" अन्त में हैवेल कहता है कि आर्यावर्त्त को मैसिडोनियन आतंक से स्वतन्त्रता प्रदान करनेवाला महान् आर्य राष्ट्र का निर्माता चन्द्रगुप्त ईरानी मस्तक की प्रभुता को कैसे सहन कर सकता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी मालूम होता है कि चन्द्रगुप्त की राजनीति पूर्णतया आर्य रूढ़ियों पर निहित थी।[१]

[१] Aryan Rule, p. 75.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अशोक-कालीन कला—मार्शल लिखता है कि अशोक के स्तम्भ फ़ारस यूनानी ढंग के हैं और उसके शिलालेख एचिमिनियन सम्राट् के शिलालेखों की नकल हैं। घण्टाकार शीर्ष पर्शिया में ही पहले-पहल निर्मित हुआ था एवं स्तम्भों पर पालिश लगाने की मौर्य शैली भी पर्शियन ही है।[1]

सम्राट् अशोक विश्व-विख्यात सम्राट् थे। उनकी जनप्रियता और कला-प्रियता की गाथाएँ सुनकर निःसन्देह दूर-दूर से कलाविज्ञ मौर्य-दरबार में आये होंगे, किन्तु यह कहना सत्य नहीं हो सकता कि अशोक ने सब कुछ पर्शिया से ही लिया था। सम्राट् धार्मिक पुरुष थे और उन्हें धर्म-प्रचार करने की अतिशय अभिलाषा थी, ताकि वे "प्रजा को स्वर्ग का सुख दे सकें" (६वाँ शिलालेख)। अतः इस स्वर्ग के सुख का विधान करने के हेतु सम्राट् ने विचार करना आरम्भ किया कि प्रजा में धर्म का प्रचार होना चाहिये, किन्तु यह धर्म का प्रचार किस विधि से किया जाय इस सम्बन्ध में सातवें शिलालेख में वे कहते हैं—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि विगत काल में राजाओं की यह इच्छा थी कि किस प्रकार प्रजा में धर्म की उन्नति हो, किन्तु लोग धर्मके अनुरूप न बढ़ सकें।" अतः सम्राट् ने विचार किया—"लोगों को धर्म पर कैसे आचरण कराया जा सकता है ? किस तरह लोगों में धर्म के अनुरूप उन्नति हो सकती है ? किस तरह धर्म के अनुरूप मैं उन्हें उन्नत बना सकता हूँ ? इस पर देवताओं का प्रिय कहता है कि विचार हुआ कि मैं धर्मानुशासन प्रकाशित करूँगा।"... फलतः सम्राट् कहते हैं कि "यह ज्ञात करके मैंने धर्म-स्तम्भ स्थापित किये, महामात्र नियुक्त किये तथा धर्म-लिपियाँ लिखवाई।" इन उद्धरणों से पूर्णतः प्रकट है कि प्रजा के हित एवं विश्व के हित धर्म-प्रचार करने की चिन्ता से आकुल होकर ही सम्राट् ने शिलालेख एवं लेख-स्तम्भों का निर्माण किया था। ये लेख सम्राट् ने पर्शिया की नकल करके पाषाणों अथवा शिला-स्तम्भों पर न खुदवाये थे, अपितु धर्म-लिपियों को चिरंजीवी बनाने

[1] Guide to Sanchi, p. 92.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के अर्थ ही सम्राट् अशोक ने पाषाण-शिला व स्तम्भों पर लिखवाने की योजना बनायी थी। पाँचवें शिलालेख में सम्राट कहते हैं, "इयं धम्मलिपि लेखिता चिलथितिक्या होतु।" (कालसी); अर्थात् "यह धर्म-लिपि लिखवाई चिरंजीवी हो।" सातवाँ स्तम्भ-लेख इस विषय को और भी अधिक स्पष्टता के साथ प्रमाणित करता है, "अभिषिक्त होने के या अभिषेक के छब्बीसवें वर्ष यह धर्म-लिपि शिला-स्तम्भों या शिला-प्रस्तरों पर लिखी जाय—जिससे वह चिरंजीवी हो।" इस वृत्ति से कोई सन्देह नहीं रह जाता कि शिला-स्तम्भों एवं शिला-प्रस्तरों की योजना सम्राट् की मौलिक योजना थी।

भारतीय प्रतिमाकरण के अध्ययन से मालूम होता है कि "घण्टाकार" कहलानेवाला ऊपरी सिरे का आकार, अशोक के बहुत पहले से ही भारत में प्रचलित था। अशोक के स्तम्भ का घण्टाकार सिरा वस्तुतः उलटा कमल है। यह कमल भगवान् बुद्ध के उद्भव अथवा उत्पत्ति का लाक्षणिक है। भरहुत के पूर्वी दरवाजे पर की लोकपाल गरुड़ की मूर्ति से अंकित घण्टाकार पताका को ले जाते हुए चित्रित किया गया है। गरुड़ विष्णु का वाहन है तथा नीला कमल विष्णु का लाक्षणिक कमल है। अतः कहीं-कहीं "घंटाकार" सिरे के स्थान पर स्तम्भों पर नीला कमल बना है। बुद्ध भगवान् का कमल-सिंहासन भारतीय कला के अनुरूप हमेशा नीचे की ओर झुकी पुष्प-पत्तियों के रूप में चित्रित दिखलाया गया है—ये पुष्पदल नाल पर इस प्रकार झुके होते हैं कि घंटाकार सिरे और उसमें कोई अन्तर ही नहीं दिखलाई पड़ता। इसी कारण भूल से विद्वानों ने अशोक-स्तम्भ के सिर के कमल को पर्शियन घंटाकार सिरे से मिलाया है। कमल भारतीय जीवन और कला का चिर अङ्ग रहा है। साँची स्तूप की एक शलाका पर अशोक की पताका चित्रित है, जिसके सिरे से दो कमल की कलियाँ प्रस्फुटित होती हुई दिखलाई पड़ती हैं। इससे भी प्रकट है कि घंटाकार भाग कमल को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नीचे मुड़ी हुई पत्तियाँ हैं। भारतीय कला ारों को कमल-पुष्प के नीचे झुकी हुई पंखुड़ियों का दिखलाना सुन्दर लगता था। इससे वे स्वर्गीय आकाश को प्रकट करते थे जिसके नीचे से पवित्र पहाड़ अवलंब दिये हैं। अशोक का यह घंटाकार सिरा (मौलि) अथवा कमल-पुष्प राजकीय चिह्न एवं विश्व-साम्राज्य का निर्देशक भी माना जाता था और चक्र से अभिप्राय धर्म के चक्र से है—जिन्हें सिंह अवलम्ब दिये थे।

भारतीय संस्कृति कमल के फूलों में ही खिली और विकसित हुई है। सूर्योदय का रहस्य प्रकट करने के लिए भी कमल का सहारा लिया गया है। यह कमल नारायण की नाभि से प्रस्फुटित होता है, जिसके ऊपर विश्व के विधायक ब्रह्मा बैठते हैं। महायान बौद्ध भी अलौकिक ज्ञान की समता कमल पुष्प से करता है--"कमल की जड़ का भाग ब्रह्मा है, तना (नाल) माया है, पुष्प सम्पूर्ण संसार और फल पूण "निर्वाण" है।" इन वृत्तों से भी स्पष्ट है कि अशोक के कलाकार, सुदूर वैदिक काल के इन्हीं भावों को लेकर कार्य कर रहे थे। अतः स्पष्ट है कि शिलादंड = नाल है (कमल-पुष्प की नाल से आशय है), यह भाग माया अथवा सांसारिक जीवन का निर्देशक है। घण्टाकार सिरा संसार का निर्देशक है जो आकाशरूपी दलों से वेष्ठित है और कमल का फल 'मोक्ष' का निर्देशन करता है।[१] अतः सर्वथा स्पष्ट है कि अशोक की उच्चतम और विशाल कला का आधार पूर्ण रूप से भारतीय था और उसकी कला भारत के कमल-पुष्प से ही जन्मी और प्रस्फुटित हुई थी।

अशोक के स्तंभ और घंटाकार सिरे को परमो-हेलनिस्टिक बतानेवालों को श्री हैवेल ने जो उत्तर दिया है वह माननीय है—

"This symbolism is so characteristically Indian and so wildly spread in early Buddhist art that the mere coinci-

[१] A Hand-book of Indian art by E. B. Havell—pp.—40-44.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

dence of "bell-shaped" capital occurring in Persia hardly justifies the name which archaeologists have given them. Perhaps Persia borrowed this idea from India, the land of the lotus with the flower itself."

श्री हैवेल का अनुमान है कि अशोक के स्तम्भ का गोलाकार रूप सम्भवतया प्राचीन चन्द्र-उपासना की अवशिष्ट स्मृति का भी लक्षण हो सकता है।

ह्वेनसांग के अनुसार भारतवर्ष चंद्र-प्रदेश के नाम से भी विख्यात था।[1]

---

[1] E. B. Havell, pp. 44-45.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नवाँ प्रकरण

अशोक का इतिहास में स्थान

पूर्व के आठों प्रकरणों से हमें विदित हो चुका है कि अशोक ने राजा, शासक, गुरु और विश्व-कल्याणकारी के रूप में मानव एवं प्राणिमात्र के लिए कितना उपक्रम तथा कार्य किया। इन्हीं सब कार्यों के आधार पर इस प्रकरण में हम महान् अशोक का ऐतिहासिक मूल्यांकन एवं स्थान का निर्णय करने का प्रयत्न करेंगे।

अशोक का स्थान—अशोक के स्थान का निर्णय करने के लिए हमें दो बातों पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए। प्रथम उनके क्या आदर्श थे तथा उनके कार्य का हेतु क्या था? सम्राट् का निजी व्यक्तित्व एवं हृदय उनके लेखों में स्पष्टतः प्रतिबिंबित है। सम्राट् की पवन वाणी हृदय की उच्चता और निर्मलता से पूर्ण है। उनकी लेखन-शैली पूर्ण रूप से उनके व्यक्तित्व को प्रकट करती है। पाश्चात्य विद्वान् चानपेन्शियर कहता है कि अशोक ने अपने लेखों में अपना असल व्यक्तित्व छिपा दिया है।[1] चानपेंशियर की यह धारणा सर्वशः निर्मूल है। दूसरी तरफ सेनार्ट लिखता है, "सम्राट् के वाक्य बहुधा संचित तथा विषम होते हैं और उनमें चित्रता नहीं पाई जाती।[2] सेनार्ट यह भी स्वीकार करता है कि—"सम्राट् के लेखों में भावों की एकरूपता, स्वाभाविकता एवं साम्य है। अपितु यह अङ्गीकार न करना अन्यायपूर्ण है कि अशोक अपने लेखों में सहिष्णुता, धार्मिकता, अभिवृद्धि और प्रजा के हित के प्रति उत्साह नहीं प्रदर्शित करते।" श्री सेनार्ट के इस कथन का सभी विद्वानों ने सहर्ष अभिनन्दन किया है। निःसन्देह अशोक एक सच्चे,

[1] J. R. A. S. 1926, p. 138.
[2] I. A. 1891, p. 266.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सरल और प्रजासेवी राजा थे। उनके वाक्य हृदय के सच्चे उद्गार थे। प्रजा के हित और सुख की चिंता से उनका मस्तक सर्वदा आक्रांत रहा। वे कहते थे—"सब मुनीषि मी प्रजा" (कलिंग शिलालेख) अर्थात् सब मनुष्य मेरी सन्तान हैं तथा जिस प्रकार मैं अपने पुत्रों के हित और सुख का अभिलाषी हूँ वैसे ही मैं प्रजा के सुख की भी इच्छा करता हूँ।" ६वें शिलालेख में वे कहते हैं—"कटिचयमते हि मे सव्रलोक हिते" (मानसेरा ६) अर्थात् सर्वलोक का कल्याण ही मेरा कर्त्तव्य है तथा "हिद च कानि सुखायमि पलत चा स्वर्ग आलधयितु"—मेरी अभिलाषा है कि अपनी प्रजा को इस लोक में सुख दूँ जिससे वे परलोक में स्वर्ग प्राप्त करें, (कालसी ६) स्पष्ट है कि सम्राट् अपने कर्त्तव्य के उत्तरदायित्व को पूर्णतया समझे हुए थे। अशोक जानते थे "सुरेन्द्राणां मात्राभ्यों निर्मित: नृप"[1] राजा इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवताओं के अंश से निर्मित हुआ है। अत: उनका परम कर्त्तव्य 'परिरक्षणम्' (मनुस्मृति, सातवाँ अध्याय, श्लोक २) है, किन्तु सम्राट् अशोक का परिरक्षण-कार्य अपनी प्रजा तक ही सीमित न था। वे सर्वलोक की रक्षा के प्रति भी चिन्ताशील थे। मनुष्यों के अलावा वे सर्व प्राणियों एवं जीवमात्र का भी पालन करना चाहते थे। सम्राट् प्रजा के ऐहिक सुख के साथ-साथ पारिलौकिक अथवा स्वर्ग के सुख के भी अभिलाषी थे। यही कारण है कि उनके शिलालेखों तथा स्तम्भ-लेखों में कई बार 'इहलोक' और 'परलोक', 'इध' और 'परत्र' शब्द आया है।

इस प्रकार वह सम्राट् जिसका मस्तक प्रजा के ऐहिक और स्वर्गिक हित तथा सुख की कामनाओं से सतत चिन्तित था उसका ऐतिहासिक मूल्य निरूपण करना सरल कार्य नहीं है। कह सकते हैं कि अशोक मानव इतिहास के लाखों करोड़ों राजाओं, सम्राटों एवं शाहंशाहों से सर्वोपरि था। इतिहास में सिकन्दर, पौम्पे, सीज़र, नेपोलियन आदि महान् कहलाते हैं,

---

[1]मनुस्मृति, सातवाँ अध्याय, ५वाँ श्लोक।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्योंकि अपनी इच्छा, स्वेच्छाचारिता तथा स्वार्थ के लिए जितना 'रक्तपात' इन तथाकथित महान् पुरुषों ने किया उतना अन्य कोई राजा न कर पाया। वे महान् थे; क्योंकि वे सर्वोच्च आतंकवादी थे। इसी भाँति क्रूर, अत्याचारी, अमानुषिक भीषणता से प्रजा का रक्त शोषण करने वाले राजा और सम्राट् चंगेज़ख़ाँ और तैमूरलंग आदि भी महान् कहलाते हैं, लेकिन क्या उनकी महानता गण्य है? क्या वे सत्यशः महान् थे? क्या मानव जाति एवं विश्व के लिए वे हितकर थे?

लेकिन अशोक महान् थे, देवता थे और सच्चे मानव थे; क्योंकि उन्होंने जो किया सब सर्वलोक के हित एवं सुख के लिए किया तथा उनका सिद्धांत ही "सर्वलोक हित" (६वाँ शिलालेख) था। सेनार्ट लिखता है—"जिस पराक्रम सहित सम्राट् धर्म के लिए उत्साहित हुए तथा साम्राज्य से वाह्य राष्ट्रों के प्रति उनका जो सम्बन्ध था अथवा भारतवर्ष के सुदूरवर्ती लोगों से जो उनका सम्बन्ध रहा और अन्ततः जो कुछ स्तूपों तथा लेखों से ज्ञात होता है, प्रियदर्शी ने निःसन्देह भारतीय संस्कृति के हित अनन्य सेवा की तथा इन सेवाओं के लिए अशोक को गौरव प्रदान करने को हम न्यायबद्ध हैं।"[१] अतः स्पष्ट है कि सम्राट् का जो संबंध अपनी प्रजा के प्रति था उनका वही सम्बन्ध अन्य-देशीय प्रजा के साथ भी रहा। जिस प्रकार सम्राट् अपनी प्रजा की हित-चिन्ता किया करते थे, उसी तरह वे बाह्य प्रदेशों की प्रजा की हित-कामना के लिए भी उत्कंठित रहा करते थे, (देखिए शिलालेख दूसरा—सम्राट् ने अन्य देशों में भी समाज के हित-कार्यों का प्रबन्ध करवाया था) मनुष्यों के अलावा वे पशु आदि सर्वभूतों की भी सेवा करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। सातवाँ स्तम्भलेख लिखता है, "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि मैंने मार्ग पर बरगद के पेड़ लगवाये, जिससे वे मनुष्यों और पशुओं को छाया प्रदान करें तथा

---

[१] I. A. 186, p. 266

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आम्रकुंज लगाये गये और प्रत्येक आधे कोस पर कुएँ खुदवाये गये, धर्म-शालाएँ बनवायी गयीं तथा मैंने कई पानी पीने के स्थान स्थापित किये। क्यों? मनुष्यों और पशुओं के सुख के लिए ही। जिससे लोग धर्म पर आचरण करें, इसीलिए मैंने इस प्रकार किया।" स्पष्ट है कि धर्म की वृद्धि तथा प्रकाश के लिए सम्राट् ने मनुष्य और पशु दोनों के हित तथा दोनों को सुख पहुँचाने के अर्थ कार्य एवं पराक्रम किया। उनका धर्म-कार्यों से अभिप्राय मनुष्य और पशु दोनों को सुख पहुँचाना ही था।

सम्राट् अशोक की यह भी विशालता थी कि वे अपनी प्रजा के अतिरिक्त अन्य-देशीय प्रजा आदि के हित भी इसी प्रकार कार्य करने में क्रमणशील थे। द्वितीय शिलालेख कहता है, "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के विजित राज्य में तथा जो और सीमांत प्रदेश हैं, जैसे चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी के प्रदेश तथा अन्तियोकस नामक यवन राजा और अन्य राजागण जो उस अन्तियाकस के पड़ोसी हैं—हर एक जगह (सर्वत्र) देवताओं के प्रिय ने दो तरह की चिकित्साओं का प्रवन्ध किया है—मनुष्यों की चिकित्सा और पशुओं की चिकित्सा। औषधियाँ जो मनुष्यों के लिए लाभदायक हैं और जो पशुओं के लिए उपयोगी हैं, जहाँ-जहाँ नहीं हैं, वहाँ-वहाँ भेजी गयीं और रोपी गयीं।" स्पष्ट है कि सम्राट् का सर्वकल्याण का भाव असीमित था, उनके समक्ष अपने और पराये का कोई भाव न था, यही कारण है कि सर्वकल्याण की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने विश्व को ही अपना कर्म-क्षेत्र बनाया। सम्राट् का यह हित-कार्य अथवा सर्वकल्याण का कार्य मनुष्य और पशुओं तक ही सीमित न रहा, अपितु छोटे-छोटे जीव-जन्तु, कीड़े-मकोड़े, चिड़ियों तथा जल-निवासिन जीवों की भी उनको उसी तरह चिन्ता वनी रहती थी (दूसरा स्तम्भ-लेख)। उनका सिद्धान्त ही "प्रणानां अनारम्भो" तथा "अवहिंसा भूतानां" अर्थात् जीवों (प्राणिमात्र) को दुख न देना तथा हिंसा न करना था। पाँचवें स्तम्भ-लेख में सम्राट् कहते हैं, "जिस भूसे में जीव हों वह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जलाया न जाय। निष्प्रयोजन जीव-हिंसा के लिए जंगल जलाये न जायँ। जीव से जीव का पालन न होना चाहिए।" कलिंग शिलालेख कहता है, "जिस प्रकार मेरी अभिलाषा है कि मेरे पुत्र इहलोक और परलोक दोनों में सुखी हों, ऐसे ही मैं सर्वमनुष्यों के प्रति अभिलाषा करता हूँ। अविजित अन्ता (सीमान्त निवासी) प्रश्न कर सकते हैं कि राजा (सम्राट् अशोक) की हमारे प्रति क्या इच्छा (अथवा भाव) है। अन्तों (सीमान्त लोगों या प्रदेशों) के प्रति मेरी केवल यह इच्छा है कि वे मुझसे भय न खायँ, किन्तु मुझमें विश्वास रखें कि मेरे द्वारा दुःख के सिवा सुख ही पायेंगे (या लब्ध करेंगे) वे यह भी समझ रखें कि राजा (अशोक) जो कुछ क्षमा किया जा सकता है, वह क्षमा करेगा। मैं उनको धर्म-पथ पर अनुसरण कराने का उद्योग करूँगा, जिससे वे इहलोक और परलोक दोनों के सुख को पा सकें।" स्पष्ट है कि सम्राट् अन्ता-निवासियों को अपने महामात्रों के द्वारा यह भली-भाँति समझा देना चाहते हैं कि अशोक सर्वप्राणियों के लिए उसी प्रकार है जैसा कि अपने पुत्रों के लिए तथा अपने पुत्रों की भाँति ही वे उन्हें भी सुख पहुँचाना चाहते हैं। इन सब वृत्तों के आधार पर हम कह सकते हैं कि वस्तुतः सम्राट् का सर्वकल्याण ही एकमात्र आदर्श था जिसे चरितार्थ कराने के हेतु, उन्होंने अपूर्व पराक्रम किया। इसी आदर्श की सफलता के लिए सम्राट् ने सारे राजकीय वैभवों को ठुकरा दिया और पूर्ण त्यागी बनकर आजीवन विश्व-कल्याण के हित कार्य करते रहे।

सम्राट् के इस आदर्श का आधार क्या था? इस पर श्री भण्डारकर[1] दिग्गनिकाया के एक सुत्त को उद्धृत करते हैं। इस सुत्त में दलहनिमी अपने पुत्र से चक्रवर्ती राजा के गुणों का लक्षण बतलाता है। वह कहता है, "धर्मरत होकर राजा को अपनी प्रजा, गाँव और जनपद के लोगों की रक्षा करनी चाहिए तथा ब्राह्मण और श्रमण साधुओं का पालन करना चाहिए

[1]भण्डारकर रचित अशोक, पृष्ठ २३३, २३४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तथा प्रिय पुत्र, जब ब्राह्मण और श्रमण साधु समय-समय पर तुम्हारे पास आवें और तुमसे यह पूछें कि "अच्छा और बुरा क्या है" एवं "क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए" तो तुम्हें उनकी बातों को ध्यान देकर श्रवण करना चाहिए तथा बुरे मार्ग से हटाकर उन्हें सत्-पथ पर लाना चाहिए।" दलहनिमी का पुत्र तब अपने पिता के आदेशों पर कार्य करते हुए चक्रवर्ती बनने का प्रयत्न करने लगा। उसने पहले पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर के राजाओं पर विजय प्राप्त की। विजित होने पर इन चारों प्रदेशों के राजाओं ने इस चक्रवर्ती सम्राट् से प्रार्थना की, "चक्रवर्ती महाराज, हमें कुछ शिक्षा दो।" इस पर चक्रवर्ती राजा ने इस प्रकार शिक्षा दी, "जीवों की हिंसा करना पाप है और दूसरों की वस्तुओं का अपहरण न करना चाहिए आदि···।" इसी तरह लक्खण-सुत्त कहता है, "विशाल मानव पृथ्वी में सर्वोच्च स्थान रखता है। वह सम्पूर्ण संसार को जय कर सकता है। दण्ड अथवा शस्त्र से नहीं, किन्तु केवल धर्म अथवा धर्म-विजय के द्वारा वह चक्रवर्ती हो सकता है।"[१] इन वृत्तों से ज्ञात होता है कि इन्हीं सुत्तों के आधार पर सम्राट् ने अपना आदर्श निर्धारित किया और धर्म-विजय द्वारा सर्वकल्याण के हित जीवन-पर्यंत कार्य करते रहे। अपने आदर्श को सफल बनाने के लिए जो अद्वितीय पराक्रम सम्राट् ने दिखाया वह अभिनन्दनीय ही नहीं, अकथनीय है।

बहुत से विद्वान् इतिहास में प्रसिद्ध अनेक राजाओं अथवा सम्राटों से अशोक की तुलना करते हैं। प्रथम सम्राट् कॉन्सटैन्टाइन को लीजिए। कॉन्सटैन्टाइन क्रिश्चियन धर्म का संरक्षक था। सम्राट् कॉन्सटैन्टाइन का धर्म परिवर्तन (३२५ ई०) ईसाई-धर्म के प्रारम्भिक इतिहास में क्रांति का युग माना जाता है। अशोक को भी इसी प्रकार बौद्ध-धर्म का कॉन्सटैन्टाइन कहा जाता है। राइज़ डेविड्स कहता है, "अशोक का धर्म-परिवर्तन बौद्ध-

---

[१] श्री भण्डारकर अशोक, पृष्ठ २३६–३७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर्म के ह्रास का प्रथम कारण था तथा भारत से उसका लोप होने का भी मुख्य कारण था, क्योंकि कॉन्सटैन्टाइन की भाँति उसके अमित दान से गिर्जाघरों की तरह विहारों अथवा संघ की आध्यात्मिकता का क्षय हो गया।"[1] किन्तु राइज़ डेविड्स की यह धारणा निर्मूल है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि बौद्ध धर्म के ह्रास तथा उसके भारतवर्ष से लोप होने का कारण अशोक था।

अशोक का संघ पर जो कड़ा नियंत्रण था वह साँची, सारनाथ, कौशाम्बी आदि के स्तम्भ लेखों से स्पष्ट है। संघ में भेद-भाव और अनाचार रोकने के लिए वे हमेशा प्रयत्नशील रहे। बौद्ध-धर्म के इतिहास से ज्ञात होता है कि अशोक के काफी समय बाद तक भी बौद्ध-धर्म यथेष्ठतः आध्यात्मिक भावों से पूर्ण था और उसमें विनाश के कोई लक्षण न उत्पन्न हुए थे। वस्तुतः ब्राह्मण धर्म के फिर से जागृत हाने पर अर्थात् गुप्त-काल से (३५० ई०) बौद्ध धर्म का ह्रास प्रारम्भ हुआ। अतः सम्राट् अशोक को बौद्ध-धर्म के विनाश तथा भारतवर्ष से क्षय हो जाने का कारण कैसे माना जा सकता है ?

रैपसन[2] और हार्डी आदि अशोक की तुलना कॉन्सटैन्टाइन से इस आधार पर भी करते हैं कि दोनों अपने-अपने धर्म के संरक्षक तथा प्रचारक थे, किन्तु अशोक और कॉन्सटैन्टाइन के आदर्श तथा लक्ष्य अलग-अलग थे। कॉन्सटैन्टाइन एक उत्कर्ष करते हुए धर्म का संरक्षक हुआ था, लेकिन अशोक जिस धर्म का रक्षक बना वह तब अपने शैशव में ही था। अतः कॉन्सटैन्टाइन के समय में ईसाई धर्म वस्तुतः एक प्रचलित धर्म था, किन्तु अशोक ने एक अप्रचलित धर्म को अपनाकर अपने पराक्रम के द्वारा उसे भारत और विश्व का धर्म बना दिया। गौण-शिलालेख ब्रह्मगिरि प्रथम में सम्राट् स्वयं कहते हैं, "ढाई साल तक जब कि मैं उपासक रहा, मैंने अधिक पराक्रम न

[1] Rhys Davids, Buddhism, p. 222.

[2] Ancient India, p. 104.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया, किन्तु एक साल से या एक साल से ऊपर हुआ मैंने संघ की यात्रा की तब से मैंने अधिक पराक्रम किया। अतः इस समय के अन्दर, जम्बूद्वीप के लोग जो अब तक देवताओं से सम्बन्धित न थे, देवताओं से सम्बन्धित हुए (अथवा उनका देवताओं से सम्बन्ध स्थापित हुआ)। पराक्रम का ही यह फल है।" १३वें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं, "यह धर्म-विजय देवताओं के प्रिय को यहाँ, सब जगह तथा सीमान्त प्रदेशों में छः सौ योजन तक, जहाँ यवनराज अन्तियोकस नाम का राज्य करता है और उस अन्तियोकस के बाद जो तुरमय, अन्टिगोनस, मग, अलिकसुन्दर के राज्य हैं वहाँ और नीचे दक्षिण में चोड़, पांडच और ताम्रपर्णी के राज्यों तक प्राप्त हुई है।" इसी प्रकार सम्राट् यवन, कम्बोज, नाभाक, पैठानिकों, आन्ध्रों, पुलिंदों आदि का नाम लेते हैं और कहते हैं कि "वहाँ के लोग भी, जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जा सकते, देवताओं के प्रिय का धर्माचरण, धर्मानुशासन, धर्मप्रीति को सुनकर, उस पर आचरण करते हैं" (१३वाँ शिलालेख)। निस्संदेह सम्राट् एक उगते हुए धर्म के रक्षक हुए थे और अपने पराक्रम के बल पर उन्होंने उसे विश्व-धर्म में परिवर्तित कर दिया था।

दूसरी तरफ, कान्सटैन्टाइन ने एक उन्नत धर्म को अपनाया और वह भी यह समझकर कि इस धर्म-परिवर्तन के फलस्वरूप उसका बहुत हित हो सकेगा।[1] हार्नेक लिखता है, "कॉन्सटैन्टाइन दूरदर्शी था तथा उसे अच्छी तरह मालूम था और वह जान गया था कि क्या अवश्यंभावी है।···इसके लिए केवल एक विदग्ध और समर्थ राजनीतिज्ञ तथा जो साथ ही धार्मिक परिस्थति में अत्यन्त अनुरागी हो—उसकी आवश्यकता थी। कॉन्सटैन्टाइन ऐसा ही आदमी था।"[2] श्री भण्डारकर लिखते हैं—"कॉन्सटैन्टाइन युक्तिमत, चालाक, अन्ध-विश्वासी, क्रूर तथा कुटिल व्यक्ति था, जिसकी

---

[1] मैकफिल कृत अशोक, पृष्ठ ७६।

[2] Harnack, Expansion of Christianity, Volume II, p. 466.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्पूर्ण दूरदर्शिता का एक दृष्टान्त उसके "महान्" होने का कारण है।" स्पष्ट है कि कॉन्सटैण्टाइन का धर्म पर अनुराग करना राजनीतिक तथा सामाजिक आवश्यकता का कारण था। उसकी बड़ाई केवल इसी में है कि वह इस बात को पूर्ण रूप से समझ सका, किन्तु अशोक का इस प्रकार का कोई राजनीतिक तथा निजी स्वार्थ न था। कलिंग युद्ध के बाद उनका त्रस्त मस्तक विश्व-शान्ति एवं कल्याण के लिए अत्यन्त व्यग्र हो उठा था और धर्म-प्रचार तथा धर्म-उपासना से उनका तात्पर्य केवल विश्व को सुखी बनाने का उपक्रम करना था। इसी हेतु उन्होंने अद्वितीय पराक्रम किया और एक प्रांतिक धर्म को कुछ ही समय में विश्व-धर्म में बदल दिया। सम्राट् का पूर्ण जीवन विश्व-हित के लिए था तथा इस धर्म-कार्य में सम्राट् का लेशमात्र भी स्वार्थ न था और यदि कोई स्वार्थ था तो यही कि वे विश्व भर को सुख तथा शान्ति में खिला हुआ देखना चाहते थे, किन्तु कॉन्स-टैण्टाइन ने सब कार्य राजनीतिक लाभ से प्रेरित होकर ही किया। कॉन्स-टैण्टाइन अपने जीवन के पिछले वर्षों में धर्म से कुछ विचलित होकर मूर्ति-पूजा की ओर झुक चला था, किन्तु अशोक अपने धर्म से कभी विचलित न हुए और उनका धार्मिक उत्साह जीवनपर्यन्त पूर्ण पराक्रमशील रहा।

अशोक के साथ रोमन सम्राट् मार्कस ऑरिलियस[१] की तुलना भी की जाती है। इस सम्राट् ने कॉन्सटैण्टाइन के धर्म का विनाश किया था। मार्कस ऑरिलियस एक तत्त्ववेत्ता था और उसका व्यक्तिगत जीवन अत्यन्त सरल तथा आदर्शपूर्ण था, अतः इस दृष्टि से हम उसे अशोक के बराबर मान सकते हैं, किन्तु आदर्श की उच्चता, हृदय की विशालता, मस्तक की गौरवता और विश्व-मैत्री तथा कल्याण भावना एवं अपक्षपात तथा सब धर्मों के प्रति समान भाव और सहानुभूति बरतने में अशोक मार्कस ऑरि-लियस से अत्यन्त महान् थे। आर्य अशोक संसार भर को गले लगाने में

---

[१] Marcus Aurelius—121-180 A. D.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रयत्नशील थे और उनका धर्म सब धर्मों को स्नेहपूर्वक आलिंगन करने को लालायित था, किन्तु मार्कस ऑरिलियस दार्शनिक होकर भी ईसाइयों का वध करने से अपने को न रोक सका। अशोक सर्व-देशीय थे लेकिन मार्कस ऑरिलियस पूर्णतया एक रोमन था, उसका ध्येय रोमन प्रभुत्व को स्थापित करना था तथा वह सर्व प्रकार से रोमन कहलाना चाहता था, इसीलिए ईसाई धर्म को रोमन प्रभुता के प्रतिकूल देखकर उसने ईसाइयों का वध किया जाना न्याययुक्त करार दिया।[1] अशोक का जीवन इन संकुचित विचारों से पूर्णतया अछूता था। उनका सिद्धान्त "सर्वलोक हित" (६वाँ शिलालेख) था। अतः अशोक ने भारतवर्ष के अतिरिक्त विश्व-प्रांगण को अपना कर्म-क्षेत्र बनाया और अपना सारा जीवन इसी कार्य पर निछावर कर दिया। अशोक भारतवर्ष के ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानव तथा प्राणि जगत् के थे और विश्व भर का कल्याण उनका अभीष्ट था।

मार्कस के समय की परिस्थिति पर लक्ष्य करते हुए प्रोफेसर कार्पेण्टर कहता है[2] कि "अशोक को यदि विद्रोहियों तथा षड्यन्त्रकारी दलों का सामना करना पड़ता तो वह क्या करता ?" प्रोफेसर साहब को याद रखना चाहिए कि सम्राट् अशोक के समय में भी विद्रोही अथवा षड्यन्त्र-कारी जंगली जातियों—जिन्हें अशोक के लेखों में अटवी जाति कहा गया है—के दल वर्तमान थे, जिनके कारण मौर्य सरकार को अवश्य चिन्ता रहा करती थी, किन्तु सम्राट् अशोक उन लोगों को भी क्षमा करते गये, यही क्षमा-दान उनके लिए दंड था। सम्राट् स्वयं कहते हैं—"यो पि च अपकरेयति क्षमितिवमते वा देवानांप्रियसा यां शको क्षमनिये।" अर्थात् देवताओं के प्रिय का मत है कि जो अपकार भी करे, वह भी क्षमा करने योग्य है, यदि वह क्षमा किया जा सके। वे अटवी अथवा वन-निवासी भी, जो

[1] श्री भण्डारकर रचित अशोक, पृष्ठ २४८-२४९।

[2] J. R. A. S., p. 807, 1925.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देवताओं के प्रिय के विजित प्रदेश में है, उन्हें भी वह अपनी ओर लाने को मनाता है। उन्हें यह समझा दिया गया कि सम्राट् के अनुताप अथवा पछ-तावे में भी देवताओं के प्रिय को कितनी शक्ति है, जिससे वे अपने कर्मों पर लज्जित हों और मारे न जायँ (विनष्ट न हों)। निःसंदेह देवताओं का प्रिय सर्वप्राणियों की अक्षति, संयम, समानता (अपक्षपातता) और प्रसन्नता (सुख) का अभिलाषी है।"

प्रो० कार्पेंटर के उपरोक्त आक्षेप का एन० सी० गांगोली ने बहुत ही उचित उत्तर दिया है। वे लिखते हैं—"मार्कस की भाँति व्यवहार करने से प्रथम अशोक सिंहासन को ही त्याग देता।" अतः प्रकाशित है कि अशोक और मार्कस की आध्यात्मिकता तथा आदर्श में बहुत भारी अंतर था। मार्कस जब कि रोम राज्य के हितार्थ न्याय, अन्याय, धर्म तथा अधर्म से काम लेने को प्रस्तुत था, किन्तु अशोक विश्व-कल्याण के लिए दोषियों को भी क्षमा कर सकते थे, क्योंकि सर्व प्राणियों का सुख, प्रसन्नता, मङ्गल एवं अक्षति ही उनका परम धर्म तथा सिद्धांत था।

श्री मैकफ़ेल एल्फ्रेड के साथ अशोक का मिलान करते हैं।[1] यह ठीक है कि एल्फ्रेड अशोक से अधिक जीवन-पर्यंत एक सैनिक योद्धा रहा है, किन्तु क्या इसी कारण अशोक और एल्फ्रेड समान महानता के हो सकते हैं? एल्फ्रेड ने शस्त्र से युद्ध किया और तब भी उसकी विजय की सीमा अत्यन्त संकुचित रही। प्रवीर अशोक ने कलिंग युद्ध के बाद शस्त्र द्वारा विजय करना तो छोड़ दिया था और उसके बाद जो भी विजय सम्राट् ने की वह धर्म द्वारा ही की। सम्राट् स्वयं कहते हैं—"देवताओं का प्रिय धर्म-विजय को प्रमुख विजय मानता है। यह धर्म-विजय देवताओं के प्रिय की यहाँ, सब जगह तथा सीमांत प्रदेशों में छः सौ योजन तक······प्राप्त हुई है।" १३वें शिलालेख में उन सब देशों के नाम भी गिना दिये गये हैं।

[1] J. M. Macphail, p. 80.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अतः जब कि एल्फ्रेड की वीरता और विजय की सीमा इङ्गलैंड तक ही सीमित रही, सम्राट् अशोक की धर्म-विजय की स्वस्तिक-पताका भारत की सीमा के बाहर भी फहरा उठी थी। एल्फ्रेड के बारे में श्री जे० एम० मैकफ़ेल फिर कहते हैं—"The fact that he founded the English Navy would alone entitle him to enduring his fame."[१] नौसेना का निर्माण वस्तुतः अंग्रेजी जाति के लिए एक अत्यन्त कल्याण का कार्य था, किन्तु क्या विश्व ने भी एल्फ्रेड के इस कार्य से कोई लाभ उठाया ? यदि एल्फ्रेड ने सामुद्रिक शक्ति का निर्माण किया तो वह अपनी जातिविशेष के हित ही किया था। अतः अंग्रेज जाति उसे महान् कह सकती है, किन्तु अशोक सम्पूर्ण जगत् के लिए महान् था, क्योंकि उसने जो भी कार्य किया वह विश्व के लिए और सर्व-कल्याण-कामना से प्रेरित होकर ही किया। अशोक की महानता इसी में है कि उन्हें पक्षपात और जातीय भावनाएँ न छू पायी थीं। सम्राट् का सिद्धांत ही "अपक्षपातता"[२] तथा "सर्व-कल्याण"[३] था। अतः सम्राट् ने मनुष्यों और पशुओं के हित अपने राज्य में जो मङ्गल-कार्य किये, वही कार्य अन्यान्य देशों में भी करवाया गया।[४] साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि अशोक के समय मौर्यों की सामुद्रिक शक्ति किसी प्रकार क्षीण अवस्था में थी। महावंश तथा मेगस्थनीज़ मौर्य सामुद्रिक शक्ति का बहुलता से उल्लेख करते हैं। मेगस्थनीज़ से हमें यह भी ज्ञात है कि चंद्रगुप्त मौर्य के समय जल-सेना अथवा सामुद्रिक सेना का एक स्वतन्त्र विभाग था। महावंश के अनुसार अशोक के धर्म-प्रचारक ताम्रपर्णी अथवा लङ्का को जल-मार्ग से ही गये थे।

---

[१] J. M. Macphail's, Asoka, p. 80.

[२] १३वाँ शिलालेख।

[३] ६वाँ शिलालेख।

[४] द्वितीय शिलालेख।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मेकफ़ेल पुनः कहता है—"In their zeal for Justice, and in their encouragement of learning and piety—that these two monarchs had most in common."[1] यदि माना भी जाय कि एल्फ्रेड ने अशोक को ही भाँति न्याय के लिए पराक्रम किया, विद्या को उन्नति की और धर्म को बढ़ाया फिर भी अशोक का स्थान एल्फ्रेड से ऊँचा ही रहेगा। एल्फ्रेड अंग्रेज जाति की एक गाथा का नायक है तो अशोक विश्व-इतिहास के एक महानायक हैं।

अशोक ने आर्य-जाति तथा भारतवर्ष के ही लिए पराक्रम न किया, अपितु सम्पूर्ण संसार के लिए कार्य करना उनका ध्येय था। दूसरी ओर एल्फ्रेड ने जो कुछ भी किया वह अंग्रेज राष्ट्र और जाति के लिए ही किया, संक्षेपतः एल्फ्रेड अंग्रेज था, वह अंग्रेज जाति का था और इङ्गलैंड की उन्नति ही उसका ध्येय था, किन्तु अशोक मानव था, उसका कोई संकुचित वर्ग न न था, वह विश्व का था और विश्व उसका था।

दूसरा ईसाई सम्राट् जिसकी तुलना अशोक के साथ की जाती है शार्लमेन है। "अशोक की भाँति शार्लमेन चर्च का आधार-स्तम्भ था, धर्म-प्रचार के लिए वह अत्यन्त पराक्रमशील था। सैक्सनों को शस्त्र द्वारा विजय करने के साथ ही उसने उन्हें ईसाई धर्म में परिवर्तित करना अपने जीवन का लक्ष्य बनाया।"[2]

यह ठीक है कि दोनों सम्राट् अपने-अपने धर्म के आधार-स्तम्भ रहे, किन्तु आदर्श के रूप में शार्लमेन अशोक से बहुत नीचे था। शार्लमेन शस्त्र द्वारा विजय करने के साथ ही लोगों को शस्त्र-बल पर धर्म-परिवर्तन कराने के पक्ष में था, किंतु अशोक का आदर्श सब धर्मों का एक रूप से आदर तथा पूजा करने में है। १२वाँ शिलालेख लिखता है—"देवताओं का प्रिय प्रिय-

---

[1] J. M. Macphail's Asoka, p. 81.

[2] J. M. Macphail, p. 81.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दर्शी राजा सब धर्मों (पाषंडों)···का दान और अनेक प्रकार की पूजा से उनका आदर करता है। देवताओं का प्रिय दान अथवा पूजा को इतना मूल्यवान् नहीं मानता, जितना कि वह यह चाहता है कि सब धर्मों की सारवृद्धि हो।······जो कोई अपने धर्म का सम्मान और दूसरे धर्म का अनादर करता है, वह केवल अपने धर्म की भक्ति (अन्ध-भक्ति) से ही ऐसा करता है।·········किन्तु ऐसा करने से, इसके विपरीत वह अपने धर्म को और भी हानि पहुँचाता है। इसलिए परस्पर का मेल स्तुत्य (उत्तम) है।········निःसन्देह देवताओं के प्रिय की यही इच्छा है कि सब सम्प्रदाय वाले भव्य ज्ञान वाले हों, सुन्दर सिद्धांतों के हों (जिससे सब का कल्याण हो)।·········देवताओं का प्रिय दान अथवा वाह्य पूजा को इतना नहीं मानता जैसा कि सब धर्मवालों की सारवृद्धि हो और सब धर्मों की बड़ाई हो (उच्च बनें)।" इस अनुशासन से प्रकट है कि शार्लमेन और अशोक में क्या और कितना अन्तर था? शार्लमेन अपने धर्म का पूरा पक्षपाती और असहिष्णु था। अशोक की धार्मिकता विशुद्ध थी। अशोक दूसरे धर्मों की निंदा करना अथवा उनको बुरा कहना धार्मिक व्यसन तथा पाप समझते थे। अशोक ने अपने धर्म का कभी पक्ष न ग्रहण किया। उनका कहना था—"बिना किसी अर्थ के ओछापन न दिखलाया जाय" तथा "अन्य धर्म भी कई प्रकार से आदर के पात्र हैं" और "दूसरों के धर्म का आदर करने से अपने धर्म की अभिवृद्धि और दूसरे के धर्म का कल्याण होता है," "परस्पर का मेल स्तुत्य है।" शार्लमेन अशोक के सामने उस नक्षत्र की भाँति है जो सूर्य के प्रकाश के समक्ष सहसा छिप जाता है। इतना हम मान सकते हैं कि एक शासनकर्त्ता के रूप में ये दोनों सम्राट् परस्पर बहुत कुछ समानता रखते थे। अशोक की भाँति ही शार्लमेन का साम्राज्य प्रदेशों (मण्डलों = Districts) में बँटा हुआ था। इन प्रदेशों के शासक काउण्ट्स हुआ करते थे जो अशोक के कुमारों के सानुरूप हैं। इन काउण्ट्स पर कुमारों की भाँति सुव्यवस्थित शासन का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्तरदायित्व था। सीमान्त प्रदेशों के लिए शार्लमेन ने "मार्कग्रेफिन" नियुक्त किये थे। मार्कग्रेफिन को श्री मैकफ़िल ने[1] अशोक के अत-महामात्रों से मिलाया है, किन्तु शार्लमेन के मार्कग्रेफिन कौटिल्य के अन्तपाल से ही मिलाये जा सकते हैं क्योंकि उनका कार्य सीमान्त की रक्षा करना था और इसी हेतु उनकी अध्यक्षता में काफी सैन्य रहा करती थी। अशोक के अन्त महामात्र धर्म-महामात्र के अनुरूप हैं; जिस प्रकार धर्म-महामात्रों को प्रजा के लोगों में धर्म-प्रचार तथा कल्याण कार्य करना था, वही कार्य अन्त-महामात्र को बाहरी सीमान्त प्रदेशों में करना होता था।

सम्राट् अशोक को "उमर खलीफ़ा प्रथम" (o44A.D.) से भी मिलाया जाता है। उमर अनेक प्रदेशों का विजेता था। वह एक शक्तिशाली और प्रभावशाली पुरुष था। उसका प्रभाव साम्राज्य के प्रत्येक विभाग पर स्थापित था तथा उसकी शक्ति का प्रभुत्व विशाल साम्राज्य के कोनों पर भी अपनी धाक जमाये था। उसने युद्ध में कभी भाग न लिया, किन्तु मदीना से ही वह सैन्य तथा शासन-कार्य का नियन्त्रण किया करता था। वह दूरदर्शी शासक था। उसने अपने साम्राज्य को बहुत विस्तृत न होने दिया, क्योंकि वह समझता था कि साम्राज्य का अत्यधिक विस्तार साम्राज्य के संगठन को कमजोर बना देता है। वह अरब राष्ट्र के सम्पन्न और उसके प्रत्येक निवासी को सैनिक बना देना चाहता था। अतः स्पष्ट है कि एक वीर और निपुण राजनीतिज्ञ सम्राट् होने पर भी उमर का आदर्श बहुत ही संकुचित था, उसका एकमात्र ध्येय अरब राष्ट्र की उन्नति करना तथा उसे अमीरों का प्रदेश बनाना था, किन्तु अशोक का आदर्श कभी भारतीय सीमाओं से बद्ध न रहा। अशोक के समक्ष सब प्रदेश "भारत" ही थे और अशोक ने जहाँ तक हो सका, आर्य-सीमाओं से परे अन्य वैदेशिक देशों में भी अमूर्त भारत की नींव डाली। अशोक केवल इतना ही न चाहते थे कि उनकी

---

[1] मैकफ़िल, अशोक, पृष्ठ ८१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रजा इहलोक तथा परलोक का सुख उपलब्ध करे, अपितु उनकी सच्ची अभिलाषा यह थी कि अन्य देशीय प्रजा अर्थात् सम्पूर्ण मानव का कल्याण हो, जिससे वे इहलोक तथा परलोक दोनों सुख का लाभ उठा सकें। पशुओं तथा विश्व के जीवमात्र के प्रति भी उनकी यही लालसा थी।[1] प्रथम स्तम्भ-लेख में अशोक कहता है, "मेरा विधान (व्यवस्था, शासन अथा नियम) इस प्रकार है—धर्म से पालन करना, धर्म से शासन करना, धर्म से सुख प्रदान करना और धर्म से ही रक्षा करना।" तथा उमर के विपरीत सम्राट् का पुण्य सिद्धान्त था, "कटिवय मते हि मे सबलोक हिते" (६वाँ शिलालेख)—अर्थात् "सर्वलोक का हित करना ही मेरा कर्त्तव्य है।" अतः उमर जब कि अरब की कल्याण-कामना से पूर्ण था, अशोक सर्वकल्याण के लिए पराक्रम करने में प्रयत्नशील थे। इस हेतु यदि उमर अरब का महापुरुष था तो अशोक विश्व के महान् पुरुष थे। सम्राट् अशोक अपनी इस विश्व-व्यापक सहृदयता एवं स्नेह के कारण सम्पूर्ण प्राणीवर्ग के स्नेहभाजन हो गये, किन्तु उमर इस वरदान को न पा सका। उसकी आर्थिक नीति मजदूरों के विद्रोह का कारण हुई। उमर जिसकी राजनीति लूट-खसोट को भी न्याय-संगत समझती थी, कभी भी अशोक की बराबरी नहीं कर सकता। अशोक तो अपराधियों तथा अपकार करनेवालों को भी क्षमा करता जाता था और उमर गरीबों का, निरीह प्रजा का धन अपहरण कर राजकोष भरने में लगा था। तब क्या उमर अशोक के स्थान को पा सकता है ?

उमर की लूट-खसोट पर प्रकाश डालते हुए श्री० जे० एम० मैकफ़िल लिखते हैं[2]—

"An immense amount of wealth poured into the treasury and plunder was, no doubt, regarded as being

[1] स्तम्भ-लेख पहला, दूसरा और कलिंग-शिलालेख १, २।

[2] J. M. Macphail's Asoka, p. 82.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

as legitimate as conquest." यही कारण है कि अन्त में उमर मदीना की मस्जिद में आर्थिक संकट से त्रस्त एक मजदूर द्वारा मार डाला गया।

कुछ विद्वान् सम्राट् अशोक तथा अकवर की भी तुलना करते हैं। माना कि अकवर एक अच्छा शासक था और उसमें बहुत कुछ धार्मिक सहिष्णुता भी थी, किन्तु अशोक और अकवर की सहिष्णुता में यथेष्ट अन्तर है। अशोक की सहिष्णुता सैद्धान्तिक तथा—"सर्वलोकहित"—पर आधारित थी, किन्तु अकवर की नीति का आधार राजनीतिक था। अकवर पूर्ण रूप से अन्य धर्मों के प्रति उदार भी न था और न अशोक की भाँति वह सर्व-धर्मों की सारवृद्धि का ही अभिलाषी था। अकवर के समय में एक नवीन धर्म "इलाही" नाम से जागृत हो रहा था। इस धर्म के मानने वालों के प्रति अकवर ने बहुत क्रूरता का व्यवहार किया। उसने इस धर्म के लोगों को बन्दी बनाकर सिन्ध तथा अफगानिस्तान भेजा, जहाँ पर ये लोग घोड़ों के मोल बेच दिये गये। सम्राट् अकवर का "दीनइलाही" भी केवल निजी महत्ता तथा गौरवता के लिए था। अकबर का इस मत के प्रति कोई अधिक उत्साह भी न रहा, न उसने अशोक की भाँति उसके लिए अत्यधिक पराक्रम ही किया। अतः "दीन-इलाही" शाही-दरवार से वाहर न फैल सका और अकवर के साथ ही उसका भी स्वर्गवास हो गया। इस बात को लक्ष्य कर श्री मैकफ़िल कहते हैं, "कम से कम इस विषय में अशोक और अकवर के मध्य की सादृश्यता में विरोध है।"[1] सम्राट् अशोक के धर्म-प्रचार तथा धर्म-विधान को लक्ष्य कर श्री मैकफ़िल पुनः कहते हैं—

"To nurse my children on the milk of truth is a description that applies more closely to Asoka's aim than to Akbar's."

"यूरोपियन विद्वान् सिकन्दर, सीज़र तथा नेपोलियन को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। कहा जा सकता है कि वे अशोक से भी अधिक निपुण शासनकर्त्ता तथा

[1]श्री जे० एम० मैकफ़िल अशोक, पृष्ठ ८४।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विजयी थे, किन्तु क्या इसी हेतु वे सर्वमहान् कहलाने के अधिकारी हैं ? यही प्रश्न एच० जी० वेल्स ने भी पूछा है। सिकन्दर, सीज़र तथा नेपोलियन के बारे में एच० जी० वेल्स प्रश्न करता है, "इन महापुरुषों ने मानवता के हितार्थ कौन-सी वस्तु प्रदान की ?" इस प्रश्न का सरल उत्तर "ना" से दिया जा सकता है। मानवता का कल्याण करने के बजाय जैसे-जैसे उनकी शक्ति बढ़ती गई, उसी अनुपात से उनमें क्रूरता और अभिमान भी बढ़ता गया। सिकन्दर के प्रति वेल्स लिखता है कि जैसा वह महान् होता गया—"उसने अत्यधिक शराब पीना आरम्भ किया और निर्भीकतापूर्वक हत्याएँ कीं। बेबीलोनिया में अत्यधिक शराब पीने के कारण ही उसे एकाएक ज्वर हुआ और उसकी मृत्यु हो गई।" उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य भी क्षीण होने लगा। उसकी स्मृति को जीवित रखने के लिए केवल एक रीति बच पायी। पहले लोग दाढ़ी रखा करते थे, किन्तु सिकन्दर का स्वाभिमान इतना अधिक था कि उसे अपने मुख को ढँका रखना पसन्द न आया। अतः उसने दाढ़ी को मुँड़वाकर ग्रीस तथा इटली में एक नवीन फैशन का प्रचार किया। यह प्रथा बहुत शताब्दियों तक जीवित रही। यद्यपि यह फैशन अच्छा था, किन्तु मानवता के लिए विशेष महत्त्व का न था। दूसरी तरफ़ अशोक ने जो कुछ किया वह विश्व-कल्याण के लिए ही किया।

इसी तरह अशोक जब कि एक साधु और धार्मिक पुरुष था, सीज़र का जीवन पूर्णतया लालसा, आकांक्षा एवं भोग-लिप्सा से भरा था। ५४ वर्ष की उम्र में भी सीज़र अपने को संयमित न रख सका, मिस्र में जाकर वह वहाँ की रानी क्लिओपेट्रा के प्रेम-जाल में जा फँसा। क्लिओपेट्रा रोम में भी एक साल तक सीज़र के साथ रही। सीज़र आकांक्षा और ऐश्वर्य की भूख से उत्पन्न रहा और यही आकांक्षा अन्ततः उसकी मृत्यु का कारण बनी, किन्तु अशोक का जीवन एक पुण्यात्मा का जीवन था। अशोक दूसरा गौतम-बुद्ध था। सम्राट् का सिद्धान्त था, "अछति च संयमं च, समचेरां

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

च, मादवं च''.......प्रकट है कि अशोक जो अन्य लोगों के संयम के अत्यन्त अभिलाषी थे, स्वयं कितने संयमित न रहे होंगे ? सम्राट् अशोक को कोई उन्मत्त आकांक्षा न थी और यदि कोई आकांक्षा या अभिलाषा थी तो केवल यही कि ''सर्वकल्याण'' हो ।

नेपोलियन को भी एक सर्वमहान् सम्राट् कहा जाता है । इस पर वेल्स कहता है कि ''वह (नेपोलियन) मानवता के लिए कार्य कर सकता था और वह कार्य उसे इतिहास गगन का सूर्य बना देता ..... किन्तु इस अवसर के हेतु विशाल भावना की आवश्यकता थी ।'' अतः स्पष्ट है कि आदर्श तथा भावनाओं की विशालता के रूप में सिकन्दर, सीज़र और महान् नेपोलियन अशोक का सामना नहीं कर सकते । अशोक का हृदय विशाल, मस्तक उन्नत और भावना सर्वकल्याण-कामना से परिपूर्ण थी । यही भावना और आदर्श सम्राट् को विश्व-मंगल के लिए जीवन-पर्यन्त प्रेरित करती रही । इसी आदर्श के लिए सम्राट् ने अपूर्व पराक्रम किया तथा अपने निजी व्यक्तित्व को मिटा डाला । इसी सार्वलौकिकता के कारण आज अशोक का सामना कोई भी सम्राट् अथवा मनुष्य नहीं कर सकता । एच० जो० वेल्स के शब्दों में ''वह सर्वमहान् सम्राट् था ।''[१] और ''इतिहास के स्तम्भों में भीड़ करने वाले हज़ारों, करोड़ों राजाओं और सम्राटों के मध्य अकेला अशोक का नाम चमकता है । वोल्गा से लेकर जापान तक आज भी अशोक का नाम आदरणीय है । चीन, तिब्बत और भारत भी आज तक अशोक की महानता को गाथाओं को सुरक्षित रखे है, जब कि कॉन्सटैन्टाइन और शार्लमेन का कोई नाम भी नहीं जानता । अशोक की स्मृति आज भी विपुल मनुष्यों के हृदयों पर अंकित है ।'' निःसंदेह अशोक मानव-अवतार हो चुका है, अशोक का जन्म ही शायद भगवान् कृष्ण, गौतम और राम की भाँति ''परित्राण'' के हेतु हुआ था । मानव-जाति तथा प्राणिमात्र के हितार्थ उसने

[१] H. G. Wells, A Short History of the World, p. 90.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अद्वितीय कार्य किया और सबसे महान् बात अशोक की यह है कि जो कुछ उन्होंने कहा उसका अक्षरशः पालन किया। श्री मैकफ़िल का कथन सत्य है कि अशोक की तुलना प्राचीन काल के किसी भी राजा से नहीं की जा सकती है।[१] वह पुनः कहता है—

"In the history of one of the great religions af the world the greatest of all the non-Christian religions, if reckoned by the number of human lives it has influenced—Asoka holds a place of importance second only to that of the founder himself. In this way he perhaps stands nearer to Paul than to any other histoiical character."

अर्थात् अशोक 'धर्म' के रूप में दूसरा भगवान् बुद्ध है तथा इस अर्थ में वह सन्त पॉल के सानुरूप है। ईसा मसीह का सिद्धान्त यद्यपि सार्व-लौकिक तथा सर्वकल्याण एवं मंगल के लिए था, किन्तु उसके अनुगामी इस तथ्य का निरूपण न कर पाया। अतः कुछ समय तक यह भय बना रहा कि कहीं ईसाई धर्म जुडाइज़्म के नवीन मत में परिभ्रष्ट न हो जाय, यद्यपि जुडाइज़्म मत सांस्कृतिक तथा उदार था, किन्तु फिर भी उसमें व्याव-हारिक और वर्गीय पक्षपात भरा हुआ था। इस जातीय अथवा वगीय पक्षपात को मेटने वाला सन्त पॉल ही हुआ है। अन्य ईसाई आचार्य भी इस बात के लिए तैयार थे कि चर्च का दरवाज़ा भिन्न तथा अन्यदेशीय लोगों के लिए खोल दिया जाय, किन्तु पॉल ने कहा कि क्रिश्चियन चर्च का कोई भी दरवाज़ा नहीं, क्योंकि वहाँ कोई दीवाल ही खड़ी नहीं है। अब प्रत्येक विभाग तोड़ डाले गये हैं तथा परमात्मा की दृष्टि में हर प्रकार की विभिन्नता मिटा दी गयी है। परमात्मा का प्रेम उसी भाँति स्वच्छंद तथा सब का आलिंगन करने वाला है जैसा कि नीलाकाश। भगवान् का अनुग्रह तथा प्रसाद उसी प्रकार स्वच्छन्द है जैसी कि वायु, जिसमें हम

[१] J. M. Macphail's Asoka, p. 84.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साँस लेते हैं। ईसा मसीह के समक्ष न कोई यहूदी है, न कोई यूनानी, न कोई बँधा है, न स्वतन्त्र और न कोई स्त्री है न पुरुष।"

क्रिश्चियन धर्म की तरह गौतम का धर्म भी सार्वलौकिक तथा विश्व-हित के अर्थ था, किन्तु उसके अनुसरण करने वालों ने उसको एक संकुचित वर्गीय धर्म बना दिया था। अशोक ने बौद्ध-विहार का द्वार सबके लिए स्वतन्त्र कर दिया। अशोक ने अपने पराक्रम द्वारा उसका सारे भारतवर्ष एवं अन्य प्रदेशों तक प्रचार करके बौद्ध-धर्म को एक व्यापक विश्व-धर्म में परिवर्तित कर दिया। गौण-शिलालेख प्रथम ब्रह्मगिरी लिखता है—"..........ढाई साल तक जब कि मैं उपासक रहा मैंने अधिक पराक्रम (उद्योग) न किया, किन्तु एक साल से या एक साल से ऊपर हुआ मैंने सङ्घ की यात्रा की, तब से मैंने अधिक पराक्रम किया। अतः इस समय के अन्दर जम्बूद्वीप के लोग जो अब तक देवताओं से सम्बन्धित न थे देवताओं से सम्बन्धित हुए (अथवा उनका देवताओं से सम्बन्ध स्थापित हुआ), पराक्रम का यही फल है।" १३वें शिलालेख में वे स्पष्टतः कहते हैं कि इस धर्म पराक्रम के द्वारा उन्होंने भारत के अतिरिक्त सर्वत्र धर्म-विजय को उपलब्ध किया है। सम्राट् की धर्म-विजय का कारण सर्वधर्मों के प्रति सहिष्णुता और धर्म के सारतत्व का सर्वत्र प्रचार करना था। अशोक का कहना था—"परस्पर का मेल स्तुत्य है। जिससे लोग एक दूसरे के धर्म को श्रवण करें और समझें। निःसन्देह देवताओं के प्रिय की यही इच्छा है कि सर्वसम्प्रदाय वाले सुन्दर सिद्धांतों के हों, जिससे सबका कल्याण हो...... देवताओं का प्रिय सर्वधर्मो की सारवृद्धि को अच्छा मानता है," (१२वाँ शिलालेख)। सम्राट् अशोक की दृष्टि में प्रत्येक धर्म समान था, क्योंकि सम्राट् का विश्वास था कि सभी धर्मभावों की शुद्धता तथा आत्मा का विकास चाहते हैं। अतः सम्राट् ब्राह्मण, आजीविक, निग्रंथ, श्रमण आदि सबको अपनाये हुए थे। १२वाँ शिलालेख कहता है—"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब धर्मों (सवपासंडानि पूजयति) चाहे वे गृहस्थी हों, चाहे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साधु (त्यागी—पविजितानि = परिव्राजक), वह सब का दान और अनेक प्रकार की पूजा से आदर करता है।" प्रकट है कि सम्राट् का धर्म पूर्ण रूप से स्वच्छन्द, सर्वगत तथा पक्षपातहीन था। इस तरह बौद्ध-धर्म को सन्त पॉल की भाँति सर्वगत बनाने का श्रेय अशोक को ही प्राप्त है। इस अर्थ में निःसन्देह सन्त पॉल और अशोक परस्पर मिलते हैं। संक्षेपतः अशोक तथा सन्त पॉल दोनों ही मानवता के पुजारी हुए हैं। उनके धर्म-सिद्धांत जाति की अपेक्षा सर्वमनुष्यों के लिए रहे हैं।

उपसंहार में भारतवर्ष ने अशोक के चारुशासन और धर्म-प्रचार से अत्यधिक लाभ उठाया। सम्राट् के धर्म-प्रचार के फलस्वरूप अब तक जो लोग धर्म के उपभोग से वञ्चित थे, उनके लिए भी अशोक ने धर्म का द्वार खोल दिया। अतः सब मनुष्यों में एकता स्थापित हुई और ऊँच-नीच का भाव जाता रहा। ११वें शिलालेख में सम्राट् कहते हैं— 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, धर्मदान से बढ़कर और कोई दान नहीं है, धर्म का व्यवहार, धर्म का वितरण और धर्म के सम्बन्ध से बढ़कर और दान नहीं है, इसमें निम्न बातें होती हैं—"दासों और वेतन-भोगी नौकरों (भृत्यों) से उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा आदि···।" श्री भण्डारकर[1] के अनुसार अशोक के धर्म-प्रचार से पाली भाषा सारे भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा का रूप धारण कर गई। अतः इस समय के सभी धर्म-ग्रन्थ तथा धर्म-लिपियाँ पाली भाषा में ही लिखी गयीं। सम्राट् के धर्म-पराक्रम के परिणामस्वरूप भारतवर्ष ने कला-कौशल में भी अत्यधिक उन्नति की। सम्राट् अशोक ने धर्म-लिपियों को चिरस्थायी बनाना चाहा था। ६वाँ शिलालेख कहता है—"यह धर्मलिपि इसलिए लिखवाई गई कि यह चिरंजीवी हो (चिलिथ्यकत्वा भवतु) और जिससे मेरे पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र सर्व-कल्याण के हेतु उसका अनुसरण करें।" इसी भाँति अन्य लेखों के अन्त में

[1] डाक्टर भण्डारकर, अशोक—पृष्ठ २५७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी सम्राट् धर्मलिपियों के चिरस्थायी होने की अभिलाषा प्रकट करते हैं। अतः धर्म-लिपियों को चिरस्थायी बनाने के हेतु सम्राट् ने पत्थर शिल्प-कला को अपनाया, फलस्वरूप इस कला ने अशोक के समय राजकीय संरक्षता पाने से आश्चर्यजनक रूप से उन्नति की। धर्म-लिपियों को खुदवाने के अभिप्राय से बड़े-बड़े शिला-स्तम्भ स्थापित कराये गये, शिलाओं एवं चट्टानों पर लेख लिखे गये, गुफाओं का निर्माण किया गया तथा अन्य अनेक प्रकार की कला की वस्तुएँ निर्मित की गयीं। समासतः अशोक का शासन भारत और विश्व के लिये अत्यन्त कल्याणप्रद प्रमाणित हुआ।

किन्तु खेद है कि सम्राट् अशोक के बाद उसका कोई ऐसा योग्य उत्तराधिकारी न हुआ जो उसके महान् कार्य को आगे बढ़ा सकता और मौर्य साम्राज्य को शिथिल न होने देता। एच० जी० वेल्स लिखता है :—

Such was Asoka, greatest of kings. He was far in advance of his age. He left no prince and no organisation of men to carry on his work, and within a century of his death the great days of his reign had become a glorious memory in a shattered and decaying India."

कलिङ्ग-युद्ध की भीषणता और अमानुषिक क्रूरता का अवलोकन कर अशोक का कोमल हृदय दुखी हो चला था और इसी समय से उन्होंने युद्ध न करने की घोषणा की थी। सम्राट् बहुत दिनों से संसार की क्रूरता का अध्ययन कर रहे थे। चौथा प्रज्ञापन (शिलालेख) लिखता है, "बहुत काल व्यतीत हुआ, सैकड़ों वर्ष हुए कि होम के लिये पशुओं की बलि, जीवों की हिंसा और सम्बन्धियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति बुरा व्यवहार बढ़ता ही गया। किन्तु आज देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण के फलस्वरूप, भेरीनाद (वीर-घोष) धर्म-घोष हुआ।" स्पष्ट है कि सम्राट् ने संसार की क्रूरता से ही ऊब कर युद्ध करने का विचार छोड़ा था और इसी हेतु वीर-घोष को उन्होंने धर्म-घोष में परिवर्तित किया था। तब से सम्राट् ने शस्त्र द्वारा विजय करने का विचार ही हमेशा के लिये छोड़

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिया—और सर्वकल्याण के लिए धर्म-विजय करने लगे। १३वें प्रज्ञापन (चतुर्दश शिलालेख) में सम्राट् कहते हैं, देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा धर्म-विजय को प्रमुख विजय मानता है। यह विजय देवताओं के प्रिय को यहाँ (पाटलिपुत्र), सब जगह तथा सीमान्त प्रदेशों में छः सौ योजन तक, जहाँ यवनराज अन्तियोकस नाम का राजा राज्य करता है और उस अन्तियोकस के वाद (परे) जो तुरमय, अण्टिगोनस्, मग, अलिकसुन्दर के राज्य हैं, वहाँ और नीचे दक्षिण में चोड़, पांड्य और ताम्रपर्णी के राज्यों तक प्राप्त हुई है। इसी प्रकार सम्राट् के विजित राज्यों में यवनों, कम्बोजों, नाभाक और नाभितियों (नाभपन्ति), पैठानिकों, आन्ध्रों, पुलिन्दों के राज्य में, सर्वत्र लोग, देवताओं के प्रिय के धर्माचरण का अथवा धर्मानुशासन का अनुसरण कर रहे हैं।" धर्म-विजय के परिणामों पर प्रकाश डालते हुये सम्राट् आगे कहते हैं—"जो विजय अब तक इससे (धर्म से) प्राप्त हुई है—वह आनन्द अथवा प्रेम को पैदा करनेवाली है। धर्म-विजय से आनन्द प्राप्त होता है।............यह धर्म-विजय इहलोक तथा परलोक दोनों में आनन्द देनेवाली है।" इसलिए सम्राट् अपने पुत्रों और प्रपौत्रों को सम्बोधित करते हैं, "मेरे पुत्र और प्रपौत्र शस्त्रों द्वारा विजय करने का विचार न करें। उन्हें उदारता (शान्ति) और सहिष्णुता अथवा दण्ड-साप (मृदुता) में आनन्द मनाना चाहिए। यदि उन्हें विजय में आनन्द आवे तो धर्म-विजय को ही विजय समझनी चाहिए। उसी विजय में आनन्द मानना चाहिए।"

प्रकट है कि सम्राट् ने अपने आप तो शस्त्र से विजय करना छोड़ा ही था, अपने पुत्र-पौत्रों आदि को भी वे यही उपदेश देते गये। किन्तु अशोक के वाद उसका कोई उत्तराधिकारी ऐसा न हुआ जो धर्म-विजय को स्थिर रख सकता। यही कारण है कि अशोक के अवसान के साथ ही मौर्य-राष्ट्र का सूर्य भी पश्चिम की ओर ढलता गया और कुछ ही काल के अन्दर सम्पूर्ण मौर्य-राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो चला।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपसंहार—समासतः अशोक भारत के एक महान् सिद्ध तथा धर्म-राज थे। अशोक को सिद्ध (Prophet) कहते हुए हमें अमोस के शब्दों का स्मरण हो आता है। अमोस ने कहा था—"मैं कोई न सिद्ध था····और····न मैं किसी सिद्ध का लड़का ही था।" किन्तु वह केवल एक चरवाहा था और फलों (Sycamore fruit) का एकत्र करनेवाला था, किन्तु जब वह ग़ल्ले के पीछे चल रहा था, ईशू ने उसे पकड़ा और उसे धर्म-प्रचार के लिए इज़राइल भेजा।

इसी भाँति अशोक वस्तुतः न कोई सिद्ध था, न जन्म से ही वह सिद्ध रहा, वह तो केवल एक मनुष्य था, राजा था, किन्तु गौतम की प्रेरणा उसे धर्म-प्रचार के लिए प्रेरित करती गई। अशोक की धार्मिकता भगवान् तथागत की कृपा का दान था और इस दान का अशोक ने बहुत ही सुन्दरता के साथ उपयोग किया।

अशोक पर भारतवर्ष का गौरव है और निस्सन्देह प्रत्येक भारतीय युवक के लिए अशोक आदर्श स्वरूप हैं। आज यदि गिरा हुआ भारत पुनः जागृत होकर भारतवर्ष कहलाना चाहता है, यदि वह आर्य-पद फिर से प्राप्त करने का अभिलाषी है, तो उसके प्रत्येक बच्चों, लड़के व लड़कियों को अशोक बनना होगा। इसी आशय को सामने रखते हुए श्री जे० एम० मैकफ़िल लिखता है—

"He (Asoka) is part of the heritage of which India may well feel proud, and his example should inspire the young-men of India to-day with the "noble ambition to spread, their lives for the moral and spiritual progress of their country and for the temperal and eternal welfare of their fellow-men." (J. M. Macphail's Asoka p. 88.)

संक्षेप में अशोक भारतवर्ष की प्राचीनतम अपूर्व निधि हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दसवाँ प्रकरण

सम्राट् अशोक

"नास्ति हि क्रमतर सव्रलोक हितेन"[1] (सम्राट् अशोक ६वाँ प्रज्ञापन, मानसेरा)।

राजत्व एवं राजा की उत्पत्ति—भारतीय आत्मा निरन्तर उन्नत आध्यात्मिकता एवं राजसत्ता के लिए उत्कंठित रही है। आर्य-जीवन के यही दो प्रतिनिधि हैं। भारत धर्म-प्रधान देश है। अतः आर्य-जीवन एवं कर्म-क्षेत्र का प्रत्येक भाग धर्म से अनुरक्त रहा है। पाश्चात्य वैदेशिक जातियों की भाँति उसे कूटनीति और दांभिकता से कभी सम्वन्ध नहीं रहा। उसे तो केवल एक धर्म से ही तात्पर्य था और यही धर्म सर्वदा उसके जीवन-पथ का आलोक रहा है।

अतः भारत की राजनीतिक एवं राजसत्ता का भी मुख्य अंग धर्म था, अपितु धर्म ही राजा था, व्यवहार था, शासन था और नियम था। सत्य-युग के धर्मशासन का अभिनन्दन करते हुए महाभारत कहता है कि सत्य-युग में "न वै राज्यं च राजाऽऽसीन्न न दण्डो, न दाण्डिकः। धर्मणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम्" ॥१४॥ (राजधर्मानुशासनपर्व, ५९ अध्याय) सत्ययुग में न राजा था, न राज्य था, न दण्ड था और न दंडच था, किन्तु एक धर्म से ही प्रजा परस्पर अपनी रक्षा करती थी। महाभारत का यह पावन कथन भारतवर्ष के आदि उच्च एवं विशाल साम्यवाद की ओर संकेत करता है। निस्संदेह भारत आदि काल से साम्यवाद का उपासक तथा प्रेमी

---

[1]अर्थात् सव लोगों के (अथवा जनता के) हित करने से अधिक करणीय (उपादेय) कार्य या कर्म कोई नहीं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहा है। इसी साम्थवाद का दूसरा नाम धर्म-शासन है, अर्थात् वह शासन जिसके अन्तर्गत सभी मानव एक रूप थे, न कोई विशिष्ठ था, न निकृष्ट; न कोई धनाढच था, न निर्धन; न कोई किसी पर अत्याचार करता था और न किसी को पीड़ित करता था और सब लोग प्रसन्न थे, सुखी थे। उन्हें राजकीय अत्याचारों और पूँजीपतियों के आतंक का कुछ भी अनुभव न था, किन्तु अंततः आतंकवादी धनाढचों तथा मानुषिक दुष्टताओं के कारण यह साम्यवाद चिरंजीवी न हो सका।

इस मंगलमय साम्यवाद की मृत्यु का उत्तरदायित्व, द्रव्य के लोभी धनाढचों पर ही है। अतः कुचाली मनुष्यों के इस मोह के ही कारण ज्ञान का भी नाश हुआ। मनुष्यों की बुद्धि भ्रष्ट हो चली। फलस्वरूप धर्म का भी विनाश हुआ और लोग अधर्मी, स्वार्थी एवं निजी स्वार्थों के अनन्य उपासक हो चले। मनुष्य, मनुष्य की हिंसा कर अपना पेट भरने लगा और प्रजा अन्याय एवं अधर्म से पीड़ित हो चली। विशिष्ट धनवान् एवं अत्याचारी शासक वर्ग ही इन सबका कारण था। महाभारत कहता है, "....मोहवशमापन्ना मनुजा....प्रतिपत्ति विमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत्।....मोहवश्या नरास्तदा....सर्वे लोभस्य वशमापन्नाः ॥१७॥....तांस्तु कामवशं प्राप्तान्, रागो नामाभि संस्पृशत् ॥१८॥" अतः इन लक्षणों को लक्ष्य कर महाभारत पुनः कहता है, "अगम्यागमनं....वाच्यावाच्यं....भक्ष्याभक्ष्यं....दोषादोषां च नात्यजन्"—फलतः महाभारत कहता है, "विप्लुते नरलोके वै ब्रह्म चैव वनासह ॥२०-२१॥" (महाभारत राजधर्मानुशासन पर्व, अध्याय ५९)। अर्थात् धन आदि के मोह में पड़ने के कारण मनुष्यों का ज्ञान नष्ट हो गया और ज्ञान-नाश से धर्म भी नष्ट हो चला। सब मनुष्य लोभी हो गये, वे कामुक तथा राग वाले हो चले, फलतः उन्हें दोष, अदोष, गम्य, अगम्य आदि किसी भी वस्तु का ज्ञान न रहा। अतः धर्म का इस भाँति विनाश होने से संसार में विप्लव मच गया, अराजकता फैल गयी। इस अराजकता से सम्पूर्ण प्रजा भयत्रस्त हो चली। प्रजा का कोई रक्षण न हुआ, क्योंकि

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इस समय तक मनुष्यों के शासन के लिए कोई नियम अथवा दण्ड आदि न बने थे। अतः विप्लव को रोकने के लिए प्रथम दण्ड-नीति अथवा राज-नीति का प्रादुर्भाव हुआ। महाभारत राजनीति अथवा दण्ड की उत्पत्ति का इस प्रकार वर्णन देता है—मनुष्यों में विप्लव होने के कारण देवता लोग ब्रह्मा के पास जाकर उसकी शान्ति का उपाय पूछने लगे, इस पर ब्रह्मा ने—"अध्याय सहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम्। यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः"[१]—सौ हजार अध्यायों युक्त धर्म, अर्थ, काम पर एक ग्रन्थ का अपनी बुद्धि से निर्माण किया।

राजा की उत्पत्ति—प्रजा में अशान्ति एवं अराजकता को मिटाने के हेतु ही दंड की उत्पत्ति हुई। इस दंड-धर्म का महाभारत ने स्वच्छंदतापूर्वक अभिनन्दन किया है। महाभारत कहता है—"धर्मेण व्यवहारेण प्रजाः पालय"। क्यों? इसीलिए कि धर्मकोविद अर्थात् धर्म-ज्ञाता लोग इसको "परं धर्मं मन्यते" अर्थात् धर्म से युक्त व्यवहार, शासन, नियम या दण्ड से प्रजा का पालन करने को धर्मभिज्ञ लोग उत्तम धर्म मानते हैं।[२] धर्म के प्रणयन के अनन्तर यह समस्या उपस्थित हुई कि कौन इस धर्म-दण्ड या शासन को ग्रहण करेगा? महाभारत लिखता है कि इस समस्या को हल करने के हेतु—"देवाः समागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम्। एको योऽर्हति मर्त्येभ्यः श्रेष्ठ्यं वै तं समादिश" ॥८७॥ देवता लोग विष्णु भगवान् के पास गये और उन्होंने इस उत्तरदायित्व (प्रजा की रक्षा का उत्तरदायित्व) के योग्य पुरुष के लिए याचना की। स्पष्ट है कि प्रजा की रक्षा एवम् विप्लव की शान्ति के हित ही "राजा" का जन्म हुआ। भगवान् मनु ने भी कहा है—"अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्। रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः॥"[३] अर्थात् "अराजकता के कारण विश्व के भयसंकुल

---

[१]राजधर्म, शान्तिपर्व, अध्याय ५९, श्लोक २९।

[२]महाभारत, राजधर्मानुशासन पर्व, अध्याय ७१, श्लोक २४-२५।

[३]मनुस्मृति, ७वाँ अध्याय, श्लोक ३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एवं त्रस्त होने से सर्व प्रजा (चर-अचर) की रक्षा के लिए भगवान् ने राजा को उत्पन्न किया।" अतः प्रकट है कि राजसत्ता का गौरव प्रजा के रक्षण एवम् विश्व-शान्ति पर ही निहित है। इसी से महाभारत कहता है—"एष एव परोधर्मी यद्राजा रक्षति प्रजाः।"[1] महाभारत आगे कहता है—"एतत्ते राजधर्माणां नवनीतं बृहस्पतिर्हि भगवांन्यायं धर्म प्रशंसीत ॥१॥"[2] अर्थात् न्याययुक्त रक्षा करने से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भारतीय राजा स्वेच्छाचारी न होता था, प्रजा के हित के लिए ही उसका जन्म हुआ था और प्रजा की रक्षा करना ही उसका परम कर्त्तव्य तथा धर्म था। कौटिल्य भी कहता है—"जो राजा के सुख का कारण हो उसे राजा के मङ्गलमय न समझना चाहिए, किंतु जिस हेतु प्रजा हर्षित रहे उसे ही राजा का कल्याणप्रद समझना चाहिए।"[3] मनु कहते हैं—"ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि। सर्वस्यास्य यथान्यायम् कर्त्तव्य परिरक्षणम् ॥२॥" (अध्याय सातवाँ)। अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति के हित शास्त्र के अनुसार उपनयन संस्कार करके क्षत्रिय को सर्व देश अथवा जनपद की रक्षा नियम से करनी चाहिए। राजा को नित्य प्रातःकाल उठकर ऋक्, यजु, साम तथा नीतिशास्त्र के ज्ञाता ब्राह्मणों के आदेशानुसार कार्य करना होता था।[4] अर्थात् राजा को स्वच्छन्दता का अधिकार न था, वह अपनी स्वेच्छाचारिता एवम् कामचारिता के अर्थ कोई भी कार्य नहीं कर सकता था। समासतः प्रजा ही राजा द्वारा शासन कराती थी। न्याय और दण्ड में भी राजा का कोई हाथ न था; भारतीय धर्म-

[1] शांति-पर्व-राजधर्म, ७१ अध्याय श्लोक २५।

[2] शांतिपर्व, अध्याय ५८।

[3] कौटिल्य अर्थशास्त्र, १९वाँ प्रकरण, श्लोक ३९।

[4] देखिए—मनुस्मृति सातवाँ अध्याय, ३७ श्लोक—ब्राह्मणान्पर्युपासति प्रातरुत्थाय पार्थिवः॥ त्रैविधवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषाम् च शासने।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कोविद न्याय के चार मूल मानते हैं—वेद, स्मृति, शिष्टाचार और विद्वान् ब्राह्मणों की सम्मति। मनु कहते हैं—"तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारम् धर्ममात्जम् ॥ ब्रह्मतेजोमयम् दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः" ॥ १४ ॥ (मनुस्मृति), अर्थात् सर्व प्राणियों की रक्षा करनेवाले धर्म रूप पुत्र दण्ड को ब्रह्मा ने सर्वभूतों अथवा प्राणियों के प्रथम ही उत्पन्न किया। इस वृत्त से स्पष्ट है कि भारतीय राजा को न्याय एवम् दण्ड को अपनी इच्छा के अनुसार वनाने और विगाड़ने का अधिकार न था, किन्तु उसको केवल उन नियोगों को कार्य रूप में लाना था, जिससे प्रजा का हित हो और लोग सुखपूर्वक अपनी उन्नति कर सकें।

किन्तु खेद है कि हमें इस उन्नत राजत्व का मानवी इतिहास में बहुत कम दर्शन होता है। अत्याचारी और आतङ्कवादी राजाओं से पीड़ित हो पृथ्वी कहती है—"न ह्यहं कामये नित्यमतिक्रान्तेन रक्षणम्"[1] ॥ ८७ ॥ अर्थात् मैं उस राजा की रक्षा नहीं चाहती जिसने न्याय का अतिक्रमण अथवा उल्लङ्घन किया हो, अर्थात् मैं अत्याचारी राजा की संरक्षता में नहीं रहना चाहती, क्योंकि जो राजा धर्म तथा न्याय का उल्लङ्घन करने वाला है, वह भला प्रजा की कैसे रक्षा करेगा? इसी प्रकार राजधर्म के उल्लङ्घन करनेवाले अथवा अत्याचारी राजा के प्रति मनु भगवान् कहते हैं, "कामात्मा विषमः क्षुद्रो, दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥ दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः। धर्माद्विचलितम् हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २८ ॥" (मनुस्मृति, सातवाँ अध्याय)। अर्थात् जो राजा विषयी, अत्याचारी, क्रोधी (क्रूर) और छली होता है वह स्वयं दण्ड अथवा अधर्म के कारण नष्ट हो जाता है। दण्ड (राजधर्म) विशाल एवं तेजस्वरूप है, अतः दुष्ट, अत्याचारी अथवा अशुद्ध आत्मा से उसका पालन नहीं हो सकता और अन्ततः यही दण्ड, अत्याचारी तथा राजधर्मरहित राजा को पुत्र एवं बन्धु समेत नष्ट कर

---

[1] महाभारत, राजधर्मानुशासनपर्व, अध्याय ४९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देता है। महाभारत के अनुसार अत्याचारी राजा को पागल कुत्ते की भाँति मार डालना चाहिए।[१] "राजा वेन" का उदाहरण उपस्थित करते हुए महाभारत कहता है—"तं प्रजासु विधर्माणं रागद्वेषवशानुगम्। मन्त्रपूतैः कुशैर्जघ्नुऋर्षयोः ब्रह्मवादिनः ॥ ९४ ॥"[२] अर्थात् रागद्वेष वाला होने से वेन राजा प्रजा के धर्म से विचलित हो गया, अर्थात् प्रजा की रक्षा न कर वह उसे सताने लगा। इसलिए अभिमंत्रित कुश से ऋषियों ने उसे मार डाला। अत्याचारी होने के कारण मारे गये राजाओं का भगवान् मनु ने भी उल्लेख किया है—"वेनोविनष्टोऽविनायन्नहुषश्चैव पार्थिवः। सुदासो यवनश्चैव सुमुखोनिमिरेव च ॥"[३] वेन, नहुष, यवनराज, सुदास, सुमुख तथा निमि ये सब अत्याचारी होने के कारण एवं अविनय से राज करने के कारण नष्ट हुए, किन्तु इतना होने पर भी अधिकांश राजा अपने को अत्याचार करने तथा प्रजा को पीड़ित करने से न राक सके; परन्तु अनेक अत्याचारी राजाओं, सम्राटों एवं शासकों के मध्य एक महान् शासक का भी उदय हुआ, जिसका धर्मशासन आज भी भारत तथा विश्व को प्रकाशित कर रहा है। वह यशस्वी धर्मराज था अशोक। उसके धर्मानुशासन की कोमलवाणी आज भी प्राचीन शिला-अवशेषों और शिला-खण्डों में गूँजती हुई यह कहती सुनाई पड़ती है—"नास्ति हि क्रमतर सव्रलोक हितेन"—सब लोगों के हित से बढ़कर अन्य कोई उपादेय कर्म नहीं।

राजधर्म और अशोक—सम्राट् अशोक के अनुशासनों की यदि महाभारत के राजधर्म से तुलना की जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि महा-

---

[१] Mbh, 115, 114, Cambridge History of India; Volume I, Chapter XIX.

[२] महाभारत शांतिपर्व, राजधर्म, अध्याय ५९।

[३] मनुस्मृति ४१, ८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारत में उल्लिखित राजधर्म ने अशोक के शासन में ही व्यावहारिकता प्राप्त की। सम्राट् के शब्द हैं—"सव मुनिषा मी पजा"[१]—सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं। मनु भी कहता है–"स्याच्चाम्नाय परलोके वर्त्तेत पितृवन्नृषु"[२]—'राजा को अपने प्रदेश के मनुष्यों के साथ पिता के सदृश स्नेह का व्यवहार करना चाहिए।' महाभारत का यह नियोग—"प्रिया-प्रिये परि-त्यज समः सर्वेषु जन्तुषु"[३]—सम्राट् के इस सिद्धांत में चरितार्थ होता है–"सवेन हित सुखेन·· इच्छामि" मैं सबका हित और सुख चाहता हूँ। पुनः सम्राट् अशोक के इस अनुशासन को महाभारत के अनुशासन से समीकृत कीजिए—सम्राट् कहते हैं—"इयं धंमेन पालना, धंमेन विधेन, धमंमेन सुखयना धमंमेन गोती ति"[४] और महाभारत कहता है—"यदह्या कुरुते धर्मं प्रंजा धर्मेण पालयन्। दशवर्ष सहस्राणि तस्य भुंक्ते फलं दिवि"—स्पष्ट है कि सम्राट् और महाभारत का अनुशासन एक है, दोनों ही प्रजा की रक्षा, पालन, वृद्धि आदि सब धर्म के द्वारा ही करने का आदेश करते हैं। सम्राट् का राजधर्म कितना विशाल था, यह उनकी वाणी की निर्मलता स्वयं प्रदर्शित करती है—"सर्वभूतानां अछतिं च, सयमं च, समचेरां च, मादवं च"—सर्वप्राणियों की अछति, संयम, समव्यवहार और सुख का अभिलाषी हूँ। सम्राट् का एक और महान् सिद्धांत था—"अपकरेयति छमितवियमते वो देवन प्रियस य शको छमनेय"[५] अर्थात् अपकार करने वाले को भी यदि हो सके तो क्षमा किया जावे। इसी कारण कलिङ्ग के पराक्रमी विजेता सम्राट् प्राणियों के अहित की आशङ्का से उपद्रवी अटवी

---

[१]कलिङ्ग शिलालेख, जौगुडा।

[२]मनुस्मृति ८०, अध्याय ८।

[३]महाभारत, राजमर्धानुशासनपर्व, १०४, ४६।

[४]प्रथम स्तम्भ-लेख।

[५]१३वाँ शिलालेख।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाति को भी केवल क्षमा एवम् धर्म द्वारा ही सुपथ पर लाना चाहते हैं। सम्राट् का सैन्यबल तथा पराक्रम सीज़र से कोई कम न था। सीज़र—"आया, उसने अवलोका, और विजय किया"—किन्तु अशोक ने प्रथम विजय किया और तत्पश्चात् देखा। उनका हृदय युद्ध के जघन्य परिणामों को देखकर दुखित हो चला, वे गौतम की शरण में चले गये और प्रजा के पालन, रक्षण एवं सुख का विधान करते हुए, कलिंग के अमानुषिक कृत्य का प्रायश्चित करने लगे। कलिंग-युद्ध के अनन्तर सम्राट् अपने विशाल राजधर्म का पालन करने में कभी न चूके और नित्य इसी के लिए प्रयत्न करते रहे कि किस तरह "इअ च प सुखयमि परत्र च स्पग्रं अरधेतु ति"—प्राणियों को इहलोक में सुख पहुँचाऊँ, जिससे परलोक में भी वे स्वर्ग प्राप्त कर सकें।

सम्राट् अशोक की राजसत्ता का आधार दैवी अधिकार के सिद्धान्त पर निहित न था। सम्राट् की राजसत्ता सामाजिक समझौते के सिद्धान्त से उद्भूत हुई थी। दैवी अधिकार के अनुसार राजा अपने भले और बुरे कर्मों के लिए प्रजा के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है, क्योंकि ईश्वर ने ही राजा को स्वर्ग से मृत्युलोक में लोगों पर शासन करने के लिए भेजा है, परन्तु सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के अनुसार राजा तभी शासक है, प्रजा से उसे कर लेने का तभी अधिकार है जब वह प्रजा की रक्षा करे। अर्थात् प्रजा और राजा के मध्य एक समझौता-सा है; जिसके अनुसार प्रजा राजा को कर देती है और राजा को इसके प्रतिकार में प्रजा का रक्षण करना पड़ता है। इस सिद्धांत के अनुसार, राजा-प्रजा का ऋणी होता है। सम्राट् अशोक का भी यही सिद्धान्त था। अशोक ने अपने को कभी अधीश्वर के रूप में न लिया, वह हमेशा इस बात का विचार रखता था कि प्रजा के अनुग्रह से ही वह राज्य का अधिकारी है तथा प्रजा के ऊपर उसके शासन करने का तभी तक अधिकार है जब तक कि वह प्रजा को सुख और शान्ति-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दायक एवं न्याय्यपूर्ण शासन प्रदान कर सकता है। इसी हेतु सम्राट् हमेशा इस बात का विचार रखते थे कि उनका प्रमुख कर्त्तव्य दूसरों का, सर्वलोक का तथा प्रजा का हित करना है। सम्राट् स्वयं कहते हैं, "कत्तव्य मते हि मे सव-लोक हितं।" (६वाँ शिलालेख) अर्थात् सब लोगों का हित करना ही मेरा कर्त्तव्य है। सम्राट् को हमेशा इस बात का विचार रहता था कि प्रजा का पूरा भार उन पर है, इसलिए प्रजा के कल्याण के लिए वे जितना भी पराक्रम करें सब न्यून है। वे कहते हैं, "य च किमिच पराक्रम मि अहं किमति भूतानां आन्तमतां येहं इय च नानि (कानि) सुखापयामि च सवगं आराधयंतु," अर्थात् जो कुछ भी मैं पराक्रम करता हूँ वह इसलिए कि मैं सर्वप्राणियों के ऋण से उऋण हो सकूँ, और उन्हें इहलोक तथा परलोक दोनों में सुखी बना सकूँ। स्पष्ट है कि सम्राट् राजपद को किस भाँति प्रजा के उत्तरदायित्वों से आक्रान्त समझते थे। वे जानते थे कि राजा का उत्तरदायित्व प्रजा के प्रति अपार है, क्योंकि प्रजा ने ही उसे इस पद पर आसीन किया है और इसलिए राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह प्रजा के इस ऋण का प्रतिकार करे। संसार में बहुत कम ऐसे राजा हुए होंगे जिन्होंने प्रजा के उत्तरदायित्व का इस भाँति विचार किया हो। सम्राट् अशोक का प्रजा से वही सम्बन्ध था जो एक पिता का अपने पुत्र से होता है। सम्राट् कहा करते थे—"सव मुनीषि मि पजा" सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं और इसी भावना से प्रेरित होकर सम्राट् अपनी प्रजा का स्नेह सहित पालन व रक्षण करते रहे। देखिये—"सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं—जिस प्रकार मैं चाहता हूँ कि मेरे पुत्र इहलोक तथा परलोक, दोनों में पूर्ण सुख उपलब्ध करें, उसी भाँति मेरी अभिलाषा है कि मेरी प्रजा इहलोक और परलोक दोनों का सुख प्राप्त करे।"[1] प्रकट है कि सम्राट् के सामने प्रजा को नित्य दो चिन्ताएँ थीं—प्रथम प्रजा को ऐहिक सुख प्रदान करना और द्वितीय, प्रजा

---

[1] कलिंग-शिलालेख, जौगुडा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को स्वर्ग का सुख उपलब्ध करवाना। कलिंग शिलालेख जौगुडा, लिखता है, "सम्राट् हमारे पिता के सदृश हैं......उसे अपने भाँति ही हमारी (प्रजा की) चिन्ता है—हम उसके बच्चों के समान हैं।" अपने राज-कर्मचारियों को भी सम्राट् ने आदेश दे रखा था कि वे प्रजा को इन बातों को भली प्रकार समझा-बुझा देवें। सम्राट् अपने कर्मचारियों से कहते हैं—"इसी अर्थ के लिए मैं तुम्हें अनुशासन दे रहा हूँ, जिससे कि मैं जीवों के ऋण से उऋण हो सकूँ।" पुनः कलिंग-लेख, धौली कहता है—"नगर व्यवहारिक तथा महामात्र नित्य इस कार्य का उपक्रम करते रहें कि बिना किसी कारण मनुष्यों को बन्धन में न रखा जाय, न उन्हें कष्ट दिया जाय। "सम्राट् के इन कथनों से सर्वशः प्रकट है कि सम्राट् सब तरह से प्रजा के लिए ऐहिक सुख का विधान करने में तन-मन से लगे थे। सम्राट् का इस प्रकार प्रजा के हित उद्योग करने का क्या अभिप्राय था? यह सम्राट् के शब्दों में ही सुनिए—"इस विषय पर मेरा अत्यधिक विचार क्यों है? इसका कारण यह है कि इस कर्त्तव्य के सम्पादन से दो लाभ हैं—अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति और राज-कर्त्तव्य से उऋणता पा जाना।"

कहना न होगा कि सम्राट् का मस्तक प्रजा की हितचिन्ता से इतना आक्रांत रहता था कि वे नित्य इन्हीं बातों को सोचा करते थे और जिस प्रकार प्रजा सुखी रहे वही उपाय हमेशा किया करते थे। ऐहिक सुख के अलावा उन्हें प्रजा को पारलौकिक अथवा स्वर्गिक सुख पहुँचाने की भी चिन्ता रहा करती थी। इस अर्थ जो पराक्रम सम्राट् ने किया वह उनके धर्म-कार्यों में प्रत्यक्ष है। उनके धर्म-प्रचार के फलस्वरूप भारतवर्ष की पावन भूमि पर ही स्वर्ग लहराने लगा। गौण-शिलालेख प्रथम, ब्रह्मगिरी लिखता है—"ढाई साल तक जब मैं उपासक रहा, मैंने अधिक पराक्रम (उद्योग) न किया, किन्तु एक साल से या एक साल से ऊपर हुआ, मैंने सङ्घ की यात्रा की, तब से मैंने अधिक पराक्रम किया। अतः इस समय के अन्दर, जम्बूद्वीप के लोग जो अब तक देवताओं से सम्बन्धित न थे, देवताओं से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्बन्धित हुए (अथवा उनका देवताओं से संबंध स्थापित हुआ)। पराक्रम का यही फल है।"

मैकफ़िल कहते हैं कि सम्राट् के इन प्रयत्नों के फल से लोगों का जीवन अवश्य ही सुखद और सुरम्य हो गया।

वह लिखते हैं—"Asoka must have made life happier for great multitudes of people, not only by the measures he took for their physical comfort, but by teaching them to live useful lives and think noble thoughts."

निस्सन्देह अशोक ने मानवता के लिए अपूर्व पराक्रम किया और हर प्रकार से यह प्रयत्न किया जिससे प्राणियों को सुख सौर शांति उपलब्ध हो सके।

महान् अशोक की स्मृति से भारत और सिंहल की गाथाओं के पन्ने परिपूर्ण हैं, किन्तु इतिहास में बहुत थोड़ा ही उनकी स्मृति का आदर किया गया है। फिर भी अशोक की स्मृति को अङ्कित करनेवाले हमें कुछ शिलालेख अवश्य उपलब्ध हुए हैं—(१) रुद्रदामन के जूनागढ़ लेख (१५० ई०) में "अशोकस्य मौर्यस्य" लिखा है—(Epi. Indica—VII, 43); (२) कन्नौज के सम्राट् गोविन्द चन्द्र की (सन् १११४-५४ ई०) रानी कुमारीदेवी के सारनाथ लेख में—"धर्माशोक नराधिपस्य" लिखा हुआ मिलता है—(Epi. Indica—IX, 321); (३) धम्म-चेती के लेख में "धर्माशोक" लिखा पाया गया है, (I. A. XXIII) (४) बौद्धगया में एक ब्राह्मी लेख (Burmese inscription—1295-1298) प्राप्त हुआ है—इस लेख पर—"जम्बूद्वीप के अधिपति श्री धम्माशोक जिसने ८४,००० (चौरासी हज़ार) चैत्यों को बनवाया—लिखा हुआ मिला है, (Epi Indica—XI, 119)। निस्सन्देह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारत के पुराने इतिहासज्ञों ने यथार्थ ही अशोक को "धर्मराज" घोषित किया है।

संक्षेपतः भारतीय इतिहास में ही नहीं, वरन् संसार के इतिहास में अशोक अद्वितीय हो गये हैं। अशोक मानव-इतिहास गगन के पूर्णेन्दु हैं, जिनकी शुभ्र कांति के सामने असंख्य तारों से टिमटिमाते नृप तथा राजागण स्थिर नहीं रह सकते। फिर भी सम्राट् अशोक इतने विनम्र थे कि उन्होंने कभी अपने लिए 'सम्राट्' शब्द का प्रयोग नहीं किया।

State Museum Library Lucknow

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh